आचार्य रामचंद्र शुक्ल

कविता क्या है?

मनुष्य अपने भावों, विचारों और व्यापारों को दूसरों के भावों, विचारों और व्यापारों के साथ कहीं मिलाता और कहीं लड़ाता हुआ अंत तक चला चलता है और इसी को जीना कहता है। जिस अनंत-रूपात्मक क्षेत्र में यह व्यवसाय चलता रहता है उसका नाम है जगत। जब तक कोई अपनी पृथक सत्ता की भावना को ऊपर किए इस क्षेत्र के नाना रूपों और व्यापारों को अपने योगक्षेम, हानि-लाभ, सुख-दुःख आदि से संबद्ध करके देखता रहता है तब तक उसका हृदय एक प्रकार से बद्ध रहता है। इन रूपों और व्यापारों के सामने जब कभी वह अपनी पृथक सत्ता की धारणा छूटकर -- अपने आपको बिलकुल भूलकर -- विशुद्ध अनुभूति मात्र रह जाता है, तब वह मुक्त-हृदय हो जाता है। जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञानदशा कहलाती है, उसी प्रकार हृदय की यह मुक्तावस्था रसदशा कहलाती है। हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द-विधान करती आई है, उसे कविता कहते हैं। इस साधना को हम भावयोग कहते हैं और कर्मयोग और ज्ञानयोग का समकक्ष मानते हैं।

कविता ही मनुष्य के हृदय को स्वार्थ-संबंधों के संकुचित मंडल से ऊपर उठाकर लोक-सामान्य भाव-भूमि पर ले जाती है, जहाँ जगत की नाना गतियों के मार्मिक स्वरूप का साक्षात्कार और शुद्ध अनुभूतियों का संचार होता है, इस भूमि पर पहुँचे हुए मनुष्य को कुछ काल के लिए अपना पता नहीं रहता। वह अपनी सत्ता को लोक-सत्ता में लीन किए रहता है। उसकी अनुभूति, सबकी अनुभूति होती है या हो सकती है। इस अनुभूति-योग के अभ्यास के हमारे मनोविकार का परिष्कार तथा शेष सृष्टि के साथ हमारे रागात्मक संबंध की रक्षा और निर्वाह होता है। जिस प्रकार जगत अनेक रूपात्मक है उसी प्रकार हमारा हृदय भी अनेक-भावात्मक है। इस अनेक भावों का व्यायाम और परिष्कार तभी समझा जा सकता है जब कि इन सबका प्रकृत सामंजस्य जगत के भिन्न-भिन्न

रूपों, व्यापारों या तथ्यों के साथ हो जाए। इन्हीं भावों के सूत्र से मनुष्य-जाति जगत के साथ तादात्म्य का अनुभव चिरकाल से करती चली आई है। जिन रूपों और व्यापारों से मनुष्य आदिम युगों से ही परिचित है, जिन रूपों और व्यापारों को सामने पाकर वह नरजीवन के आरंभ से ही लुब्ध और क्षुब्ध होता आ रहा है, उनका हमारे भावों के साथ मूल या सीधा संबंध है। अतः काव्य के प्रयोजन के लिए हम उन्हें मूल रूप और मूल व्यापार कह सकते हैं। इस विशाल विश्व के प्रत्यक्ष से अप्रत्यक्ष और गूढ़ से गूढ़ तथ्यों को भावों के विषय या आलंबन बनाने के लिए इन्हीं मूल रूपों में और व्यापारों में परिणत करना पड़ता है। जब तक वे इन मूल मार्मिक रूपों में नहीं लाए जाते तब तक उन पर काव्य दृष्टि नहीं पड़ती।

वन, पर्वत, नदी, नाले, निर्झर, कछार, पटपर, चट्टान, वृक्ष, लता, झाड़, फूस, शाखा, पशु, पक्षी, आकाश, मेघ, नक्षत्र, समुद्र इत्यादि ऐसे ही चिर-सहचर रूप हैं। खेत, ढुर्री, हल, झोपड़े, चौपाए इत्यादि भी कुछ कम पुराने नहीं हैं। इसी प्रकार पानी का बहना, सूखे पत्तों का झड़ना, बिजली का चमकना, घटा का घिरना, नदी का उमड़ना, मेह का बरसना, कुहरे का छाना, डर से भागना, लोभ से लपकना, छीनना, झपटना, नदी या दलदल से बाँह पकड़कर निकालना, हाथ से खिलाना, आग में झोंकना, गला काटना ऐसे व्यापारों का भी मनुष्य-जाति के भावों के साथ अत्यंत प्राचीन साहचर्य है। ऐसे आदि रूपों और व्यापारों में वंशानुगत वासना की दीर्घ-परंपरा के प्रभाव से, भावों के उद्‌बोधन की गहरी शक्ति संचित है; अतः इनके द्वारा जैसा रस-परिपाक संभव है वैसा कल-कारखाने, गोदाम, स्टेशन, इंजन, हवाई जहाज ऐसी वस्तुओं तथा अनाथालय के लिए चेक काटना, सर्वस्वहरण के लिए जाली दस्तावेज बनाना, मोटर की चरखी घुमाना या इंजन में कोयला झोंकना आदि व्यापारों द्वारा नहीं।

सभ्यता के आवरण और कविता

सभ्यता की वृद्धि के साथ-साथ ज्यों-ज्यों मनुष्यों के व्यापार बहुरूपी और जटिल होते गए त्यों-त्यों उसके मूल रूप बहुत कुछ आच्छन्न होते गए। भावों के आदिम और सीधे लक्ष्यों के अतिरिक्त और-और लक्ष्यों की स्थापना होती गई; वासनाजन्य मूल व्यापारों के सिवाय बुद्धि द्वारा निश्चित व्यापारों का विधान बढ़ता गया। इस प्रकार बहुत से ऐसे व्यापारों से मनुष्य घिरता गया जिनके साथ उसके भावों का सीधा लगाव नहीं। जैसे आदि में भय का लक्ष्य अपने शरीर और अपनी संतति ही की रक्षा तक था, पर पीछे गाय, बैल, अन्न आदि की रक्षा आवश्यक हुई, यहाँ तक कि होते-होते धन, मान, अधिकार, प्रभुत्व इत्यादि अनेक बातों की रक्षा की चिंता ने घर किया और रक्षा के उपाय भी वासना-जन्य प्रवृत्ति से भिन्न प्रकार के होने लगे। इसी प्रकार क्रोध, घृणा, लोभ अन्य भावों के विषय

भी अपने मूल रूपों से भिन्न रूप धारण करने लगे। कुछ भावों के विषय तो अमूर्त्त तक होने लगे, जैसे कीर्ति की लालसा। ऐसे भावों को ही बौद्धदर्शन में 'अरूपराग' कहते हैं।

भावों के विषयों और उनके द्वारा प्रेरित व्यापारों में जटिलता आने पर भी उनका संबंध मूल विषयों और मूल व्यापारों से भीतर-भीतर बना है और बराबर बना रहेगा। किसी का कुटिल भाई उसे संपत्ति से एकदम वंचित रखने के लिए वकीलों की सलाह से एक नया दस्तावेज तैयार करता है। इसकी खबर पाकर वह क्रोध से नाच उठता है। प्रत्यक्ष व्यावहारिक दृष्टि से तो उसके क्रोध का विषय है वह दस्तावेज या कागज का टुकड़ा। पर उस कागज के टुकड़े के भीतर वह देखता है कि उसे और उसकी संतति को अन्न-वस्त्र न मिलेगा। उसके क्रोध का प्रकृत विषय न तो वह कागज का टुकड़ा है और न उस पर लिखे हुए काले-काले अक्षर। ये तो सभ्यता के आवरण मात्र हैं। अतः उसके क्रोध में और कुत्ते के क्रोध में जिसके सामने का भोजन कोई दूसरा कुत्ता छीन रहा है, काव्य दृष्टि से कोई भेद नहीं है -- भेद है केवल विषय के थोड़ा रूप बदलकर आने का। इसी रूप बदलने का नाम है सभ्यता। इस रूप बदलने से होता यह है कि क्रोध आदि को भी अपना रूप बदलना पड़ता है, वह भी कुछ सभ्यता के साथ अच्छे कपड़े-लत्ते पहनकर समाज में आता है जिससे मार-पीट, छीन-खसोट आदि भद्दे समझे जाने वाले व्यापारों का कुछ निवारण होता है।

पर यह प्रच्छन्न रूप वैसा मर्मस्पर्शी नहीं हो सकता। इसी से प्रच्छन्नता का उद्‌घाटन कवि-कर्म का एक मुख्य अंग है। ज्यों-ज्यों सभ्यता बढ़ती जाएगी त्यों-त्यों कवियों के लिए यह काम बढ़ता जाएगा। मनुष्य के हृदय की वृत्तियों से सीधा संबंध रखने वाले रूपों और व्यापारों को प्रत्यक्ष करने के लिए उसे बहुत से षदों को हटाना पड़ेगा। इससे यह स्पष्ट है कि ज्यों-ज्यों हमारी वृत्तियों पर सभ्यता के नए-नए आवरण चढ़ते जाएँगे त्यों-त्यों एक ओर तो कविता की आवश्यकता बढ़ती जाएगी, दूसरी ओर कवि कर्म कठिन होता जाएगा। ऊपर जिस क्रुद्ध व्यक्ति का उदाहरण दिया गया है, वह यदि क्रोध से छुट्टी पाकर अपने भाई के मन में दया का संचार करना चाहेगा तो क्षोभ के साथ उससे कहेगा, ''भाई! तुम यह सब इसीलिए न कर रहे हो कि पक्की हवेली में बैठकर हलवा-पूरी खाओ और मैं बैठा सूखे चने चबाऊँ; तुम्हारे लड़के दोपहर को भी दुशाले ओढ़कर निकलें और मेरे बच्चे रात को भी ठंड से काँपते रहें।'' यह हुआ प्राकृत रूप का प्रत्यक्षीकरण। इसमें सभ्यता के बहुत से आवरणों को हटाकर वे मूल गोचर रूप सामने रखे गए हैं जिनसे हमारे भावों का सीधा लगाव है और जो इस कारण भावों को उत्तेजित करने में अधिक समर्थ हैं। कोई बात जब इस रूप में आएगी तभी उसे काव्य के उपयुक्त रूप प्राप्त होगा। ''तुमने हमें नुकसान पहुँचाने के लिए जाली दस्तावेज बनाया'' इस

वाक्य में रसात्मकता नहीं। इसी बात को ध्यान में रखकर ध्वनिकार ने कहा है -- ''नहिं कवेरितिवृत्तमात्रनिर्वाहिणात्मपदलाभः।''

देश की वर्तमान दशा के वर्णन में यदि हम केवल इस प्रकार के वाक्य कहते जाएँ कि ''हम मूर्ख, बलहीन और आलसी हो गए हैं, हमारा धन विदेश चला जाता है, रुपए का डेढ़ पाव घी बिकता है; स्त्री-शिक्षा का अभाव है'', तो ये छंदोबद्ध होकर भी काव्य पद के अधिकारी होंगे। सारांश यह है कि काव्य के लिए अनेक स्थलों पर हमें भावों के विषयों के मूल और आदिम रूपों तक जाना होगा जो मूर्त और गोचर होंगे। जब तक भावों से सीधा और पुराना लगाव रखने वाले मूर्त और गोचर रूप न मिलेंगे तब तक काव्य का वास्तविक ढाँचा खड़ा न हो सकेगा। भावों के अमूर्त विषयों की तह में भी मूर्त और गोचर रूप छिपे मिलेंगे, जैसे यशोलिप्सा में कुछ दूर भीतर चलकर उस आनंद के उपभोग की प्रवृत्ति छिपी हुई जाएगी जो अपनी तारीफ कान में पड़ने से हुआ करता है।

काव्य में अर्थग्रहण से काम नहीं चलता; बिंबग्रहण अपेक्षित होता है। यह बिंबग्रहण निर्दिष्ट, गोचर और मूर्त्त विषय का ही हो सकता है। 'रुपए का डेढ़ पाव घी मिलता है' इस कथन से कल्पना में यदि कोई बिंब या मूर्ति उपस्थित होगी तो वह तराजू लिए हुए बनिए की होगी जिससे हमारे करुण भाव का कोई लगाव न होगा। बहुत कम लोगों को घी खाने को मिलता है, अधिकतर लोग रूखी-सूखी खाकर रहते हैं, इस तथ्य तक हम अर्थग्रहण परंपरा द्वारा इस चक्कर के साथ पहुँचते हैं -- एक रुपए का बहुत कम घी मिलता है, इससे रुपए वाले ही घी खा सकते हैं, पर रुपए वाले बहुत कम हैं, इससे अधिकांश जनता घी नहीं खा सकती, रूखी-सूखी, खाकर रहती है।

कविता और सृष्टि-प्रसार

हृदय पर नित्य प्रभाव रखने वाले रूपों और व्यापारों को भावना के सामने लाकर कविता बाह्य प्रकृति के साथ मनुष्य की अंतःप्रकृति का सामंजस्य घटित करती हुई उसको भावात्मक सत्ता के प्रकार का प्रसार करती है। यदि अपने भावों को समेट कर मनुष्य अपने हृदय को शेष सृष्टि से किनारे कर ले या स्वार्थ की पशुवृत्ति में ही लिप्त रखे तो उसकी मनुष्यता कहाँ रहेगी? यदि वह लहलहाते हुए खेतों और जंगलों, हरी घास के बीच घूम-घूम कर बहते हुए नालों, काली चट्टानों पर चाँदी की तरह ढलते हुए झरनों, मंजरियों से लदी हुई अमराइयों और पटपर के बीच खड़ी झाड़ियों को देख क्षण भर लीन हुआ, यदि कलख करते हुए पत्तियों के आनंदोत्सव में उसने योग न दिया, यदि खिले हुए फूलों को देख वह न खिला, यदि सुंदर रूप सामने पाकर अपनी भीतरी कुरूपता का उसने विसर्जन न किया, यदि दीन-दुखी का आर्त्तनाद सुन वह न पसीजा, यदि

अनाथों और अबलाओं पर अत्याचार होते देख क्रोध से न तिलमिलाया, यदि किसी बेढ़व और विनोदपूर्ण दृश्य या उक्ति पर न हँसा तो उसके जीवन में रह क्या गया? इस विश्वकाव्य की रसधारा में जो थोड़ी देर के लिए निमग्न न हुआ उसके जीवन को मरुस्थल की यात्रा ही समझना चाहिए।

काव्यदृष्टि कहीं तो 1. नरक्षेत्र के भीतर रहती है, 2. कहीं मनुष्येतर बाह्य सृष्टि के और 3. कहीं समस्त चराचर के।

1. पहले नरक्षेत्र को लेते हैं। संसार में अधिकतर कविता इसी क्षेत्र के भीतर हुई है। नरत्व की बाह्य प्रकृति को अंतःप्रकृति के नाना संबंधों और पारस्परिक विधानों का संकलन या उद्‌भावना की काव्यों में -- मुक्तक हों या प्रबंध -- अधिकतर पाई जाती है।

प्राचीन महाकाव्यों और खंडकाव्यों के मार्ग में, यद्यपि शेष दो क्षेत्र भी बीच-बीच में पड़ जाते हैं पर मुख्य यात्रा नरक्षेत्र के भीतर ही होती है। वाल्मीकि रामायण में यद्यपि बीच-बीच में ऐसे विशद वर्णन बहुत कुछ मिलते हैं, जिनमें कवि मुग्ध दृष्टि प्रधानतः मनुष्येतर बाह्य प्रकृति के रूप-जाल में फँसी पाई जाती है, पर उसका प्रधान विषय लोकचरित ही है। और प्रबंध-काव्यों के संबंध में भी यही बात कही जा सकती है। रहे मुक्तक या फुटकल पद्य, वे भी अधिकतर मनुष्य की ही भीतरी-बाहरी वृत्तियों से संबंध रखते हैं। साहित्य-शास्त्र की रस निरूपण-पद्धति में आलंबनों के बीच बाह्य प्रकृति को स्थान ही नहीं मिला है। यह उद्दीपन मात्र मानी गई है। शृंगार के उद्दीपन रूप में जो प्राकृतिक दृश्य लाए जाते हैं, उनके प्रति रतिभाव नहीं होता, नायक या नायिका के प्रति होता है। वे दूसरे के प्रति उत्पन्न प्रीति को उद्दीप्त करने वाले होते हैं, स्वयं प्रीति के पात्र या आलंबन नहीं होते। संयोग में वे सुख बढ़ाते हैं और वियोग में काटने दौड़ते हैं। जिस भावोद्रेक और जिस ब्यौरे के साथ नायक या नायिका के रूप का वर्णन किया जाता है, उस भावोद्रेक और उस ब्यौरे के साथ उसका नहीं। कहीं-कहीं तो उसके नाम गिनाकर ही काम चला लिया जाता है।

मनुष्यों के रूप, व्यापार या मनोवृत्तियों के सादृश्य, साधर्म्य की दृष्टि से जो प्राकृतिक वस्तु-व्यापार आदि लाए जाते हैं उनका स्थान भी गौण ही समझना चाहिए। वे नर-संबंधी भावना को ही तीव्र करने के लिए रखे जाते हैं।

2. मनुष्येतर बाह्य प्रकृति का आलंबन के रूप में ग्रहण हमारे यहाँ संस्कृत के प्राचीन प्रबंध-काव्यों के बीच-बीच में ही पाया जाता है। वहाँ प्रकृति का ग्रहण आलंबन के रूप में हुआ है, इसका पता वर्णन की प्रणाली से लग जाता है। पहले कह आए हैं कि किसी वर्णन में आई हुई वस्तुओं का मन में ग्रहण दो प्रकार का हो सकता

है -- बिंबग्रहण और अर्थग्रहण। किसी ने कहा 'कमल'! अब इस 'कमल' पद का ग्रहण कोई इस प्रकार भी कर सकता है कि ललाई लिए हुए सफेद पंखुड़ियों और झुके हुए नाल आदि के सहित एक फूल की मूर्ति मन में थोड़ी देर के लिए आ जाए या कुछ देर बनी रहे; और इस प्रकार भी कह सकता है कि कोई चित्र उपस्थित न हो; केवल पद का अर्थ मात्र समझकर काम चला लिया जाए। काव्य के दृश्य-चित्रण में पहले प्रकार का संकेत-ग्रहण अपेक्षित होता है और व्यवहार तथा शास्त्र चर्चा में दूसरे प्रकार का। बिंबग्रहण वहीं होता है जहाँ कवि अपने सूक्ष्म निरीक्षण द्वारा वस्तुओं के अंग-प्रत्यंग, वर्ण, आकृति तथा उनके आसपास की परिस्थिति का परस्पर संश्लिष्ट विवरण देता है। बिना अनुराग के ऐसे सूक्ष्म ब्यौरों पर न दृष्टि ही जा सकती है, न रम ही सकती है। अतः जहाँ ऐसा पूर्ण और संश्लिष्ट चित्रण मिले, वहाँ समझना चाहिए कि कवि ने बाह्य प्रकृति को आलंबन के रूप में ग्रहण किया है। उदाहरण के लिए वाल्मीकि का यह हेमंत वर्णन लीजिए :

अवश्याय-निपातेन किञ्चित्प्रक्लिन्नशाद्वला।
वनानां शोभते भूमिर्निविष्टतरुणातपा।।
स्पृशंतु विपुलं शीतमुदकं द्विरदः सुखम्।
अत्यंततृषितो वन्यः प्रतिसंहरते करम्।।
अवश्याय-तमोनद्धा नीहार-तमसावृताः।
प्रसुप्ता इव लक्ष्यन्ते विपुष्पा वनराजयः।।
वाष्पसंछन्नसलिला रुतविज्ञेयसारसाः।
हिमार्द्र बालकैस्तीरैः सरितो भांति सांप्रतम्।।
जरा-जर्जरितैः पद्यैः शीर्णकेशरकर्णिकैः।
नालशेषैर्हिमध्वस्तैर्न भांति कमलाकरः।।

(वन की भूमि जिसकी हरी-हरी घास ओस गिरने से कुछ-कुछ नीली हो गई है, तरुण धूप के पड़ने से कैसी शोभा दे रही है। अत्यंत प्यासा जंगली हाथी बहुत शीतल जल के स्पर्श से अपनी सूँड़ सिकोड़ लेता है। बिना फूल के वन-समूह कोहरे के अंधकार में सोए से जान पड़ते हैं। नदियाँ, जिनका जल कुहरे से ढँका हुआ है और जिनमें सारस पक्षियों का पता केवल उनके शब्द से लगता है, हिम से आई बालू के तटों से ही पहचानी जाती है। कमल, जिनके पत्ते जीर्ण होकर झड़ गए हैं, जिनकी केसर-कणिकाएँ टूट-फूटकर छितरा गई हैं, पाले से ध्वस्त होकर नाल मात्र खड़े हैं।)

मनुष्येतर बाह्य प्रकृति का इसी रूप में ग्रहण कुमारसंभव के आरंभ तथा रघुवंश के बीच-बीच में मिलता है। नाटक यद्यपि मनुष्य की ही भीतरी-बाहरी प्रवृत्तियों के प्रदर्शन

के लिए लिखे जाते हैं और भवभूति अपने मार्मिक और तीव्र अंतर्वृत्तिय विधान के लिए ही प्रसिद्ध हैं, पर उनके 'उत्तर-रामचरित' में कहीं-कहीं बाह्य प्रकृति के बहुत ही सांग और संश्लिष्ट खंड-चित्र पाए जाते हैं। पर मनुष्येतर बाह्य प्रकृति को जो प्रधानता मेघदूत में मिली है, वह संस्कृत के और किसी काव्य में नहीं। 'पूर्वमेघ' तो यहाँ से वहाँ तक प्रकृति की ही एक मनोहर झाँकी या भारत भूमि के स्वरूप का ही मधुर ध्यान है। जो इस स्वरूप के ध्यान में अपने को भूलकर कभी-कभी मग्न हुआ करता है वह घूम-घूमकर वक्तृता दे या न दे, चंदा इकट्ठा करे या न करे, देशवासियों की आमदनी का औसत निकाले या न निकाले, सच्चा देश-प्रेमी है। मेघदूत न कल्पना की क्रीड़ा है; न कला की विचित्रता। वह है प्राचीन भारत के सबसे भावुक हृदय की अपनी प्यारी भूमि की रूप-माधुरी पर सीधी-सादी प्रेम-दृष्टि।

अनंत रूपों में, प्रकृति हमारे सामने आती है -- कहीं मधुर, सुसज्जित या सुंदर रूप में, कहीं रूखे बेडौल या कर्कश रूप में, कहीं भव्य, विशाल या विचित्र रूप में, कहीं उग्र, कराल या भयंकर रूप में। सच्चे कवि का हृदय उसके इन सब रूपों में लीन होता है, क्योंकि उसके अनुराग का कारण अपना खास सुख-भोग नहीं, बल्कि चिरसाहचर्य द्वारा प्रतिष्ठित वासना है। जो केवल प्रफुल्ल-प्रसून प्रसार के सौरभ-संचार, मकरंद-लोलुप, मधुप-गुंजार, कोकिल-कूजित निकुंज और शीतल सुख-स्पर्श समीर इत्यादि की चर्चा किया करते हैं; वे विषयी या भोग लिप्सु हैं। इसी प्रकार जो केवल मुक्ताभास हिमबिंदु मंडित मरकताभ शद्वल-जल, अत्यंत विशाल गिरिशिखर से गिरते हुए जलप्रपात के गंभीर गर्त से उठी हुई सीकर-नीहारिका के बीच विविध वर्णस्फुरण की विशालता, भव्यता और विचित्रता में ही अपने हृदय के लिए कुछ पाते हैं, वे तमाशबीन हैं, सच्चे भावुक या सहृदय नहीं। प्रकृति के साधारण-असाधारण सब प्रकार के रूपों में रमाने वाले वर्णन हमें वाल्मीकि, कालिदास, भवभूति आदि संस्कृत के प्राचीन कवियों में मिलते हैं। पिछले खेवे के कवियों में मुक्तक-रचना में तो अधिकतर प्राकृतिक वस्तुओं का अलग-अलग उल्लेख मात्र उद्दीपन की दृष्टि से किया गया है। प्रबंध-रचना में जो थोड़ा-बहुत संश्लिष्ट चित्रण किया है वह प्रकृति की विशेष रूप-विभूति को लेकर ही। अंग्रेजी के पिछले कवियों में से वर्ड्सवर्थ की दृष्टि सामान्य में चिरपरिचित, सीधे-सादे प्रशांत और मधुर दृश्यों की ओर रहती थी, पर शैली की असाधारण-भव्य और विशाल की ओर।

साहचर्य-संभूत रस के प्रभाव से सामान्य सीधे-सादे चिरपरिचित दृश्यों में कितने माधुर्य की अनुभूति होती है! पुराने कवि कालिदास ने वर्षा के प्रथम जल से सिक्त तुरंत की जोती हुई धरती तथा उसके पास बिखरी हुई भोली चितवन वाली ग्रामवनिताओं में साफ-सुथरे ग्रामचैत्यों और कला-कोविद ग्रामवृद्धों में इसी प्रकार के माधुर्य का अनुभव

किया था। आज भी इसका अनुभव लोग करते हैं। बाल्य या कौमार अवस्था में जिस पेड़ के नीचे हम अपनी मंडली के साथ बैठा करते थे; चिड़चिड़ी बुढ़िया की जिस झोपड़ी के पास से होकर हम आते-जाते थे, उसकी मधुर स्मृति हमारी भावना को बराबर लीन किया करती है। बुढ्ढी की झोपड़ी में न कोई चमक-दमक थी, न कला-कौशल का वैचित्र्य। मिट्टी की दीवारों पर फूस का छप्पर पड़ा था, नींव के किनारे चढ़ी हुई मिट्टी पर सत्यानाशी के नीलाभ हरित कँटीले, कटावदार पौधे खड़े थे जिनके पीले फूलों के गोल संपुटों के बीच लाल-लाल बिंदियाँ झलकती थीं।

सारांश यह है कि केवल असाधारणत्व की रुचि सच्ची सहृदयता की पहचान नहीं है। शोभा और सौंदर्य की भावना के साथ जिसमें मनुष्य-जाति के उस समय के पुराने सहचरों की वंश-परंपरागत स्मृति वासना के रूप में बनी हुई है, जब वह प्रकृति से खुले क्षेत्र में विचरती थी, वे ही पूरे सहृदय भावुक कहे जा सकते हैं। वन्य और ग्रामीण दोनों प्रकार के जीवन प्राचीन हैं; दोनों पेड़-पौधों, पशु-पक्षियों, नदी-नालों और पर्वत-मैदानों के बीच व्यतीत होते हैं, अतः प्रकृति के अधिक रूपों के साथ संबंध रखते हैं। हम पेड़-पौधों और पशु-पक्षियों से संबंध तोड़कर बड़े-बड़े नगरों में आ बसे; पर उनके बिना रहा नहीं जाता। हम उन्हें हर वक्त पास न रखकर एक घेरे में बंद करते हैं और कभी-कभी मन बहलाने के लिए उनके पास चले जाते हैं। हमारा साथ उनसे भी छोड़ते नहीं बनता। कबूतर हमारे घर के छज्जों के नीचे सुख से सोते हैं, गौरे हमारे घर के भीतर आ बैठते हैं; बिल्ली अपना हिस्सा या तो म्याँव-म्याँव करते माँगती है या चोरी से ले जाती है, कुत्ते घर की रखवाली करते हैं, और वासुदेव जी कभी-कभी दीवार फोड़कर निकल पड़ते हैं। बरसात के दिनों में जब सुर्खी-चूने की कड़ाई की परवाह न कर हरी-हरी घास पुरानी छत पर निकलने लगती है, तब हमें उसके प्रेम का अनुभव होता है। वह मानों हमें ढूँढ़ती हुई आती है और कहती है कि ''तुम हमसे क्यों दूर-दूर भागे फिरते हो?''

जो केवल अपने विशाल या शरीर-सुख की सामग्री ही प्रकृति में ढूँढ़ा करते हैं उनमें उस रागात्मक 'सत्व' की कमी है जो व्यक्त सत्ता मान के साथ एकता की अनुभूति में लीन करके हृदय के आभास व्यापकत्व का देता है। संपूर्ण सत्ताएँ एक ही परम सत्ता और संपूर्ण भाव एक ही परम भाव के अंतर्भूत हैं। अतः बुद्धि की क्रिया से हमारा ज्ञान जिस अद्वैत भूमि पर पहुँचता है उसी भूमि तक हमारा भावात्मक हृदय भी इस सत्त्व-रस के प्रभाव से पहुँचता है। इस प्रकार अंत में जाकर दोनों पक्षों की वृत्तियों का समन्वय हो जाता है। समन्वय के बिना मनुष्यत्व की साधना पूरी नहीं हो सकती।

मार्मिक तथ्य

मनुष्येतर प्रकृति के बीच के रूप-व्यापार कुछ भीतरी भावों या तथ्यों की भी व्यंजना

करते हैं। पशु-पक्षियों के सुख, हर्ष-विषाद, राग-द्वेष, तोष-क्षोभ, कृपा-क्रोध इत्यादि भावों की व्यंजना जो उनकी आकृति, चेष्टा, शब्द आदि से होती है, वह भी प्रायः बहुत प्रत्यक्ष होती है। कवियों को उन पर अपने भावों का आरोप करने की आवश्यकता प्रायः नहीं होती। तथ्यों का आरोप या संभावना अलबत वे कभी-कभी किया करते हैं। पर इस प्रकार का आरोप कभी-कभी कथन को, 'काव्य' के क्षेत्र से घसीटकर 'सूक्ति' या 'सुभाषित' के क्षेत्र में डाल देता है। जैसे, 'कौवे सवेरा होते ही क्यों चिल्लाने लगते हैं? वे समझते हैं कि सूर्य अंधकार का नाश करता बड़ा आ रहा है कहीं धोखे में हमारा भी नाश न कर दे।' यह सूक्ति मात्र है, काव्य नहीं। जहाँ तथ्य केवल आरोपित या संभावित रहते हैं वहाँ वे अलंकार रूप में ही रहते हैं। पर जिन तथ्यों का आभाास हमें पशु-पक्षियों के रूप, व्यापार या परिस्थिति में ही मिलता है वे हमारे भावों के विषय वास्तव में हो सकते हैं। मनुष्य सारी पृथ्वी छेंकता चला जा रहा है। जंगल कट-कटकर खेत, गाँव और नगर बनते चले जा रहे हैं। पशु-पक्षियों का भाग छिनता चला जा रहा है। उनके सब ठिकानों पर हमारा निष्ठुर अधिकार होता चला जा रहा है। वे कहाँ जाएँ? कुछ तो हमारी गुलामी करते हैं। कुछ हमारी बस्ती के भीतर या आसपास रहते हैं और छीन-झपटकर अपना हक ले जाते हैं। हम उनके साथ बराबर ऐसा ही व्यवहार करते हैं, मानो उन्हें जीने का कोई अधिकार ही नहीं है। इन तथ्यों का सच्चा आभास हमें उनकी परिस्थिति से मिलता है। अतः उनमें से किसी की चेष्टा-विशेष में इन तथ्यों की मार्मिक व्यंजना की प्रतीति काव्यानुभूति के अंतर्गत होगी। यदि कोई बंदर हमारे सामने से कोई खाने-पीने की चीज उठा ले जाए और किसी पेड़ के ऊपर बैठा-बैठा हमें घुड़की दे, तो काव्य दृष्टि से हमें ऐसा महसूस हो सकता है कि :

देते हैं घुड़की यह अर्थ-ओज-भरी हरि
"जीने का हमारा अधिकार क्या न गया रह?
पर प्रतिषेध के प्रसार बीच तेरे नर!
क्रीड़ामय जीवन-उपाय है हमारा यह।
दानी जो हमारे रहे, वे भी पास तेरे हुए,
उनकी उदारता भी सकता नहीं तू सह।
फूली फली उमंग उपकार की तू
छेंकता है जाता, हम जाएँ कहाँ, तू ही कह!"

पेड़-पौधे, लता-गुल्म आदि भी इसी प्रकार भावों या तथ्यों की व्यंजना करते हैं जो कभी-कभी गूढ़ होती है। सामान्य दृष्टि भी वर्षा की झड़ी के पीछे उनके हर्ष और उल्लास को, ग्रीष्म के प्रचंड आतप में उनकी शिथिलता और म्लानता को; शिशिर के

कठोर शासन में उनकी दीनता को, मधुकाल में उनेक रसोन्माद, उमंग और हास को, प्रबल वात के झकोरों में उनकी विकलता को; प्रकाश के प्रति उनकी ललक को देख सकती है। इसी प्रकार भावुकों के समक्ष वे अपनी रूपचेष्टा आदि द्वारा कुछ मार्मिक तथ्यों की भी व्यंजना करते हैं। हमारे यहाँ के पुराने अन्योक्तिकारों ने कहीं-कहीं इस व्यंजना की ओर ध्यान दिया है। कहीं-कहीं का मतलब यह है कि बहुत जगह उन्होंने अपनी भावना का आरोप किया है, उनकी रूपचेष्टा या परिस्थिति से तथ्य-चयन नहीं। पर उनकी विशेष-विशेष परिस्थितियों की ओर भावुकता से ध्यान देने पर बहुत से मार्मिक तथ्य सामने आते हैं। कोसी तक फैले, कड़ी धूप में तपते मैदान के बीच एक अकेला वट-वृक्ष दूर तक छाया फैलाए खड़ा है। हवा के झोकों से उसकी टहनियाँ और पत्ते हिल-हिल कर मानों बुला रहे हैं। हम धूप से व्याकुल होकर उसकी ओर बढ़ते हैं। देखते हैं, उसकी जड़ के पास एक गाय बैठी आँखें मूँदे जुगाली कर रही है। हम लोग भी उसी के पास आराम से जा बैठते हैं। इतने में एक कुत्ता जीभ बाहर निकाले हाँफता हुआ उस छाया के नीचे आता है और हममें से कोई उठकर उसे छड़ी लेकर भगाने लगता है। इस परिस्थिति को देख हममें से कोई भावुक पुरुष उस पेड़ को इस प्रकार संबोधन करे तो कर सकता है :

काया की न न छाया यह केवल तुम्हारी, द्रुम।
अंतस् के मर्म का प्रकाश यह छाया है।
भरी है इसी में वह स्वर्ग-स्वप्न-धरा अभी
जिसमें न पूरा-पूरा नर बह पाया है।
शांतिसार शीतल प्रसार यह छाया धन्य!
प्रीति सा पसारे इसे कैसी हरी काया है।
हे नर! तू प्यारा इस तरु का स्वरूप देख,
देख फिर घोर रूप तूने जो कमाया है।।

ऊपर नरक्षेत्र और मनुष्येतर सजीव सृष्टि के क्षेत्र का उल्लेख हुआ है। काव्य दृष्टि कभी तो इन पर अलग-अलग रहती है कभी समष्टि-रूप में समस्त जीवन-क्षेत्र पर। कहने की आवश्यकता नहीं कि विच्छिन्न दृष्टि की अपेक्षा समष्टि-दृष्टि में अधिक व्यापकता और गंभीरता रहती है। काव्य का अनुशीलन करने वाले मात्र जानते हैं कि काव्य-दृष्टि सजीव सृष्टि तक ही बद्ध नहीं रहती। वह प्रकृति के उस भाग की ओर भी जाती है जो निर्जीव या जड़ कहलाता है। भूमि, पर्वत, चट्टान, नाले, टीले, मैदान, समुद्र, आकाश, मेघ, नक्षत्र इत्यादि की रूप-गति आदि से भी हम सौंदर्य, माधुर्य, भीष्णता, भव्यता, विचित्रता, उदासी, उदारता, संपन्नता इत्यादि की भावना प्राप्त करते हैं। कड़कड़ाती धूप के पीछे

उमड़ी हुई घटा की श्यामल स्निग्धता और शीतलता का अनुभव मनुष्य क्या पशु-पक्षी, पेड़-पौधे तक करते हैं। अपने इधर-उधर हरी-भरी लहलहाती प्रफुल्लता का विधान करती हुई नदी की अविराम जीवन-धारा में हम द्रवीभूत औदार्य का दर्शन करते हैं। पर्वत की ऊँची चोटियों में विशालता और भव्यता का, वात-विलोड़ित जल-प्रसार में क्षोभ और आकुलता का, विकीर्णघन-खंड-मंडित, रस्मि-रंजित सांध्य-दिगंचल में चमत्कारपूर्ण सौंदर्य का, ताप से तिलमिलाती धरा पर धूल झोंकते हुए अंधड़ के प्रचंड झोंकों में उग्रता और उच्छृंखलता का, बिजली की कँपाने वाली कड़क और ज्वालामुखी के ज्वलंत स्फोट में भीष्णता का आभास मिलता है। ये सब विश्वरूपी महाकाव्य की भावनाएँ या कल्पनाएँ हैं। स्वार्थ-भूमि से परे पहुँचे हुए सच्चे अनुभूति-योगी या कवि इनके दृष्टा मात्र होते हैं।

जड़ जगत के भीतर पाए जाने वाले रूप, व्यापार या परिस्थितियाँ अपने मार्मिक तथ्यों की भी व्यंजना करती हैं। जीवन में तथ्यों के साथ उनके साम्य का बहुत अच्छा मार्मिक उद्‌घाटन कहीं-कहीं हमारे यहाँ के अन्योक्तिकारों ने किया है। जैसे, इधर नरक्षेत्र के बीच देखते हैं तो सुख-समृद्धि और संपन्नता की दशा में दिन-रात घेरे रहने वाले, स्तुति का खासा कोलाहल खड़ा करने वाले, विपत्ति और दुर्दिन में पास नहीं फटकते; उधर जड़ जगत के भीतर देखते हैं तो भरे हुए सरोवर के किनारे जो पक्षी बराबर कलरव करते रहते हैं, वे उसके सूखने पर अपना-अपना रास्ता लेते हैं :

कोलाहल सुनि खगन के, सरवर! जनि अनुरागि।
ये सब स्वारथ के सखा, दुर्दिन दैहैं त्यागि।।
दुर्दिन दैहैं त्यागि, तोय तेरो जब जै है।
दूरहि ते तजि आस, पास कोऊ नहिं ऐहै।।

इसी प्रकार सूक्ष्म और मार्मिक दृष्टि वालों को और गूढ़ व्यंजना भी मिल सकती है। अपने इधर-उधर हरियाली और प्रफुल्लता का विधान करने के लिए यह आवश्यक है कि नदी कुछ काल तक एक बँधी हुई मर्यादा के भीतर बहती रहे। वर्षा की उमड़ी हुई उच्छृंखलता में पोषित हरियाली और प्रफुल्लता का ध्वंस सामने आता है। पर यह उच्छृंखलता और ध्वंस अल्पकालिक होता है और इसके द्वारा आगे के लिए पोषण की नई शक्ति का संचय होता है। उच्छृंखलता नदी की स्थाई वृत्ति नहीं है। नदी के इस स्वरूप के भीतर सूक्ष्म मार्मिक दृष्टि लोकगति के स्वरूप का साक्षात्कार करती है। लोकजीवन की धरा जब एक बँधे मार्ग पर कुछ काल तक अबाध गति से चलने पाती है तभी सभ्यता के किसी रूप का पूर्ण विकास और उसके भीतर सुख-शांति की प्रतिष्ठा होती है। जब जीवन-प्रवाह क्षीण और शाक्त पड़ने लगता है और गहरी विषमता आने लगती है। तब नई शक्ति का प्रवाह फूट पड़ता है जिसमें वेग की उच्छृंखलता के सामने बहुत

कुछ ध्वंस भी होता है। पर यह उच्छृंखल वेग जीवन का या जगत का नित्य स्वरूप नहीं है।

3. पहले कहा जा चुका है कि नरक्षेत्र के भीतर बद्ध रहने वाली काव्य-दृष्टि की अपेक्षा संपूर्ण जीवन-क्षेत्र और समस्त चराचर के क्षेत्र से मार्मिक तथ्यों का चयन करने वाली दृष्टि उत्तरोत्तर अधिक व्यापक और गंभीर कही जाएगी। जब कभी हमारी भावना का प्रसार इतना विस्तीर्ण और व्यापक होता है कि हम अनंत व्यक्ति सत्ता के भीतर नरसत्ता के स्थान का अनुभव करते हैं तब हमारी पार्थक्य-बुद्धि का परिहार हो जाता है। उस समय हमारा हृदय ऐसी उच्च भूमि पर पहुँचा रहता है जहाँ उसकी वृत्ति प्रशांत और गंभीर हो जाती है, उसकी अनुभूति का विषय ही कुछ बदल जाता है।

तथ्य चाहे नरक्षेत्र के ही हों, चाहे अधिक व्यापक क्षेत्र के हों, कुछ प्रत्यक्ष होते हैं और कुछ गूढ़। जो तथ्य हमारे किसी भाव को उत्पन्न करे उसे उस भाव का आलंबन कहना चाहिए। ऐसे रसात्मक तथ्य आरंभ में ज्ञानेंद्रियाँ उपस्थित करती हैं। फिर ज्ञानेंद्रियों द्वारा प्राप्त सामग्री से भावना या कल्पना उनकी योजना करती है। अतः यह कहा जा सकता है कि ज्ञान ही भावों में संचार के लिए मार्ग खोलता है। ज्ञान-प्रसार के भीतर ही भाव-प्रसार होता है। आरंभ में मनुष्य की चेतन सत्ता अधिकतर इंद्रिय ज्ञान की समष्टि के रूप में ही रही। फिर ज्यों-ज्यों अंतःकरण का विकास होता गया और सभ्यता बढ़ती गई त्यों-त्यों मनुष्य का ज्ञान बुद्धि-व्यवसायात्मक होता गया। अब मनुष्य का ज्ञानक्षेत्र बुद्धि-व्यवसायात्मक या विचारात्मक होकर बहुत ही विस्तृत हो गया है। अतः उसके विस्तार के साथ हमें अपने हृदय का विस्तार भी बढ़ाना पड़ेगा। विचारों की क्रिया से, वैज्ञानिक विवेचन और अनुसंधान द्वारा उद्‌घाटित परिस्थितियों और तथ्यों के मर्मस्पर्शी पक्ष का मूर्त और सजीव चित्रण भी -- उसका इस रूप में प्रत्यक्षीकरण भी कि वह हमारे किसी भाव का आलंबन हो सके -- कवियों का काम और उच्च काव्य का एक लक्षण होगा। कहने की आवश्यकता नहीं कि इन तथ्यों और परिस्थितियों के मार्मिक रूप न जाने कितनी बातों की तरह छिपे होंगे।

काव्य और व्यवहार

भावों या मनोविकारों के विवेचन में हम कह चुके हैं कि मनुष्य को कर्म में प्रवृत्त करने वाली मूल वृत्ति भावात्मिका है। केवल तर्क-बुद्धि या विवेचना के बल से हम किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होते। यहाँ जटिल बुद्धि-व्यापार के अंतर किसी कर्म का अनुष्ठान देखा जाता है वहाँ भी तह में कोई भाव या वासना छिपी रहती है। चाणक्य जिस समय अपनी नीति की सफलता के लिए किसी निष्ठुर व्यापार में प्रवृत्त दिखाई पड़ता है उस समय दया, करुणा आदि सब मनोविकारों या भावों से परे दिखाई पड़ता

है। पर थोड़ा अंतर्दृष्टि गड़ाकर देखने से कौटिल्य को नचानेवाली डोर का छोर भी अंतःकरण के रागात्मक खंड की ओर मिलेगा। प्रतिज्ञा-पूर्ति की आनंद भावना और नंद वंश के प्रति क्रोध या वैर की वासना बारी-बारी से उस डोर को हिलाती हुई मिलेंगी। अर्वाचीन राष्ट्र-नीति के गुरु-घंटाल जिस समय अपनी किसी गहरी चाल से किसी देश की निरपराध जनता का सर्वनाश करते हैं, उस समय वे दया आदि दुर्बलताओं से निर्लिप्त, केवल बुद्धि के कठपुतले दिखाई पड़ते हैं। पर उनके भीतर यदि छानबीन की जाए तो कभी अपने देशवासियों के सुख की उत्कंठा, कभी अन्य जाति के प्रति घोर विद्वेष, कभी अपनी श्रेष्ठता का नया या पुराना घमंड, इशारे करता हुआ मिलेगा।

बात यह है कि केवल इस बात को जानकर ही हम किसी काम को करने या न करने के लिए तैयार नहीं होते कि वह काम अच्छा है या बुरा, लाभदाक है या हानिकारक! जब उसकी या उसके परिणाम की कोई ऐसी बात हमारी भावना में आती है तो आह्लाद, क्रोध, करुणा, भय, उत्कंठा आदि का संचार कर देती है तभी हम उस काम को करने या न करने के लिए उद्यत होते हैं। शुद्ध-ज्ञान या विवेक में कर्म की उत्तेजना नहीं होती। कर्म-प्रवृत्ति के लिए मन में कुछ वेग का आना आवश्यक है। यदि किसी जन-समुदाय के बीच कहा जाए कि अमुक देश तुम्हारा इतना रुपया प्रतिवर्ष उठा ले जाता है तो संभव है कि उस पर कुछ प्रभाव न पड़े। पर यदि दारिद्रय और अकाल का भीषण और करुण दृश्य दिखाया जाए, पेट की ज्वाला से जले हुए कंकाल कल्पना के सम्मुख रखे जाएँ और भूख से तड़पते हुए बालक के पास बैठी हुई माता का आर्त्त-क्रंदन सुनाया जाए तो बहुत से लोग क्रोध और करुणा से व्याकुल हो उठेंगे और इस दशा को दूर करने का यदि उपाय नहीं तो संकल्प अवश्य करेंगे। पहले ढंग की बात कहना राजनीतिज्ञ या धर्मशास्त्री का काम है और पिछले प्रकार का दृश्य भावना में लाना कवि का। अतः यह धारणा कि काव्य व्यवहार का बाधक है, उसके अनुशीलन से अकर्मण्यता आती है, ठीक नहीं। कविता तो भाव प्रसार द्वारा कर्मण्य के लिए कर्मक्षेत्र का और विस्तार कर देती है।

उक्त धारणा का आधार यदि कुछ हो सकता है तो यही कि जो भावुक या सहृदय होते हैं अथवा काव्य के अनुशीलन से जिनके भाव-प्रसार का क्षेत्र विस्तृत हो जाता है, उनकी वृत्तियाँ उतनी स्वार्थबद्ध नहीं रह सकतीं। कभी-कभी वे दूसरों का जी दुखाने के डर से; आत्म-गौरव या कुल-गौरव या जाति-गौरव के ध्यान से; अथवा जीवन के किसी पक्ष की उत्कर्ष-भावना में नग्न होकर अपने लाभ के कर्म में अतत्पर या उससे विरत देखे जाते हैं। अतः अर्थागम से हृष्ट, 'स्वकार्य साधयेत्' के अनुयायी काशी के ज्योतिषी और कर्मकांडी, कानपुर के बनिये और दलाल, कचहरियों के अमले और मुख्तार

ऐसों को कार्य-भ्रंशकारी, मूर्ख, निरे निठल्ले या खब्त-उल-हवास समझ सकते हैं। जिनकी भावना किसी बात के मार्मिक पक्ष का चित्रानुभव करने में तत्पर रहती है, जिनके भाव चराचर के बीच किसी का भी आलंबनोपयुक्त रूप या दशा में पाते ही उसकी ओर दौड़ पड़ते हैं, वे सदा अपने लाभ के ध्यान से या स्वार्थ बुद्धि द्वारा ही परिचालित नहीं होते। उसकी यही विशेषता अर्थपरायणों को -- अपने काम से काम रखने वालों को -- एक त्रुटि-सी जान पड़ती है। कवि और भावुक हाथ-पैर न हिलाते हों, यह बात नहीं है। पर अर्थियों के निकट उनकी बहुत-सी क्रियाओं का कोई अर्थ नहीं होता।

मनुष्यता की उच्च भूमि

मनुष्य की चेष्टाओं और कर्मकलाप से भावों का मूल संबंध निरूपित हो चुका है और यह भी दिखाया जा चुका है कि कविता इन भावों या मनोविकारों के क्षेत्र को विस्तृत करती हुई इसका प्रसार करती है। पशुत्व से मनुष्यत्व में जिस प्रकार अधिक ज्ञान-प्रसार की विशेषता है उसी प्रकार अधिक भाव-प्रसार की भी। पशुओं के प्रेम की पहुँच प्रायः अपने जोड़े बच्चों या खिलाने-पिलाने वालों तक ही होती है। इसी प्रकार उनका क्रोध भी अपने सताने वालों तक ही जाता है, स्व-वर्ग या पशु-मात्र को सताने वालों तक नहीं पहुँचता। पर मनुष्य में ज्ञान-प्रसार के साथ भाव-प्रसार भी क्रमशः बढ़ता गया है। अपने परिजनों, अपने संबंधियों, अपने पड़ोसियों, अपने देशवासियों क्या मनुष्य मात्र और प्राणि मात्र तक से प्रेम करने भर की जगह उसके हृदय में बन गई है। मनुष्य की त्यौरी मनुष्य को ही सताने वाले पर नहीं चढ़ती, गाय-बैल और कुत्ते-बिल्ली को सताने वाले पर भी चढ़ती है। पशु की वेदना देखकर भी उनके नेत्र सजल होते हैं। बंदर को शायद बंदरिया के मुँह में ही सौंदर्य दिखाई पड़ता होगा; पर मनुष्य पशु-पक्षी, फूल-पत्ते और रेत-पत्थर में भी सौंदर्य पाकर मुग्ध होता है। इस हृदय-प्रसार का स्मारक स्तंभ काव्य है जिसकी उत्तेजना से हमारे जीवन में एक नया जीवन आ जाता है। हम सृष्टि के सौंदर्य को देखकर रसमग्न होने लगते हैं, कोई निष्ठुर कार्य हमें असह्य होने लगता है, हमें जान पड़ता है कि हमारा जीवन कई गुना बढ़कर सारे संसार में व्याप्त हो गया है।

कवि-वाणी के प्रसार से हम संसार के सुख-दुःख, आनंद-क्लेश आदि का शुद्ध स्वार्थमुक्त रूप में अनुभव करते हैं। इस प्रकार के अनुभव के अभ्यास से हृदय का बंधन खुलता है और मनुष्यता की उच्च भूमि की प्राप्ति होती है। किसी अर्थपिशाच कृपण को देखिए, उसने केवल अर्थलोभ के वशीभूत होकर क्रोध, दया, श्रद्धा, भक्ति, आत्माभिमान आदि भावों को एकदम दबा दिया है और संसार के मार्मिक पक्ष से मुँह मोड़ लिया है। न सृष्टि के किसी रूपमाधुर्य को देख वह पैसों का हिसाब-किताब भूल

कभी मुग्ध होता है, न किसी दीन-दुखिया को देख कभी करुणा से द्रवीभूत होता है; न कोई अपमानसूचक बात सुनकर क्रुद्ध या क्षुब्ध होता है। यदि उससे किसी लोमहर्षण अत्याचार की बात कही जाए तो वह मनुष्य धर्मानुसार क्रोध या घृणा प्रकट करने के स्थान पर रुखाई के साथ कहेगा कि ''जाने दो, हमसे क्या मतलब; चलो अपना काम देखें।'' यह महाभयानक मानसिक रोग है। इससे मनुष्य आधा मर जाता है। इसी प्रकार किसी महाक्रूर पुलिस कर्मचारी को जाकर देखिए जिसका हृदय पत्थर के समान जड़ और कठोर हो जाता है, जिसे दूसरे के दुख और क्लेश की भावना स्वप्न में भी नहीं होती है। ऐसों को सामने पाकर स्वभावतः यह मन में आता है कि क्या इनकी भी कोई दवा है? इनकी दवा कविता है।

कविता ही हृदय को प्रकृत दशा में लाती है और जगत के बीच क्रमशः उसका अधिकाधिक प्रसार करती हुई उसे मनुष्यत्व की उच्च भूमि पर ले जाती है। भावयोग की सबसे उच्च कक्षा पर पहुँचे हुए मनुष्य का जगत के साथ पूर्ण तादात्म्य हो जाता है, उसकी अलग भावसत्ता नहीं रह जाती, उसका हृदय विश्व-हृदय हो जाता है। उसकी अश्रुधारा में जगत की अश्रुधारा का, उसके हास-विलास में जगत के आनंद-नृत्य का, उसके गर्जन-तर्जन में जगत में गर्जन-तर्जन का आभास मिलता है।

भावना या कल्पना

इस निबंध के आरंभ में ही हम काव्यानुशीलन को भावयोग कह आए हैं और उसे कर्मयोग और ज्ञानयोग के समकक्ष बता आए हैं। यहाँ पर अब यह कहने की आवश्यकता प्रतीत होती है कि 'उपासना' भावयोग का ही एक अंग है। पुराने धार्मिक लोग उपासना का अर्थ 'ध्यान' ही लिया करते हैं। जो वस्तु हमसे अलग है, हमसे दूर प्रतीत होती है उसकी मूर्ति मन में लाकर उसके सामीप्य का अनुभव करना ही उपासना है। साहित्य वाले इसी को 'भावना' कहते हैं और आजकल के लोग 'कल्पना'। जिस प्रकार भक्ति के लिए उपासना या ध्यान की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार और भावों के प्रवर्त्तन के लिए भी भावना या कल्पना अपेक्षित होती है। जिनकी भावना या कल्पना शिथिल या अशक्त होती है, किसी कविता या सरस उक्ति को पढ़-सुनकर उनके हृदय में मार्मिकता होते हुए भी वैसी अनुभूति नहीं होती। बात यह है कि उनके अंतःकरण में चटपट वह सजीव और स्पष्ट मूर्ति-विधान नहीं होता जो भावों को परिचालित कर देता है। कुछ कवि किसी बात के सारे मार्मिक अंगों का पूरे ब्यौरे के साथ चित्रण कर देते हैं, पाठक या श्रोता की कल्पना के लिए बहुत कम काम छोड़ते हैं और कुछ कवि कुछ मार्मिक खंड रखते हैं जिन्हें पाठक की तत्पर कल्पना आप से आप पूर्ण करती है।

कल्पना दो प्रकार की होती है -- विधायक और ग्राहक। कवि में विधायक कल्पना अपेक्षित होती है और श्रोता या पाठक में अधिकतर ग्राहक। अधिकतर कहने का अभिप्राय यह है कि जहाँ कवि पूर्ण चित्रण नहीं करता वहाँ पाठक या श्रोता को भी अपनी ओर से कुछ मूर्ति-विधान करना पड़ता है। योरोपीय साहित्य-मीमांसा में कल्पना को बहुत प्रधानता दी गई है। है भी यह काव्य का अनिवार्य साधन, पर है साधन ही, साध्य नहीं, जैसा कि उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है। किसी प्रसंग के अंतर्गत कैसा ही विचित्र मूर्ति-विधान हो पर यदि उसमें उपयुक्त भावसंचार की क्षमता नहीं है तो वह काव्य के अंतर्गत न होगा।

मनोरंजन

प्रायः सुनने में आता है कि कविता का उद्देश्य मनोरंजन है। पर जैसा कि हम पहले कह आए हैं, कविता का अंतिम लक्ष्य जगत के मार्मिक पक्षों का प्रत्यक्षीकरण करके उनके साथ मनुष्य-हृदय का सामंजस्य-स्थापन है। इतने गंभीर उद्देश्य के स्थान पर केवल मनोरंजन का हल्का उद्देश्य सामने रखकर जो कविता का पठन-पाठन या विचार करते हैं, वे रास्ते ही में रह जाने वाले पथिक के समान हैं। कविता पढ़ते समय मनोरंजन अवश्य होता है, पर उसके उपरांत कुछ और भी होता है और वही और सब कुछ है। मनोरंजन वह शक्ति है जिससे कविता अपना प्रभाव जमाने के लिए मनुष्य की चित्तवृत्ति को स्थिर किए रहती है, इधर-उधर जाने नहीं देती। अच्छी से अच्छी बात को भी कभी-कभी जो केवल कान से सुन भर लेते हैं, उनकी ओर उनका मनोयोग नहीं होता। केवल यही कहकर कि 'परोपकार करो', 'दूसरों पर दया करो', 'चोरी करना महापाप है', हमें यह आशा कदापि न करनी चाहिए कि कोई अपकारी उपकारी, कोई क्रूर दयावान या कोई चोर साधु हो जाएगा। क्योंकि ऐसे वाक्यों के अर्थ की पहुँच हृदय तक होती ही नहीं, वह ऊपर ही ऊपर रह जाता है। ऐसे वाक्यों द्वारा सूचित व्यापारों का मानव जीवन के बीच कोई मार्मिक चित्र सामने न पाकर हृदय उनकी अनुभूति की ओर प्रवृत्त ही नहीं होता।

पर कविता अपनी मनोरंजक-शक्ति द्वारा पढ़ने या सुनने वाले का चित्त रमाए रहती है, जीवन-पट पर उक्त कर्मों की सुंदरता या विरूपता अंकित करके हृदय के मर्मस्थलों का स्पर्श करती है। मनुष्य के कुछ कर्मों में जिस प्रकार दिव्य सौंदर्य और माधुर्य होता है, उसी प्रकार कुछ कर्मों में भीषण कुरूपता और भद्दापन होता है। इसी सौंदर्य या कुरूपता का प्रभाव मनुष्य के हृदय पर पड़ता है और इस सौंदर्य या कुरूपता का सम्यक् प्रत्यक्षीकरण कविता ही कर सकती है।

कविता की इसी रमाने वाले शक्ति को देखकर जगन्नाथ पंडितराज ने रणमीयता

का पल्ला पकड़ा और उसे काव्य का साध्य स्थिर किया तथा योरोपीय समीक्षकों ने 'आनंद' को काव्य का परम लक्ष्य ठहरया। इस प्रकार मार्ग को ही अंतिम गंतव्य स्थल मान लेने के कारण बड़ा गड़बड़झाला हुआ। मनोरंजन या आनंद तो बहुत-सी बातों में हुआ करता है। किस्सा-कहानी सुनने में भी तो पूरा मनोरंजन होता है, लोग रात-रात भर सुनते रह जाते हैं। पर क्या कहानी सुनना और कविता सुनना एक ही बात है? हम रसात्मक कथाओं या आख्यानों की बात नहीं कहते हैं; केवल घटना वैचित्र्यपूर्ण कहानियों की बात कहते हैं। कविता और कहानी का अंतर स्पष्ट है। कविता सुनने वाला किसी भाव में मग्न रहता है और कभी-कभी बार-बार एक ही पद्य सुनना चाहता है। पर कहानी सुनने वाला आगे की घटना के लिए आकुल रहता है। कविता सुनने वाला कहता है, ''जरा फिर तो कहिए।'' कहानी सुनाने वाला कहता है, ''हाँ! तब क्या हुआ!''

मन को अनुरंजित करना, उसे सुख या आनंद पहुँचाना ही यदि कविता का अंतिम लक्ष्य माना जाए तो कविता भी केवल विलास की एक सामग्री हुई। परंतु क्या कोई कह सकता है कि वाल्मीकि ऐसे मुनि और तुलसीदास ऐसे भक्त ने केवल इतना ही समझकर श्रम किया कि लोगों को समय काटने का एक अच्छा सहारा मिल जाएगा? क्या इससे गंभीर कोई उद्देश्य उनका न था? खेद के साथ कहना पड़ता है कि बहुत दिनों से बहुत से लोग कविता को विलास की सामग्री समझते आ रहे हैं। हिंदी के रीतिकाल के कवि तो मानों राजाओं-महाराजाओं की कामवासना उत्तेजित करने के लिए ही रखे जाते थे। एक प्रकार के कविराज तो रईसों के मुँह में मकरध्वज रस झोंकते थे, दूसरे प्रकार के कविराज कान में मकरध्वज रस की पिचकारी देते थे, पीछे से तो ग्रीष्मोपचार आदि के नुस्खे भी कवि लोग तैयार करने लगे। गर्मी के मौसम के लिए एक कवि जी व्यवस्था करते हैं :

सीतल गुलाबजल भरि चहबच्चन में,
डारि कै कमलदल न्हायबे को धँसिए।
कालिदास अंग-अंग अगर अतर संग,
केसर उसीर नीर घनसार धँसिए।
जेठ में गोविंद लाल चंदन के चहलन,
भरि-भरि गोकुल के महलन बसिए।

इसी प्रकार शिशिर के मसाले सुनिए --

गुलगुली गिलमैं, गलीचा है, गुमीजन हैं,
चिक हैं, चिराकैं हैं, चिरागन की माला हैं।
कहै पदमाकर है गजक गजा हू सजी,

सज्जा हैं, सुरा हैं, सुराही है सुप्याला हैं।
शिशिर के पाला को न व्यापत कसाला तिन्हैं,
जिनके अधीन एते उदित मसाला हैं।

सौंदर्य

सौंदर्य बाहर की कोई वस्तु नहीं है, मन के भीतर की वस्तु है। योरोपीय कला-समीक्षा की यह एक बड़ी ऊँची उड़ान या बड़ी दूर की कौड़ी समझी गई है। पर वास्तव में यह भाषा के गड़बड़झाले के सिवाय और कुछ नहीं है। जैसे वीरकर्म से पृथक् वीरत्व कोई पदार्थ नहीं वैसे ही सुंदर से पृथक् सौंदर्य कोई पदार्थ नहीं। कुछ रूप-रंग की वस्तुएँ ऐसी होती हैं जो हमारे मन में आते ही थोड़ी देर के लिए हमारी सत्ता पर ऐसा अधिकार कर लेती हैं कि उसका ज्ञान ही हवा हो जाता है और हम उन वस्तुओं की भावना के रूप में ही परिणत हो जाते हैं। हमारी अंतस्सत्ता की यही तदाकार-परिणति सौंदर्य की अनुभूति है। इसके विपरीत कुछ रूप-रंग की वस्तुएँ ऐसी होती हैं जिनकी प्रतीति या जिनकी भावना हमारे मन में कुछ देर टिकने ही नहीं पाती और एक मानसिक आपत्ति-सी जान पड़ती है। जिस वस्तु के प्रत्यक्ष ज्ञान या भावना से तदाकार परिणति जितनी ही अधिक होगी, उतनी ही वह वस्तु हमारे लिए सुंदर कही जाएगी। इस विवेचन से स्पष्ट है कि भीतर-बाहर का भेद व्यर्थ है। जो भीतर है वही बाहर है।

यही बाहर हँसता-खेलता, रोता-गाता, खिलता-मुरझाता जगत भीतर है जिसे हम मन कहते हैं। जिस प्रकार यह जगत रूपमय और गतिमय है उसी प्रकार मन भी। मन भी रूप-गति का संघात ही है। रूप मन और इंद्रियों द्वारा संघटित है या मन और इंद्रियाँ रूपों द्वारा, इससे यहाँ प्रयोजन नहीं। हमें तो केवल यही कहना है कि हमें अपने मन का और अपनी सत्ता का बोध रूपात्मक ही होता है।

किसी वस्तु के प्रत्यक्ष ज्ञान या भावना से हमारी अपनी सत्ता के क्रोध का जितना ही अधिक तिरोभाव और हमारे मन की उस वस्तु के रूप में जितनी ही पूर्ण परिणति होगी उतनी ही बढ़ी हुई हमारी सौंदर्य की अनुभूति कही जाएगी। जिस प्रकार की रूपरेखा या वर्ण-विन्यास से किसी की तदाकार परिणति होती है, उसी प्रकार की रूपरेखा या वर्णविन्यास उसके लिए सुंदर है। मनुष्यता की सामान्य भूमि पर पहुँची हुई संसार की सब सभ्य जातियों में सौंदर्य के सामान्य आदर्श प्रतिष्ठित हैं। भेद अधिकतर अनुभूति की मात्रा में पाया जाता है। न सुंदर को कोई एकबारगी कुरूप कहता है और न बिलकुल कुरूप को सुंदर। जैसा कि कहा जा चुका है, सौंदर्य का दर्शन मनुष्य मनुष्य ही में नहीं करता है प्रत्युत पल्लव-गुंफित पुष्पहास में, पक्षियों के पक्षजाल में, सिंदूराभ सांध्य दिगंचल के हिरण्य-मेखला-मंडित घन-खंड में, तुषारावृत्ति तुंग-गिरि-शिखर में, चंद्रकिरण

से झलझलाते निर्झर में और न जाने कितनी वस्तुओं में वह सौंदर्य की झलक पाता है।

जिस सौंदर्य की भावना में मग्न होकर मनुष्य पृथक् अपनी सत्ता की प्रतीति का विसर्जन करता है वह अवश्य एक दिव्य विभूति है। भक्त लोग अपनी उपासना या ध्यान में इसी विभूति का अवलंबन करते हैं। तुलसी और सूर ऐसे सगुणोपासक भक्त राम और कृष्ण की सौंदर्य-भावना में मग्न होकर ऐसी मंगल-दशा का अनुभव कर गए हैं जिसके सामने कैवल्य या मुक्ति की कामना का कहीं पता नहीं लगता।

कविता केवल वस्तुओं के ही रंग-रूप में सौंदर्य की छटा नहीं दिखाती, प्रत्युत कर्म और मनोवृत्ति के भी अत्यंत मार्मिक दृश्य सामने रखती है। वह जिस प्रकार विकसित कमल, रमणी के मुखमंडल आदि का सौंदर्य मन में लाती है उसी प्रकार उदारता, वीरता, त्याग, दया, प्रेमोत्कर्ष इत्यादि कर्मों और मनोवृत्तियों का सौंदर्य भी मन में जमाती है। जिस प्रकार वह शव को नोचते हुए कुत्तों और शृगालों के वीभत्स व्यापार की झलक दिखाती है उसी प्रकार क्रूरों की हिंसावृत्ति और दुष्टों की ईर्ष्या आदि की कुरूपता से भी क्षुब्ध करती है। इस कुरूपता का अवस्थान सौंदर्य की पूर्ण और स्पष्ट अभिव्यक्ति के लिए ही समझना चाहिए। जिन मनोवृत्तियों का अधिकतर बुरा रूप हम संसार में देखा करते हैं उनका भी रूप सुंदर कविता ढूँढ़कर दिखाती है। दशवदन-निधनकारी राम के क्रोध के सौंदर्य पर कौन मोहित न होगा?

जो कविता रमणी के रूपमाधुर्य से हमें तृप्त करती है वही उसकी अंतर्वृत्ति की सुंदरता का आभास देकर हमें मुग्ध करती हैं। जिस बंकिम की लेखनी ने गढ़ पर बैठी हुई राजकुमारी तिलोत्तमा के अंग-प्रत्यंग की सुषमा को अंकित किया है उसी ने नवाब-नंदिनी आयशा के अंतस् की अपूर्व सात्त्विकी ज्योति की झलक दिखाकर पाठकों को चमत्कृत किया है। जिस प्रकार बाह्य प्रकृति के बीच वन, पर्वत, नदी-निर्झर आदि की रूप-विभूति से हम सौंदर्य-मग्न होते हैं, उसी प्रकार अंतःप्रकृति में दया, दाक्षिण्य, श्रद्धा, भक्ति आदि वृत्तियों की स्निग्ध शीतल आभा में सौंदर्य लहराता हुआ पाते हैं। यदि कहीं बाह्य और आभ्यंतर दोनों सौंदर्य का योग दिखाई पड़े तो फिर क्या कहना है। यदि किसी अत्यंत सुंदर पुरुष की वीरता, धीरता, सत्यप्रियता आदि अथवा किसी अत्यंत रूपवती स्त्री की सुशीलता, कोमलता और प्रेम-परायणता आदि भी सामने रख दी जाएँ तो सौंदर्य की भावना सर्वांग पूर्ण हो सकती है।

सुंदर और कुरूप -- काव्य में बस ये ही दो पक्ष हैं। भला-बुरा, शुभ-अशुभ, पाप-पुण्य, मंगल-अमंगल, अनुपयोगी-उपयोगी -- ये सब शब्द काव्यक्षेत्र के बाहर के हैं। ये नीति, धर्म, व्यवहार, अर्थशास्त्र आदि के शब्द हैं। शुद्ध काव्य क्षेत्र में न कोई बात भली कही

जाती है न बुरी, न शुभ न अशुभ, न उपयोगी न अनुपयोगी। सब बातें केवल दो रूपों में दिखाई जाती हैं -- सुंदर और असुंदर। जिसे धार्मिक शुभ या मंगल कहता है, कवि उसके सौंदर्य-पक्ष पर आप ही मुग्ध रहता है और दूसरों को भी मुग्ध करता है। जिसे धर्मज्ञ अपनी दृष्टि के अनुसार शुभ या मंगल समझता है, उसी को कवि अपनी दृष्टि के अनुसार सुंदर कहता है। दृष्टि-भेद अवश्य है। धार्मिक की दृष्टि जीव के कल्याण, परलोक में सुख, भवबंधन से मोक्ष आदि की ओर रहती है। पर कवि की दृष्टि इन सब बातों की ओर नहीं रहती। वह उधर देखता है जिधर सौंदर्य दिखाई पड़ता है। इतनी-सी बात ध्यान में रखने से ऐसे-ऐसे झमेलों में पड़ने की आवश्यकता बहुत कुछ दूर हो जाती है कि ''कला में सत्-असत्, धर्माधर्म का विचार होना चाहिए या नहीं'', ''कवि को उपदेशक बनना चाहिए या नहीं।''

कवि की दृष्टि तो सौंदर्य की ओर जाती है चाहे वह जहाँ हो -- वस्तुओं के रूप-रंग में अथवा मनुष्यों के मन, वचन और कर्म में। उत्कर्ष साधन के लिए, प्रभाव की वृद्धि के लिए, कवि लोग कई प्रकार के सौंदर्यों का मेल भी किया करते हैं। राम की रूपमाधुरी और रावण की विकरालता भीतर का प्रतिबिंब-सी जान पड़ती है। मनुष्य के भीतरी-बाहरी सौंदर्य के साथ चारों ओर की प्रकृति के सौंदर्य को भी मिला देने से वर्ण का प्रभाव कभी-कभी बहुत बढ़ जाता है। चित्रकूट ऐसे रम्य स्थान में राम और भरत ऐसे रूपवानों की रम्य अंतःप्रकृति की छटा का क्या कहना है!

चमत्कारवाद

काव्य के संबंध में 'चमत्कार' अनूठापन आदि शब्द बहुत दिनों से लाए जाते हैं। चमत्कार मनोरंजन की सामग्री है, इसमें संदेह नहीं। इसमें जो लोग मनोरंजन को ही काव्य लक्ष्य मानते हैं, वे यदि कविता में चमत्कार ही ढूँढ़ा करें तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। पर जो लोग इससे ऊँचा और गंभीर लक्ष्य समझते हैं वे चमत्कार मात्र को काव्य नहीं मान सकते। चमत्कार से हमारा अभिप्राय यहाँ प्रस्तुत वस्तु के अद्‌भुत्व या वैलक्षण्य से नहीं जो अद्‌भुत रस के आलंबन में होता है। 'चमत्कार' से हमारा तात्पर्य उक्ति के चमत्कार से है। जिसके अंतर्गत वर्णविन्यास की विशेषता (जैसे, अनुप्रास में), शब्दों की क्रीड़ा (जैसे श्लेष, यमक आदि में), वाक्य की वक्रता या वचनभंगी (जैसे, काव्यर्थापत्ति, परिसंख्या विरोधाभास, असंगति इत्यादि में) तथा अप्रस्तुत वस्तुओं का अद्‌भुतत्व अथवा प्रस्तुत वस्तुओं के साथ उनके सादृश्य संबंध की अनहोनी या दूरारूढ़ कल्पना (जैसे उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति आदि में) इत्यदि बातें आती हैं।

चमत्कार का प्रयोग भावुक कवि भी करते हैं, पर किसी भाव की अनुभूति को तीव्र करने के लिए। जिस रूप या जिस मात्रा में भाव की स्थिति है उसी रूप और

उसी मात्रा में उसकी व्यंजना के लिए प्रायः कवियों को व्यंजना का कुछ असामान्य ढंग पकड़ना पड़ता है। बातचीत में भी देखा जाता है कि कभी-कभी हम किसी को मूर्ख न कहकर 'बैल' कह देते हैं। इसका मतलब यही है कि उसकी मूर्खता की जितनी गहरी भावना मन में है वह 'मूर्ख' शब्द से नहीं व्यक्त होती। इसी बात को देखकर कुछ लोगों ने यह निश्चय किया कि यही चमत्कार या उक्तिवैचित्र्य ही काव्य का नित्य लक्षण है। इस निश्चय के अनुसार कोई वाक्य, चाहे वह कितना ही मर्मस्पर्शी हो, यदि उक्तिवैचित्र्यशून्य है तो काव्य के अंतर्गत न होगा और कोई वाक्य जिसमें किसी भाव या कर्म-विचार की व्यंजना कुछ भी न हो पर उक्तिवैचित्र्य हो, वह खासा काव्य कहा जाएगा। उदाहरण के लिए पद्माकर का यह सीधा-सादा वाक्य लीजिए --

''नैन नचाय कही मुसुकाय 'लला फिर आइयो खेलन होरी'।''

अथवा मंडन का यह सवैया लीजिए :

अलि! हौ तौ गई जमुना-जल को,
सौ कहा कहौ; बीर! विपत्ति परी।
घहराय कै कारी घटा उनई,
इतनेई में गागर सीस धरी।।
रपट्यो पग, घाट चढ्यो न गयो,
कवि मंडन ह्वै कै विहाल गिरी।
चिरजीवहु नंद की बारो अरी,
गहि बाँह गरीब ने ठाढ़ी करी।।

इसी प्रकार ठाकुर की यह अत्यंत स्वाभाविक वितर्क-व्यंजना देखिए :

वा निरमोहिनी रूप की रासि जऊ उर हेतु न ठानति ह्वै है।
बारहि बार बिलोकि घरी घरी सूरति तो पहचानति ह्वै है।
ठाकुर या मन को परतीति है, जो पै सनेह न मानति ह्वै है।
आवत है नित मेरे लिए, इतनी तो विशेष कै जानति ह्वै है।

मंडन ने प्रेम-गोपन के जो वचन कहलाए हैं, वे ऐसे ही हैं जैसे जल्दी में स्वभावतः मुँह से निकल पड़ते हैं। उनमें विदग्धता की अपेक्षा स्वाभाविकता कहीं अधिक झलक रही है। ठाकुर के सवैया भी अपने प्रेम का परिचय देने के लिए आतुर नए प्रेमी के चित्त के वितर्क की बड़े सीधे-सादे शब्दों में, बिना किसी वैचित्र्य या लोकोत्तर चमत्कार के, व्यंजना की गई है। क्या कोई सहृदय वैचित्र्य के प्रभाव के कारण कह सकता है कि इसमें काव्यत्व नहीं है?

अब इनके सामने केवल उन चमत्कार वाली उक्तियों का विचार कीजिए जिसमें

कहीं कोई कवि किसी राजा की कीर्ति की धवलता चारों ओर फैलती देख यह आशंका प्रकट करता है कि कहीं मेरी स्त्री के बाल भी सफेद न हो जाएँ अथवा प्रभात होने पर कौवों में काँव-काँव का कारण यह भय बताता है कि कालिमा या अंधकार का नाश करने में प्रवृत्त सूर्य कहीं उन्हें काला देख उनका भी नाश कर दे। भोज-प्रबंध तथा और-और सुभाषित-संग्रहों में इस प्रकार की उक्तियाँ भरी पड़ी हैं। केशव की रामचंद्रिका में पचीसों ऐसे पद्य हैं जिनमें अलंकारों की भद्दी भरती के चमत्कार के बिना हृदय को स्पर्श करने वाली या किसी भावना में मग्न करने वाली कोई बात न मिलेगी। उदाहरण के लिए पताका और पंचवटी के वर्णन कीजिए :

पताका

अति सुंदर अति साधु। चिर न रहति पल आषु।
परम तपोमय मानि। दंडिधारिणी जानि।।

पंचवटी

बेर भयानक सी अति लगै। अर्क समूह जहाँ जगमगै।
पांडव की प्रतिमा मन लेखौ। अर्जुन भीम महामति देखौ।
हे सुभगा सम दीपति पूरी। सिंदुर औ तिलकावलि रूरी।
राजति है यह ज्यौं कुलकन्या। धाय विरा जति है सँग धन्या।।

क्या कोई भावुक इन उक्तियों को शुद्ध काव्य कह सकता है? क्या ये उसके मर्म का स्पर्श कर सकती हैं?

ऊपर दिए अवतरणों में हम स्पष्ट देखते हैं कि किसी उक्ति की तह में उसके प्रवर्त्तक के रूप में यदि कोई भाव या मार्मिक अंतर्वृत्ति छिपी है तो चाहे वैचित्र्य हो या न हो, काव्य की सरसता बराबर पाई जाएगी। पर यदि कोरा वैचित्र्य या चमत्कार ही चमत्कार है तो थोड़ी देर के लिए कुछ कूतूहल या मन-बहलाव चाहे हो जाए पर काव्य को लौन करने वाली सरसता न पाई जाएगी। केवल कूतूहल तो बालवृत्ति है। कविता सुनना और तमाशा देखना एक ही बात नहीं है। यदि सब प्रकार की कविता में केवल आश्चर्य या कूतूहल का ही संचार मानें तब तो अलग-अलग स्थायी भावों की रसरूप में अनुभूति और भिन्न-भिन्न भावों के आश्रयों के साथ तादात्म्य का कहीं प्रयोजन ही नहीं रह जाता।

यह बात ठीक है कि हृदय पर जो प्रभाव पड़ता है, उसके धर्म का जो स्पर्श होता है, वह उक्ति ही द्वारा। पर उक्ति के लिए यह आवश्यक नहीं कि वह सदा विचित्र, अद्‌भुत या लोकोत्तर हो -- ऐसी हो जो सुनने में नहीं आया करती या जिसमें बड़ी दूर की सूझ होती है। ऐसी उक्ति जिसे सुनते ही मन किसी भाव या मार्मिक भावना (जैसे

प्रस्तुत वस्तु का सौंदर्य आदि) में लीन न होकर एकबारगी कथन के अनूठे ढंग, वर्ण-विन्यास या पद-प्रयोग की विशेषता, दूर की सूझ, कवि की चातुरी या निपुणता इत्यादि का विचार करने लगे, वह काव्य नहीं, सूक्ति है। बहुत से लोग काव्य और सूक्ति को एक ही समझा करते हैं। पर इन दोनों का भेद सदा ध्यान में रहना चाहिए। जो उक्ति हृदय में कोई भाव जागरित कर दे या उसे प्रस्तुत वस्तु या तथ्य की मार्मिक भावना में लीन कर दे, वह तो है काव्य। जो उक्ति केवल कथन के ढंग के अनूठेपन; रचना वैचित्र्य, चमत्कार, कवि के श्रम या निपुणता के विचार में ही प्रवृत्त करे, वह है सूक्ति।

यदि किसी उक्ति में रसात्मकता और चमत्कार दोनों हों तो प्रधानता का विचार करके सूक्ति या काव्य का निर्णय हो सकता है। जहाँ उक्ति में अनूठापन अधिक मात्रा में होने पर भी उसकी तह में रहने वाला भाव आच्छन्न नहीं हो जाता, वहाँ भी काव्य ही माना जाएगा। जैसे देव का यह सवैया लीजिए :

साँसन में ही समीर गयो अरु आँसुन ही सब नीर गयो ढरि।
तेज गयो गुन लै अपनौ अरु भूमि गई तन की तनुता करि।।
देव जियै मिलिबेई की आस कै, आसहु पास अकास रह्यौ भरि।
जा दिन तें मुखि फेरि हरै हँसि हेरि हियो जो लिए हरि जू हरि।।

सवैये का अर्थ यह है कि वियोग में उस नायिका के शरीर को संघटित करने वाले पंचभूत धीरे-धीरे निकलते जा रहे हैं। वायु दीर्घ निःश्वासों के द्वारा निकल गई, जल तत्त्व सारा आँसुओं में ढल गया, तेज भी न रह गया -- शरीर की सारी दीप्ति या काँति जाती रही, पार्थिव तत्त्व के निकल जाने से शरीर भी क्षीण हो गया; अब तो उसके चारों ओर आकाश ही आकाश रह गया है -- चारों ओर शून्य दिखाई पड़ रहा है। जिस दिन से श्रीकृष्ण ने उसकी ओर से मुँह फेर कर ताका है और मंद-मंद हँसकर उसके मन को हर लिया है, उसी दिन से उसकी यह दशा है।

इस वर्णन में देवजी ने विरह की भिन्न-भिन्न दशाओं में चार भूतों के निकलने की बड़ी सटीक उद्‌भावना की है। आकाश का अस्तित्व भी बड़ी निपुणता से चरितार्थ किया है। यमक्, अनुप्रास आदि भी है। सारांश यह है कि उनकी उक्ति में एक पूरी सावयव कल्पना है, मजमून की पूरी बंदिश है, पूरा चमत्कार या अनूठापन है। पर इस चमत्कार के बीच में भी विरह वेदना स्पष्ट झलक रही है, उसकी चकाचौंध में अदृश्य नहीं हो गई है। इसी प्रकार मतिराम के इस सवैये की पिछली दो पंक्तियों में वर्षा के रूपक का जो व्यंग्य-चमत्कार है वह भाव-सबलता के साथ अनूठे ढंग से गुंफित है :

दोऊ अनंद सों आँगन माँझ
बिराजै असाढ़ की साँझ सुहाई।

प्यारी के बूझत और तिया को
अचानक नाम लियो रसिकाई।
आई उनै मुँह में हँसी,
कोहि तिया पुनि चाप सी भौंह चढ़ाई।
आँखिन ते गिरे आँसू के बूँद,
सुहास गयो उड़ि हंस की नाई।।

इसके विरुद्ध बिहारी की उन उक्तियों में जिसमें विरहिणी के शरीर के पास ले जाते, ले जाते शीशी का गुलाबजल सूख जाता है, उसके विरह-ताप की लपट के मारे माघ के महीने में भी पड़ोसियों का रहना कठिन हो जाता है, कृशता के कारण विरहिणी साँस खींचने के साथ दो-चार हाथ पीछे और साँस छोड़ने के दो-चार हाथ आगे उड़ जाती है, अत्युक्ति का एक बड़ा तमाशा ही खड़ा किया गया है। कहाँ यह सब मजाक, कहाँ विरह वेदना!

यह कहा जा चुका है कि उमड़ते हुए भाव की प्रेरणा से अक्सर कथन के ढंग में कुछ वक्रता आ जाती है। ऐसी वक्रता काव्य की प्रक्रिया के भीतर रहती है। उसका अनूठापन भाव-विधान के बाहर की वस्तु नहीं। उदाहरण के लिए दासजी की ये दशा-सूचक उक्तियाँ लीजिए :

अब तौ बिहारी के वे बानक गये री
तेरी तनदुति-केसर को नैन समीर भो।
श्रौन तुव बानी स्वाति-बूँदन के घातक भे,
साँसन को भरिबों द्रुपदजा की चीर भो।।
हिय को हरष मरु धरनि को नीर भो,
री! जियरो मनोभव-शरन को तुनीर भो।
एरी! बेगि करिकै मिलापु थिर थापु,
न तौ आयु अब चहत अतनु को सरीर भो।।

ऐसी ही भाव-प्रेरित वक्रता द्विजदेव की इस मनोहर उक्ति में है --

तू जो कही, सखि! लोनो सरूप,
सो मो अँखियान को लोनी गई लगि।

प्रेम के स्फुरण की विलक्षण अनुभूति नायिका को हो रही है -- कभी आँसू आते हैं, कभी अपनी दशा पर आप अचरज होता है, कभी हल्की-सी हँसी भी आ जाती है कि अच्छी बला मैंने मोल ली। इसी बीच अपनी अंतरंग सखी को सामने पाकर किंचित् विनोद-चातुरी की भी प्रवृत्ति होती है। ऐसी जटिल अंतर्वृत्ति द्वारा प्रेरित उक्ति में विचित्रता

आ ही जाती है। ऐसी चित्त-वृत्तियों के अवसर घड़ी-घड़ी नहीं आया करते। सूरदासजी का 'भ्रमरगीत' ऐसी भाव-प्रेरित वक्र उक्तियों से भरा पड़ा है।

उक्ति की वहीं तक की वचनभंगी या वक्रता के संबंध में हमसे कुंतलजी का 'वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्' मानते बनता है, जहाँ तक कि वह भावानुमोदित हो या किसी मार्मिक अंतर्वृत्ति से संबद्ध हो; उसके आगे नहीं। कुंतलजी की वक्रता बहुत व्यापक है जिसके अंतर्गत वे वाक्य-वैचित्र्य की वक्रता और वस्तु-वैचित्र्य की वक्रता दोनों लेते हैं। सालंकृत वक्रता के चमत्कार ही में वे काव्यत्व मानते हैं। योरप में भी आजकल क्रोसे के प्रभाव से एक प्रकार का वक्रोक्तिवाद जोर पर है। विलायती वक्रोक्तिवाद लक्षण-प्रधान है। लाक्षणिक चपलता और प्रगल्भता में ही; उक्ति के अनूठे स्वरूप में ही, बहुत से लोग वहाँ कविता मानने लगे हैं। उक्ति ही काव्य होती है, यह तो सिद्ध बात है। हमारे यहाँ भी व्यंजक वाक्य ही काव्य माना जाता है। अब प्रश्न यह है कि कैसी उक्ति, किस प्रकार की व्यंजना करने वाला वाक्य? वक्रोक्तिवादी कहेंगे कि ऐसी उक्ति जिसमें कुछ वैचित्र्य या चमत्कार हो, व्यंजना चाहे जिसकी हो, या किसी ठीक-ठीक बात की न भी हो पर जैसा कि हम कह चुके हैं, मनोरंजन मात्र काव्य का उद्देश्य न मानने वाले इस बात का समर्थन करने में असमर्थ होंगे। वे किसी लक्षणा में उसका प्रयोजन अवश्य ढूँढ़ेंगे।

कविता की भाषा

कविता में कही गई बात चित्र-रूप में हमारे सामने आनी चाहिए, यह हम पहले कह आए हैं। अतः उसमें गोचर-रूपों का विधान अधिक होता है। वह प्रायः ऐसे रूपों और व्यापारों को ही लेती है जो स्वाभाविक होते हैं और संसार में सबसे अधिक मनुष्यों को सबसे अधिक दिखाई पड़ते हैं।

अगोचर बातों या भावनाओं को भी, जहाँ तक हो सकता है, कविता स्थल गोचर रूप में रखने का प्रयास करती है। इस मूर्ति-विधान के लिए वह भाषा की लक्षणा-शक्ति से काम लेती है। जैसे, ''समय बीता जाता है'', कहने की अपेक्षा ''समय भागा जाता है'' कहना वह अधिक पसंद करेगी। किसी काम से हाथ खींचना, किसी का रुपया खा जाना, कोई बात पी जाना, दिन ढलना या डूबना, मन मारना, मन छूना, शोभा बरसना, उदासी टपकना इत्यादि ऐसी ही कवि-समय-सिद्ध उक्तियाँ हैं जो बोलचाल में रूढ़ि होकर आ गई हैं। लक्षण द्वारा स्पष्ट और सजीव आकार-प्रदान का विधान प्रायः सब देशों के कवि-कर्म में पाया जाता है। कुछ उदाहरण देखिए :

(क) अन्य भूमि वनपंथ पहारा। जहँ जहँ नाथ पाँव तुम धारा। --तुलसी

(ख) मनहु उमगि अँग अँग छबि छलकै। --तुलसी

(ग) चूनरि चारु चुई सी परै।

(घ) बनन में बागन में बगरो बसंत है। --पद्माकर

(ङ) वृंदावन-बागन पै बसंत बरसौ परै। --पद्माकर

(च) हौं तो श्याम रंग में चोराय, चित्त चोराचोरी बोरत तो बोर्‌यो पै निचोरत बनै नहीं।--पद्माकर

(छ) एहो नंदलाल ऐसी व्याकुल परी है बाल,
हाल ही चलौ तौ चलौ, जोरे, जुरि जाएगी।
कहै पद्माकर नहीं तौ ये झकोरे लगे,
ओरे लौं अचाका बिनु घोरे धुरि जाएगी।
तौ ही लगि चैन जौलौं चेतिहै न चंद्रमुखी,
चेतैगी कहूँ तौ चाँदनी में चुरि जाएगी।

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि वस्तु या तथ्य के पूर्ण प्रत्यक्षीकरण तथा भाव या मार्मिक अंतर्वृत्ति के अनुरूप व्यंजना के लिए लक्षण का बहुत कुछ सहारा कवि को लेना पड़ता है।

भावना को मूर्त्त रूप में रखने की आवश्यकता के कारण कविता की भाषा में दूसरी विशेषता यह रहती है कि उसमें जाति संकेत वाले शब्दों की अपेक्षा विशेष-रूप-व्यापार सूचक शब्द अधिक रहते हैं। बहुत से ऐसे शब्द होते हैं जिनसे किसी एक का नहीं बल्कि बहुत से रूपों या व्यापारों का एक साथ चलता-सा अर्थ ग्रहण हो जाता है। ऐसे शब्दों को हम जाति-संकेत कह सकते हैं। ये मूर्त्त विधान के प्रयोजन के नहीं होते। किसी ने कहा ''वहाँ बड़ा अत्याचार हो रहा है।'' इस अत्याचार शब्द के अंतर्गत मारना-पीटना, डाँटना-डपटना, लूटना-पाटना इत्यादि बहुत से व्यापार हो सकते हैं, अतः 'अत्याचार' शब्द के सुनने से उन सब व्यापारों की एक मिली-जुली अस्पष्ट भावना थोड़ी देर के लिए मन में आ जाती हैं; कुछ विशेष व्यापारों का स्पष्ट चित्र या मूर्त्त रूप नहीं खड़ा होता। इससे ऐसे शब्द कविता के उतने काम के नहीं। ये तत्त्व-निरूपण, शास्त्रीय विचार आदि में ही अधिक उपयोगी होते हैं। भिन्न-भिन्न शास्त्रों में बहुत से शब्द तो विलक्षण ही अर्थ देते हैं और पारिभाषिक कहलाते हैं। शास्त्र-मीमांसक या तत्त्व-निरूपक को किसी सामान्य तथ्य या तत्त्व तक पहुँचने की जल्दी रहती है, इससे वह किसी सामान्य धर्म के अंतर्गत आने वाली बहुत-सी बातों को एक मानकर अपना काम चलाता है; प्रत्येक का अलग-अलग दृश्य देखने दिखाने में नहीं उलझता।

पर कविता कुछ वस्तुओं और व्यापारों को मन के भीतर मूर्त्त रूप में लाना और प्रभाव उत्पन्न करने के लिए कुछ देर रखना चाहती है। अतः उक्त प्रकार के व्यापक

अर्थ-संकेतों से ही उसका काम नहीं चल सकता। इससे जहाँ उसे किसी स्थिति का वर्णन करना रहता है, वहाँ वह उसके अंतर्गत सबसे अधिक मर्मस्पर्शिनी कुछ विशेष वस्तुओं या व्यवहारों को लेकर उनका चित्र खड़ा करने का आयोजन करती है। यदि कहीं के घोर अत्याचार का वर्णन करना होगा तो वह कुछ निरपराध व्यक्तियों के वध, भीषण यंत्रणा, स्त्री-बच्चों पर निष्ठुर प्रहार आदि क्षोभकारी दृश्य सामने रखेगी। ''वहाँ घोर अत्याचार हो रहा है।'' इस वाक्य द्वारा वह कोई प्रभाव नहीं उत्पन्न कर सकती। अत्याचार शब्द के अंतर्गत न जाने कितने व्यापार आ सकते हैं, अतः उसे सुनकर या पढ़कर संभव है कि भावना में एक भी व्यापार स्पष्ट रूप से न आए या आए भी तो ऐसा जिसमें मर्म को क्षुब्ध करने की शक्ति न हो।

उपर्युक्त विचार से ही किसी व्यवहार या शास्त्र के पारिभाषिक शब्द भी काव्य में लाए जाने योग्य नहीं माने जाते। हमारे यहाँ के आचार्यों ने पारिभाषिक शब्दों के प्रयोग 'अप्रतीतत्त्व' दोष माना है। पर दोष स्पष्ट होते हुए भी चमत्कार के प्रेमी कब मान सकते हैं? संस्कृत के अनेक कवियों ने वेदांत, आयुर्वेद, न्याय के पारिभाषिक शब्दों को लेकर बड़े-बड़े चमत्कार खड़े किए हैं वा अपनी बहुज्ञता दिखाई है। हिंदी के किसी मुकदमेबाज कवित्त कहने वाले ने 'प्रेम फौजदारी' नाम की एक छोटी सी पुस्तक में शृंगार रस की बातें अदालती कार्रवाइयों पर घटाकर लिखी हैं। 'एक तरफा डिग्री', 'तनकीह' ऐसे-ऐसे शब्द चारों ओर अपनी बहार दिखा रहे हैं, जिन्हें सुनकर कुछ अशिक्षित या भद्दी रुचि वाले वाह-वाह भी कर देते हैं।

शास्त्र के भीतर निरूपित तथ्य को भी जब कोई कवि अपनी रचना के भीतर लेता है, तब वह पारिभाषिक तथा अधिक व्याप्ति वाले जाति-संकेत शब्दों को हटाकर उस तथ्य को व्यंजित करने वाले कुछ विशेष मार्मिक रूपों और व्यापारों का चित्रण करता है। कवि गोचर और मूर्त्त रूपों के द्वारा ही अपनी बात कहता है। उदाहरण के लिए गोस्वामी तुलसीदास जी के ये वचन लीजिए :

जेहि निसि सकल जीव सूतहिं तब कृपापात्र जन जागै।

इसमें माया में पड़े हुए जीव की अज्ञान दशा का काव्य-पद्धति पर कथन है। और देखिए। प्राणी आयु भर क्लेश-निवारण और सुख प्राप्ति का प्रयास करता रह जाता है और कभी वास्तविक सुख-शांति प्राप्त नहीं करता; इस बात को गोस्वामीजी यूँ सामने रखते हैं --

डासत ही गई बीति निसा सब,
कबहुँ न नाथ। नींद भर सोयो।

भविष्य का ज्ञान अत्यंत अद्‌भुत और रहस्यमय है। जिसके कारण प्राणी आने

वाली विपत्ति की कुछ भी भावना न करके अपनी दशा में मग्न रहता है। इस बात को गोस्वामी जी ने 'चरै हरित तृत बलिपशु' इस चित्र द्वारा व्यक्त किया है। अंग्रेज कवि पोप ने भी भविष्य के अज्ञान का यही मार्मिक चित्र लिया है, यद्यपि उसने इस अज्ञान को ईश्वर का बड़ा भारी अनुग्रह कहा है :

उस बलिपशु को देख आज जिसका तू, रे नर!
अपने रँग में रक्त बहाएगा बेदी पर।
होता उसको ज्ञान कहीं तेरा है जैसा,
क्रीड़ा करता कभी उछलता फिरता ऐसा?
अंतकाल तक हरा-हरा चारा चभलाता।
हवन हेतु उस उठे हाथ को चाटे जाता।।
आगम का अज्ञान ईश का परम अनुग्रह।।*

बातचीत में भी जब किसी को अपने कथन द्वारा कोई मार्मिक प्रभाव उत्पन्न करना होता है, तब वह इसी पद्धति का आलंबन करता है। यदि अपनी पत्नी पर अत्याचार करने वाले किसी व्यक्ति को उसे समझाना है तो वह कहेगा कि 'तुमने इसका हाथ पकड़ा है'। यह न कहेगा कि 'तुमने इसके साथ विवाह किया है।' विवाह शब्द के अंतर्गत न जाने कितने विधि-विधान हैं जो सबके सब एकबारगी मन में आ भी नहीं सकते और उतने व्यंजक या मर्मस्पर्शी भी नहीं होते। अतः कहने वाला उनमें से जो सबसे अधिक व्यंजक और स्वाभाविक व्यापार 'हाथ पकड़ना' है, जिससे सहारा देने का चित्र सामने आता है, उसे भावना में लाता है।

तीसरी विशेषता कविता की भाषा में वर्ण-विन्यास की है। ''शुष्को वृक्षस्तिष्ठत्यग्रे'' और 'नीरसतरुरिह विलसति पुरतः' का भेद हमारी पंडित-मंडली में बहुत दिनों से प्रसिद्ध चला आता है। काव्य एक बहुत ही व्यापक कला है। जिस प्रकार मूर्त विधान के लिए कविता चित्र-विद्या की प्रणाली का अनुसरण करती है उसी प्रकार नाद-सौष्ठव के लिए वह संगीत का कुछ-कुछ सहारा लेती है। श्रुति-कटु मानकर कुछ वर्णों का त्याग, वृत्ति-विधान, लय, अंत्यानुप्रास आदि नाद सौंदर्य-साधन के लिए ही हैं। नाद-सौष्ठव के निमित्त निरूपित वर्ण विशिष्टता को हिंदी के हमारे कुछ पुराने कवि इतनी दूर तक घसीट ले गए कि उनकी बहुत सी रचना बेडौल और भावशून्य हो गई। उसमें अनुप्रास की लंबी लड़ी

---

*The lamp thy riot dooms to bleed today,
Had he the reason, would he skip and play?
pleased to the last he crops the flow'ry, food,
And licks the hand Just raised to shed his blood,
The blindness to the future kindly given.

-- वर्ण-विशेष की निरंतर आवृत्ति -- के सिवाय और किसी बात पर ध्यान नहीं जाता। जो बात भाव या रस की धारा का मन के भीतर अधिक प्रसार करने के लिए थी, वह अलग चमत्कार या तमाशा खड़ा करने के लिए काम में लाई गई।

नाद-सौंदर्य से कविता की आयु बढ़ती है। तालपत्र, भोजपत्र, कागज आदि का आश्रय छूट जाने पर भी वह बहुत दिनों तक लोगों की जिह्वा पर नाचती रहती है। बहुत-सी उक्तियों को लोग, उनके अर्थ की रमणीयता इत्यादि की ओर ध्यान ले जाने का कष्ट उठाए बिना ही, प्रसन्न-चित्त रहने पर गुनगुनाया करते हैं। अतः नाद-सौंदर्य का योग भी कविता का पूर्ण स्वरूप खड़ा करने के लिए कुछ न कुछ आवश्यक होता है। इसे हम बिलकुल हटा नहीं सकते। जो अंत्यानुप्रास को फालतू समझते हैं, वे छंद को पकड़े रहते हैं, जो छंद को ही फालतू समझते हैं, वे लय में ही लीन होने का प्रयास करते हैं। संस्कृत से संबंध रखने वाली भाषाओं में नाद-सौंदर्य के समावेश के लिए बहुत अवकाश रहता है। अतः अंग्रेजी आदि अन्य भाषाओं की देखादेखी, जिनमें इसके लिए कम जगह है, अपनी कविता को हम इस विशेषता से वंचित कैसे कर सकते हैं?

हमारी काव्यभाषा में एक चौथी विशेषता भी है, जो संस्कृत से ही आई है। वह यह है कि कहीं-कहीं व्यक्तियों के नामों के स्थान पर उनके रूप-गुण या कार्यबोधक शब्दों का व्यवहार किया जाता है। ऊपर से देखने में तो पद्य के नपे हुए चरणों में शब्द खपाने के लिए ही ऐसा किया जाता है, पर थोड़ा विचार करने पर इसमें गुरुतर उद्देश्य प्रकट होता है। सच पूछिए तो यह बात कृत्रिमता बचाने के लिए की जाती है। मनुष्यों के नाम यथार्थ में कृत्रिम संकेत है, जिनसे कविता की पूर्ण परिपोषकता नहीं होती। अतएव कवि मनुष्यों के नामों के स्थान पर कभी-कभी उनके ऐसे रूप गुण या व्यापार की ओर इशारा करता है जो स्वाभाविक और अर्थगर्भित होने के कारण सुनने वाले की भावना के निर्माण में योग देते हैं। गिरिधर, मुरारि, त्रिपुरारि, दीनबंधु, चक्रपाणि, मुरलीधर, सव्यसाची इत्यादि शब्द ऐसे ही हैं।

ऐसे शब्दों को चुनते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि वे प्रकरण-विरुद्ध या अवसर के प्रतिकूल न हों। जैसे, यदि कोई मनुष्य किसी दुर्धर्ध अत्याचारी के हाथ से छुटकारा पाना चाहता हो तो उसके लिए ''हे गोपिकारमण! हे वृंदावन-बिहारी!'' आदि कहकर कृष्ण को पुकारने की अपेक्षा 'हे मुरारि! हे कंसनिकंदन!' आदि संबोधनों से पुकारना अधिक उपयुक्त है; क्योंकि श्रीकृष्ण के द्वारा कंस आदि दुष्टों का मारा जाना देखकर उसे उनसे अपनी रक्षा की आशा होती है, न कि उनका वृंदावन में गोपियों के साथ विहार करना देखकर। इसी तरह किसी आपत्ति से उद्धार पाने के लिए कृष्ण को 'मुरलीधर' कहकर पुकारने की अपेक्षा 'गिरधर' कहना अधिक अर्थसंगत है।

अलंकार

कविता में भाषा की सब शक्तियों से काम लेना पड़ता है। वस्तु या व्यापार की भावना चटकीली करने और भाव को अधिक उत्कर्ष पर पहुँचाने के लिए कभी किसी वस्तु का आकार या गुण बहुत बढ़ाकर दिखाना पड़ता है; कभी उसके रूप-रंग या गुण की भावना को उसी प्रकार के और रूप-रंग मिलाकर तीव्र करने के लिए समान रूप और धर्मशाली और-और वस्तुओं को सामने लाकर रखना पड़ता है। कभी-कभी बात को भी घुमा-फिराकर कहना पड़ता है। इस तरह के भिन्न-भिन्न विधान अैर कथन के ढंग अंलकार कहलाते हैं। इनके सहारे से कविता अपना प्रभाव बहुत कुछ बढ़ाती है। कहीं-कहीं तो इनके बिना काम ही नहीं चल सकता। पर साथ ही यह स्पष्ट है कि ये साधन हैं, साध्य नहीं। साध्य को भुलाकर इन्हीं को साध्य मान लेने से कविता का रूप कभी-कभी इतना विकृत हो जाता है कि वह कविता ही नहीं रह जाती। पुरानी कविता में कहीं-कहीं इस बात के उदाहरण मिल जाते हैं।

अलंकार चाहे अप्रस्तुत वस्तु-योजना के रूप में हों (जैसे, उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा इत्यादि में), चाहे वाक्य-वक्रता के रूप में (जैसे अप्रस्तुत-प्रशंसा, परिसंख्या, व्याज-स्तुति विरोध इत्यादि में), चाहे वर्ण-विन्यास के रूप में (जैसे, अनुप्रास में) लाए जाते हैं, वे प्रस्तुत भाव या भावना के उत्कर्ष-साधन के लिए ही मुख के वर्णन में जो कमल, चंद्र आदि सामने रखे जाते हैं वह इसीलिए जिनमें इनकी वर्ण रुचिरता, कोमलता, दीप्ति इत्यादि के योग के सौंदर्य की भावना और बढ़े। सादृश्य या साधर्म्य दिखाना उपमा, उत्प्रेक्षा इत्यादि का प्रकृत लक्ष्य नहीं है। इस बात को भूलकर कवि-परंपरा में बहुत से ऐसे उपमान चला दिए गए हैं जो प्रस्तुत भावना में सहायता पहुँचाने के स्थान पर बाधा डालते हैं। जैसे, नायिका का अंग-वर्णन सौंदर्य की भावना प्रतिष्ठित करने के लिए ही किया जाता है। ऐसे वर्णन में यदि कटि का प्रसंग आने पर भिड़ या सिंह की कमर सामने कर दी जाएगी तो सौंदर्य की भावना में क्या वृद्धि होगी? प्रभात के सूर्यबिंब के संबंध में इस कथन से कि ''हे शोणित-कलित कपाल यह किल कापालिक काल की'' अथवा शिखर की तरह उठे हुए मेघखंडके ऊपर उदित होते हुए चंद्रबिंब के संबंध में इस उक्ति से कि ''मनहुँ क्रमेलक-पीठि पै धर्‌यो गोल घंटा लसत'', दूर की सूझ चाहे प्रकट हो, पर प्रस्तुत सौंदर्य की भावना की कुछ भी पुष्टि नहीं होती।

पर जो लोग चमत्कार ही को काव्य का स्वरूप मानते हैं, वे अलंकार को काव्य का सर्वस्व कहा ही चाहें। चंद्रालोककार तो कहते हैं कि :

अंगीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलं कृती।।

भरत मुनि ने रस की प्रधानता की ओर ही संकेत किया था; पर भामह, उद्‌भट आदि कुछ प्राचीन आचार्यों ने वैचित्र्य का पल्ला पकड़ अलंकार को प्रधानता दी। इनमें बहुतेरे आचार्यों ने अलंकार शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थ में -- रस, रीति, गुण आदि काव्य में प्रयुक्त होने वाली सारी सामग्री के अर्थ में -- किया है। पर ज्यों-ज्यों शास्त्रीय विचार गंभीर और सूक्ष्म होता गया त्यों-त्यों साध्य और साधनों को विविक्त करके काव्य के नित्य स्वरूप या मर्म-शरीर को अलग निकालने का प्रयास बढ़ता गया। रुद्रट और मम्मट के समय से ही काव्य का प्रकृत स्वरूप उभरते-उभरते विश्वनाथ महापात्र के साहित्य-दर्पण में साफ ऊपर आ गया।

प्राचीन गड़बड़झाला मिटे बहुत दिन हो गए। वर्ण्य-वस्तु और वर्णन-प्रणाली बहुत दिनों से एक-दूसरे से अलग कर दी गई है। प्रस्तुत-अप्रस्तुत के भेद में बहुत-सी बातों के विचार और निर्णय के सीधे रास्ते खोल दिए हैं। अब यह स्पष्ट हो गया है कि अलंकार प्रस्तुत वर्ण्य वस्तु नहीं; बल्कि वर्णन की भिन्न-भिन्न प्रणालियाँ हैं, कहने के खास-खास ढंग हैं। पर प्राचीन अव्यवस्था के स्मारक-स्वरूप कुछ अलंकार ऐसे चले आ रहे हैं, जो वर्ण्य-वस्तु का निर्देश करते हैं, और अलंकार नहीं कहे जा सकते -- जैसे स्वभावोक्ति, उदात्त, अत्युक्ति। स्वाभावोक्ति को लेकर कुछ अलंकार-प्रेमी कह बैठते हैं कि प्रकृति का वर्णन भी तो स्वभावोक्ति अलंकार ही है। पर स्वाभवोक्ति कोटि में आ ही नहीं सकती। अलंकार वर्णन करने की प्रणाली है। चाहे जिस वस्तु या तथ्य के कथन को हम किसी अलंकार प्रणाली के अंतर्गत ला सकते हैं। किसी वस्तु-विशेष से किसी अलंकार प्राणाली का संबंध नहीं हो सकता। किसी तथ्य तक वह परिमित नहीं रह सकती। वस्तु-निर्देश अलंकार का काम नहीं, रस-व्यवस्था का विषय है। किन-किन वस्तुओं, चेष्टाओं या व्यापारों का वर्णन किन-किन रस के विभावों और अनुभावों के अंतर्गत आएगा, इसकी सूचना रसनिरूपण के अंतर्गत ही हो सकती है।

अलंकारों के भीतर स्वभावोक्ति का ठीक-ठीक क्षण-निरूपण हो भी नहीं सका है। काव्यप्रकाश की कारिका में यह लक्षण दिया गया है :

स्वभावोक्तिस्तु डिम्भादेः स्वकिया रूप-वर्णनम्।

अर्थात् ''जिसमें बालकादिकों की निज की क्रिया या रूप का वर्णन हो वह स्वभावोक्ति है।'' प्रथम तो बालकादिक पद की व्याप्ति कहाँ तक है, यही स्पष्ट नहीं। अतः यही समझा जा सकता है कि सृष्टि की वस्तुओं के रूप और व्यापार का वर्णन स्वभावोक्ति है। खैर, बालक की रूपचेष्टा को लेकर ही स्वाभावोक्ति की अलंकारता पर विचार कीजिए। वात्सल्य में बालक के रूप आदि का वर्णन आलंबन विभाव के अंतर्गत और उसकी चेष्टाओं का वर्णन उद्दीपन विभाग के अंतर्गत होगा। प्रस्तुत वस्तु की रूप-क्रिया आदि

के वर्णन को रस-क्षेत्र से घसीटकर अलंकार-क्षेत्र में हम कभी नहीं ले जा सकते। मम्मट ही के ढंग के और आचार्यों के लक्षण भी हैं। अलंकार-सर्वस्वकार राजानक रुय्यक कहते हैं :

सूम-वस्तु-स्वभाव-यथावद्वर्णनं स्वभावोक्तः।

आचार्य दंडी ने अवस्था की योजना करके यह लक्षण लिखा है --

नानावस्थं पदार्थानां रूपं साक्षाद्विवृण्वती।
स्वभावोक्तिश्च जानिचेत्याद्या सालंकृतिर्यथा।

बात यह है कि स्वाभावोक्ति अलंकारों के भीतर आ ही नहीं सकती। वक्रोक्तिवादी कुंतल ने भी इसे अलंकार नहीं माना है।

जिस प्रकार एक कुरूप स्त्री अलंकार लादकर सुदर नहीं हो सकती, उसी प्रकार प्रस्तुत या तथ्य की रमणीयता के अभाव में अलंकारों का ढेर काव्य का सजीव स्वरूप नहीं खड़ा कर सकता। केशवदास के पचीसों पद्य ऐसे रखे जा सकते हैं जिनमें यहाँ से वहाँ तक उपमाएँ और उत्प्रेक्षाएँ भरी हैं, शब्दसाम्य के बड़े खेल-तमाशे जुटाए गए हैं, पर उनके द्वारा कोई मार्मिक अनुभूति नहीं उत्पन्न होती। इन्हें कोई सहृदय या भावुक काव्य न कहेगा। आचार्यों ने भी अलंकारों की 'काव्य शोभाकर', 'शोभातिशायी' आदि ही कहा है। महाराज भोज भी अलंकार को 'अलमर्थमलंकर्तुः' ही कहते हैं। पहले से सुंदर अर्थ को ही अलंकार शोभिक कर सकता है। सुंदर अर्थ की शोभा बढ़ाने में जो अलंकार प्रत्युक्त नहीं वे काव्यालंकार नहीं। वे ऐसे ही हैं जैसे शरीर पर से उतार कर किसी अलग कोने में रखा हुआ गहनों का ढेर। किसी भाव या मार्मिक भावना से असंपृक्त अलंकार चमत्कार या तमाशे हैं। चमत्कार विवेचन पहले हो चुका है।

अलंकार है क्या? सूक्ष्म दृष्टि वालों ने काव्यों के सुंदर-सुंदर स्थल चुने और उनकी रमणीयता के कारणों की खोज करने लगे। वर्णन-शैली या कथन की पद्धति में ऐसे लोगों को जो-जो विशेषताएँ मालूम होती गईं, उनका वे नामकरण करते गए। जैसे, 'विकल्प' अलंकार का निरूपण पहले-पहल राजानक रुय्यक ने किया। कौन कह सकता है कि काव्यों में जितने रमणीय स्थल हैं, सब ढूँढ़ डाले गए, वर्णन की जितनी सुंदर प्रणालियाँ हो सकती हैं सब निरूपित हो गईं अथवा जो-जो स्थल रमणीय लगे, उनकी रमणीयता का कारण वर्णन प्रणाली थी। आदि काव्य रामायण से लेकर इधर तक के काव्यों से न जाने कितनी विचित्र वर्णन प्रणालियाँ भरी पड़ी हैं, जो न निर्दिष्ट की गई हैं और न जिनके कुछ नाम रखे गए हैं।

कविता पर अत्याचार

कविता पर अत्याचार भी बहुत कुछ हुआ है। लोभियों, स्वार्थियों और खुशामदियों

ने उसका गला दबाकर कहीं अपात्रों की -- आसमान पर चढ़ने वाली -- स्तुति कराई है, कहीं द्रव्य न देने वालों की निराधार निंदा। ऐसी तुच्छ वृत्ति वालों का अपवित्र हृदय है। कविता के निवास के योग्य नहीं। कविता देवी के मंदिर ऊँचे, खुले, विस्तृत और पुनीत हृदय है। सच्चे कवि राजाओं की 'सवारी, ऐश्वर्य की सामग्री में ही सौंदर्य नहीं ढूँढ़ा करते। वे फूस के झोपड़ों, धूल मिट्टी में सने किसानों, बच्चों के मुँह में चारा डालते हुए पक्षियों, दौड़ते हुए कुत्तों और चोरी करती हुई बिल्लियों में कभी-कभी सौंदर्य का दर्शन करते हैं जिसकी छाया भी महलों और दरबारों तक नहीं पहुँच सकती। श्रीमानों के शुभागमन पर पद्य बनाना, बात-बात में उनको बधाई देना, कवि का काम नहीं। जिनके रूप या कर्म कलाप जगत और जीवन के बीच में उसे सुंदर लगते हैं, उन्हीं के वर्णन में वह 'स्वांतः सुखाय' प्रवृत्त होता है।

कविता की आवश्यकता

मनुष्य के लिए कविता इतनी प्रयोजनीय वस्तु है कि संसार की सभ्य-असभ्य सभी जातियों में, किसी न किसी रूप में पाई जाती है। चाहे इतिहास न हो, विज्ञान न हो, दर्शन न हो, पर कविता का प्रचार अवश्य रहेगा। बात यह है कि मनुष्य अपने ही व्यापारों का ऐसा सघन और जटिल मंडल बाँधता चला आ रहा है जिसके भीतर बँधा-बँधा वह शेष सृष्टि के साथ अपने हृदय का संबंध भूला-सा रहता है। इस परिस्थिति में मनुष्य को अपनी मनुष्यता खोने का डर बराबर रहता है। इसी से अंतःप्रकृति में मनुष्यता को समय-समय पर जगाते रहने के लिए कविता मनुष्य जाति के साथ लगी चली आ रही है और चली चलेगी। जानवरों को इसकी जरूरत नहीं।

❑

जॉन ड्राइडन

अनु. : अरविंद कुमार

काव्यानुवादक की कला

(वर्जिल, लूक्रीशियस, थियोक्रिटस और होरेस)

जॉन ड्राइडन (जीवनकाल : 1631 से 1700) अंग्रेजी के कवि, समालोचक और नाटककार थे। 1670 से 1688 तक वह इंग्लैंड के पोएट लारिएट या राजकवि भी रहे। काव्यानुवाद पर उनके ये विचार एक काव्य-संग्रह पर उनकी भूमिका से लिए गए हैं। इस काव्य-संग्रह में उनके अतिरिक्त अन्य कवियों द्वारा किए गए अनुवाद भी थे।

ड्राइडन का गद्य भारी-भरकम है, उसमें लंबे-लंबे वाक्य हैं, एक-एक वाक्य में कई उपवाक्य हैं। उनके पैराग्राफ भी लंबे हैं। कोई-कोई पैरा तो एक पृष्ठ से भी बड़ा है। अनुवादक ने उनके वाक्यों और पैराग्राफों की लंबाई को बरकरार रखने का यथासंभव प्रयास किया है।

उनकी भाषा विद्वतापूर्ण है। अतः उसका आभास देने के लिए विषय के अनुकूल अनुवाद की भाषा भी अधिकांशतः संस्कृतनिष्ठ रखी गई है।

--संपादक

गत छह महीनों से मैं एक ऐसे रोग से पीड़ित रहा हूँ जिसे मैं अनुवाद का रोग कहूँगा। मुझे इन दिनों नीरस और कष्टप्रद 'हिस्टरी ऑफ द लीग' के अनुवाद के दौरे आते रहे। ड्राइडन ने मेमबर्ग की फ्रांसीसी रचना 'हिस्त्वार द ला लीग' का अनुवाद इंग्लैंड के राजा के आदेश पर किया था। बेमन से किया गया यह अनुवाद जुलाई 1684 में प्रकाशित हुआ था। उसके बाद पड़े इस रोग के सरस काव्यात्मक दौरे, जिनकी परिणति है विविध पद्यानुवाद। सच तो यह है कि मैंने सोचा था कि दौरों से इस गुणात्मक परिवर्तन से मुझे कुछ राहत मिलेगी, यह आशंका तक न थी कि यह लहर थियोक्रिट्स

के दो-तीन पास्तोरलो और होरेस के दो-तीन गीतों में ही अपना दम तोड़ देगी (पास्तोरल ऐसे छंद या काव्य-कृतियाँ होती हैं जिनमें ग्राम्य जीवन का वर्णन होता है। ओड़ का निकटतम हिंदी अनुवाद वंदना किया जा सकता है, यह देव वंदना भी हो सकती है और प्रिय की वंदना भी, लेकिन मुझे ऐसा लगता है कि इनमें मेरी अपनी साधारण कृतियों से कुछ अधिक चारुता है, अतः मैंने अपने आपको लूक्रीसियस (ईसा पूर्व की पहली शताब्दी का रोमन कवि और दार्शनिक) और वर्जिल (उसी काल का रोमन कवि) से अपना पुराना परिचय दोबारा स्थापित करने और बढ़ाने के लिए प्रोत्साहित किया, मैंने तुरंत ही उन अंशों पर ध्यान केंद्रित किया जिन्होंने पहले कभी मुझे बहुत प्रभावित किया था, इस उद्यम के लिए यही मेरी स्वाभाविक प्रेरणाएँ थीं लेकिन एक संयोग ने भी मेरे उद्यमों को बल प्रदान किया -- जिसने भी यह संयोग जुटाया भगवान उसे क्षमा करे, यह संयोग था काव्यानुवाद पर लॉर्ड रास्कामन का निबंध (रास्कामन के चौथे अर्ल -- वेंटवर्थ डिल्लन, जन्म 1633, निधन 1685) इस निबंध ने मुझे यह देखने के लिए आतुर कर दिया कि मैं उनके द्वारा प्रतिपादित नियमों का पालन कर सकता हूँ या नहीं, और मैं अपनी धारणाओं को व्यावहारिक रूप देने के लिए तत्पर हुआ।

काव्य में अनेक सुरूप लक्षण ऐसे होते हैं जैसे ज्यामितीय गणित द्वारा प्रदर्शित सिद्धांत जिनमें आकृति सांगोपांग संपूर्ण होने पर भी आवश्यक नहीं है कि यांत्रिक कसौटी पर वह खरी उतरे, मेरा विचार है कि आमतौर पर मैं उनके (लॉर्ड रास्कामन के) निर्देशों का पालन कर पाया हूँ। मुझे विश्वास है कि उन निर्देशों की सत्यता और उपयोगिता को मैंने अपने तर्क द्वारा काफी हद तक सही और उपयोगी पाया है। दूसरे शब्दों में कहें तो यह मेरी दर्पोक्ति भी है कि कई स्थलों पर मैंने उनके लक्षणों के लिए उदाहरण प्रस्तुत किए हैं (भारतीय काव्य के विद्यार्थियों को इससे हिंदी के रीतिकाल की याद आ जानी चाहिए, जब पहले तो कवि अलंकार आदि के लक्षण लिखता था और बाद में उन लक्षणों को कविता में उतारता था -- अनुवादक)। लेकिन मुझे यह भी मानना होगा कि कई स्थलों पर मैंने अपनी सीमाओं का अतिक्रमण किया है, मैंने मूल रचनाओं में कुछ जोड़ा है और कुछ घटाया भी है, मैंने अपने लेखकों की ऐसी दुस्साहसपूर्ण व्याख्या की है जिसे डच समालोचक क्षमा नहीं करेंगे, शायद मुझे इन जगहों पर एक ऐसा सौंदर्य देखने को मिला जो उन वाक्-विदग्ध पंडितों की नजर से ओझल था, एक ऐसा सौंदर्य जिसे देख पाना कवि के अतिरिक्त किसी और के लिए संभव न था, जहाँ मैंने कुछ अभिव्यक्तियों को हटा दिया है या तराश कर छोटा कर दिया है तो ऐसा संभवतः इस विचार से किया है कि जो ग्रीक और लैटिन भाषाओं में सुंदर मालूम पड़ता था वह अंग्रेजी में उतना दिव्य नहीं लगेगा, और जहाँ मैंने अभिव्यक्तियों में कुछ जोड़ा है,

वहाँ मैं चाहता हूँ कि दांभिक आलोचक हमेशा यह समझें कि वे अतिरिक्त विचार पूर्णतः मेरे विचार हैं, लेकिन यह भी समझें कि वे या तो प्रच्छन्न रूप से कवि में विद्यमान थे या उससे उनकी अवधारणा कर लेना अनुचित नहीं है और अगर ये दोनों आधार भी पर्याप्त न हों तो यह समझा जाए कि मेरे द्वारा की गई इस प्रकार की अभिवृद्धि मूल कवि की भावना के ही अनुरूप है, और अगर वह जीवित होता और अंग्रेज होता, तो शायद वह भी यह लिखता।

आखिरकार, अनुवादक का काम यह है कि वह मूल को यथासंभव आकर्षक बनाकर पेश करे, बशर्ते कि वह उनकी मूल प्रकृति की रक्षा कर पाए और उसे इतना -- न बदल दे कि उसका निजी स्वरूप ही परिवर्तित हो जाए, अनुवाद एक प्रकार से जीवन की अनुकृति है, सभी सहमत होंगे कि अनुकृति दो तरह की होती है -- अच्छी और बुरी, रूपरेखा यथावत् बना लेना, नाक-नक्शा सही उतार लेना बिलकुल सही अनुपात कर लेना, और संभवतः कामचलाऊ रंग भी भर लेना -- यह सब एक बात है; लेकिन इन सब में लालित्य, मुद्रा, भाव-भंगिमा और रंगों का उतार-चढ़ाव डाल पाना, एक ऐसी सचलता भर पाना जो इन सब में जान डाल दे -- यह एक बिलकुल अलग बात है, किसी अच्छी मूल रचना की घटिया नकल पर रुष्ट हुए बिना नहीं रह पाता, मुझ में इतनी सहनशीलता, इतना धीरज नहीं है कि जिन वर्जिल, होमर और अन्य कवियों के सौंदर्य को हृदयंगम करने की साधना मैं जीवनपर्यंत करता रहा हूँ उन्हें कोई थेगलबाजी अनुवादक यूँ ही बिगाड़ दे, यह बात मैं ऐसे अनुवादकों के मुँह पर ही कहने के लिए तैयार हूँ, ओगलबी जैसों के अनुवाद पढ़ाकर कौन अंग्रेजी पाठक विश्वास करेगा कि ये वही कवि हैं जिनसे मैं और मुझ जैसे अन्य अंग्रेजी कवि प्रेरणा लेते हैं, किसी को हमारी इस उक्ति में विश्वास होगा कि हम में जो कुछ सह्य या श्लाघनीय है उसका स्रोत ये महान कवि हैं ग्रीक और लैटिन भाषाओं से अपरिचित पाठक ओगलबी जैसों के अनुवाद पढ़कर उन्हें महान कवि मानेगा ही कैसे? मैं उन पाठकों को बताना चाहता हूँ कि फूहड़ अनुवादों में मूल कवि अभिव्यक्त नहीं होता, जैसे कि सड़े शव में जीवन नहीं होता। कई ऐसे लेखक हैं जो ग्रीक और लैटिन तो अच्छी तरह जानते हैं, लेकिन वे अपनी मातृभाषा नहीं जानते, अंग्रेजी भाषा की प्रकृति और लालित्य से बहुत कम लोग ही परिचित हैं अच्छी बहुमुखी शिक्षा, साहित्य का दीर्घकालीन अध्ययन, हमारे बीच कुछ अच्छे शैलीकारों की कृतियों में गहरी पैठ, शालीनों में उठने-बैठने का ढंग, सुसंस्कृत स्त्री-पुरुषों से संपर्क, संक्षेप में कहें तो, जब ज्ञान का माल चढ़ाते-चढ़ाते लगी जंग को उतारे बिना अच्छे से अच्छे विद्वान के लिए भी अंग्रेजी जानना, प्रयोग कर पाना असंभव है, इसलिए अंग्रेजी की शुद्धता को समझना अच्छे और बुरे लेखक के लिए बीच भेद

कर पाना कुत्सित और उचित शैली की पहचान कर पाना, यही नहीं इसके साथ-साथ यह जान पाना कि किसी एक ही लेखक में अच्छा क्या है और अनिष्ट और घटिया क्या है -- यह सब बड़ा कठिन है, इस विवेक की कमी के कारण हमारे अधिकतर मेधावी नवयुवक किसी भी ऐसे अंग्रेजी कवि को अपना आदर्श बना लेते हैं जिसके नाम का ढिंढोरा पिट रहा हो, और फिर उसी के अनुकरण में जुट जाते हैं; वे यह नहीं जान पाते कि उस कवि में कहाँ कमी है, कहाँ उच्छृंखलता और बचकानापन है, उन्हें यह भी पता नही होता कि कहाँ उसके विचार वर्ण्य विषय के अनुकूल नहीं हैं, कहाँ उनकी अभिव्यक्ति विचार की अपेक्षा क्षीण है और कहाँ दोनों में सामंजस्य की कमी है, इससे स्पष्ट हो जाता है कि किसी विदेशी भाषा से अनुवाद शुरू करने से पहले अपनी भाषा का अच्छा समालोचक होना आवश्यक है, शब्दों का और शैली का विवेक ही पर्याप्त नहीं है, उनके प्रयोग में पूरी दक्षता भी होनी चाहिए; अनुवादकों को अपने लेखक की भाषा की पूरी समझ हो और अपनी भाषा पर पूरा अधिकार, बढ़िया अनुवादक होने के लिए उसे बढ़िया कवि भी होना चाहिए, मूल कवि के भावों को अच्छी अंग्रेजी, सुंदर काव्योक्तियों और संगीतमय छंदों में कह देना काफी है, यह सही है कि यह सब कर पाना आसान नहीं है पर इतना करके भी एक कठिनतर कर्म बचा रह जाता है, इस रहस्य पर अधिकतर अनुवादकों ने पर्याप्त विचार नहीं किया है, इसके बारे में संकेत के तौर पर मैं एक दो शब्द पहले कह चुका हूँ, यह कर्म -- मूल कवि के लक्षणों की, प्रकृति की, अपनेपन की रक्षा, उसके उस भाव की रक्षा जो उसे अन्य कवियों से अलग करता है, विशिष्ट बनाता है, जो उसे एक ऐसा अनोखा कवि बनाता है जिसे आप अपनी भाषा के पाठकों तक पहुँचाना चाहते हैं उदाहरण के लिए, वर्जिल और ओविड के विचार ही नहीं, उनकी शैली और उनकी छंद-रचना भी एक-दूसरे से बहुत भिन्न है, लेकिन मैंने देखा है कि हमारे अच्छे कवियों तक ने उनके जो अनुवाद किए हैं उनमें उनकी भिन्न क्षमताएँ आपस में मिल गई मालूम पड़ती हैं मधुरता और सामंजस्य लाने के प्रयास में उन दोनों को एक-सा बना दिया गया है, अगर मैंने उन दोनों की मूल रचनाओं को न पढ़ा होता तो उनके अनुवादों से यह पहचान करना कठिन हो जाता कि कौन सी रचना ओविड की और कौन वर्जिल की है। एक बड़े और दिवंगत चित्रकार पर आरोप लगाया गया था कि उसने सुंदर चित्र तो अनेक बनाए पर सच्चे चित्र उनमें बहुत कम थे इसका कारण यह था कि वह अपने मॉडलों को कम और स्वयं अपने आपको अधिक स्थापित करने का प्रयत्न करता था, ऐसे अनुवादकों के काम से मुझे यह तो पहचान हो जाती है कि यह अनुवाद किसने किया है, लेकिन जिसको अनूदित किया गया है, उसकी पहचान नहीं होती।

मान लीजिए दो कवियों में एक जैसा माधुर्य है, लेकिन एक की मधुरता शक्कर जैसी होती है और दूसरे की शहद जैसी, यह अंतर स्पष्ट करने के लिए अगर उचित समझा जाए तो मैं इस संग्रह में से चार कवियों --वर्जिल, थियोक्रिटस, लूक्रीशियस और होरेस के अनुवादों के बारे में अपनी प्रक्रिया बताना चाहूँगा। अनुवाद आरंभ करने से पहले मैंने इन में से हरेक की प्रतिभा और विशिष्ट लक्षणों पर गौर किया। वर्जिल मुझे सुस्पष्ट और गंभीर गौरवशाली लेखक लगा, वह अपने हर विचार, शब्द और वाक्यांश को तौलता है, वह अपने भाव को कम से कम शब्दों में समाने का प्रयत्न करता है, इसीलिए उसका वाक्य अलंकारिक और प्रतीकात्मक है और मैं कहूँगा कि उसको समझने के लिए एक प्रकार से एक अलग ही व्याकरण-विधान चाहिए। उसमें छंद आपके कानों में वैसी ही ध्वनियाँ गुंजाते हैं जो उनके भावों के अनुरूप होती हैं, फिर भी छंदों की विविधता निरंतर परिवर्तनशील है, जिससे पाठक का आनंद बढ़ जाता है, यहाँ तक कि एक साथ वही ध्वनियाँ नहीं दोहराई जाती। इसके विपरीत ओविड और क्लाडियन, हालाँकि एक-दूसरे से भिन्न शैलियों में लिखते हैं, फिर भी उनके छंदों में एक जैसा ही संगीत होता है, क्लाडियम की काव्य प्रक्रिया और अविविधता चार या पाँच पंक्तियों के छंद की सीमा मे आबद्ध होती है और इसके बाद वह फिर उसी लहजे में शुरू करता है, अपने भाव को वह इस एक छंद में पूरा कर देता है, वह छंद जिसे 'गोल्डन' (स्वर्णिम) कहते हैं -- दो विशेष्य और दो विशेषणों के बीच शांति बनाए रखने के लिए एक क्रिया इसी तरह, अपनी तमाम मधुरता के बावजूद ओविड में छंद और ध्वनि की लेशमात्र विविधता नहीं है; वह हमेशा सहज दुलकी चाल चलता मालूम पड़ता है, उसकी कविता मखमली जमीन पर दौड़ती है, ओविड की ही तरह वह विशिष्ट ध्वनि संयोगों से कतराता है मानो सहज गति के साथ-साथ उसे विविधता और भव्यता की भी तलाश हो।

मैं फिर वर्जिल पर लौटता हूँ। जहाँ सहजता चाहिए, वहाँ वह सहज है, लेकिन वह सहजता का दिखावा नहीं करता, बल्कि ऊपरी तौर पर लगता है कि उसे सहजता पसंद नहीं है। कई बार वह ध्वनियों को आपस में मिला देता है, और अपना भाव छंद के बीच में कहीं समाप्त कर देता है, वाक्चातुर्यपूर्ण सूक्तियों के दंभ और अतिशयोक्तियों से वह दूर है; सादगी के बीच वह भव्यता की रचना करता है; वह दमकता है लेकिन चुँधियाता नहीं; वह राजसिक है लेकिन महत्त्वाकाँक्षी नहीं -- एक ऐसा दोष जो लूकन में ऐब बन जाता है, मैंने काव्यपटुता की अपनी परिभाषा वर्जिल के अध्ययन से प्राप्त की है; शब्दों और विचारों की संतुलित मर्यादा उसी में मिलती है, और जहाँ भी यह संतुलन है वहाँ आह्लाद और आनंद की प्राप्ति आवश्यंभावी है, कारण और परिणाम के परस्पर संबंध जितना अवश्यंभावी वर्जिल का यह नपा-तुला संतुलन, उसकी मर्यादा

मुझे उसके काव्य का सबसे महत्त्वपूर्ण लक्षण प्रतीत हुई, लेकिन लज्जा के साथ मुझे स्वीकार करना पड़ता है कि मैं उसके किसी एक अंश के भी अनुवाद में उसकी पूरी छवि नहीं उतार पाया हूँ मूल रचना जहाँ-जहाँ सुगठित है, वहाँ उतने ही क्षेत्र में कोई अनुवाद, कोई अन्य रूपांतर उस तक नहीं पहुँच सकता, हानीबाल कारो ने 1581 में जो इतालवी अनुवाद किया था वह वर्जिल की 'इनीअड' का निकटतम, सर्वाधिक काव्यात्मक, और सुंदरतम ध्वनियों से परिपूर्ण अनुवाद है (इस अनुवाद के बारे में ड्राइडन का मत बाद में इतना प्रशंसापूर्ण नहीं रहा था -- अनुवादक) लेकिन साथ ही यह भी कहना पड़ेगा कि हानीबाल ने यह अनुवाद मुक्त छंद (ब्लैंक वर्स) में किया है, जो कि वर्जिल का अपना छंद नहीं है। और उसने वर्जिल की एक पंक्ति का अनुवाद दो पंक्तियों में किया है, और कई बार वर्जिल के भाव भी पूरी तरह नहीं उतर पाए हैं तासो ने अपने पत्रों में बताया है कि समकालीन इतालवी प्रत्युत्पन्नमति विद्वान स्पेरोने स्पेरोनी ने कवि वर्जिल और भाषण पर तुल्ली के बारे में यह कहा था कि लैटिन भाषणकर्त्ता ने तो ग्रीक कवि होमर की शब्द-बहुलता की नकल की और लैटिन कवि ने ग्रीक भाषणकर्त्ता डिमास्थनीज की मितव्ययिता के अनुकरण का बीड़ा उठा लिया। वर्जिल ने शब्दों का इतना मितव्ययी इस्तेमाल किया है और पाठकों की कल्पनाशीलता के लिए इतना अधिक अनकहा छोड़ दिया है कि किसी भी आधुनिक भाषा में उसका यथारूप अनुवाद नहीं किया जा सकता, अनुवाद में शब्दों की प्रचुरता से उसका चरित्र बदल जाता है, और पंक्ति प्रति पंक्ति उसका अनुवाद किया नहीं जा सकता। इतालवी, स्पेनी, फ्रांसीसी या अंग्रेजी (एकाक्षरी या एक ध्वनि शब्दों की बहुलता के कारण अंग्रेजी भाषा तो सबसे अधिक सारगर्भी है) के मुकाबले लैटिन स्वभावतः बड़ी संक्षिप्त या सामासिक भाषा है। तमाम रोमन कवियों में वर्जिल संक्षिप्ततम हैं, और लैटिन के हेक्सामीटर छः पदों वाले छंद में अंग्रेजी के हीरोइक छंद से अधिक पद होते हैं।

इससे भी बड़ी बात यह है कि मूल लेखक को अपने विचारों और शब्दों के चयन में पूरी स्वतंत्रता होती है, जो अनुवादक के पास नहीं होती, वह मूल रचनाकार के भावों से बँधा होता है, और उनके निकटतम शब्दों को उसे चुनना होता है। अतः संक्षिप्ति का प्रेमी वर्जिल अपनी भाषा पर अपने अधिकार के कारण अपने भावों को कम से कम शब्दों की परिधि में समेट सकता था इन्हें विस्तार दिए बिना अनुवादक का काम नहीं चल सकता। संक्षेप में कहना चाहें तो यूँ कहेंगे कि जिन लोगों ने वर्जिल को वैयाकरणों का त्रासक कहा है वे उसे अनुवादकों का महारोग भी कह सकते थे, मानो उसने अनुवाद्यता की शपथ ले रखी हो। मैं समझता हूँ कि उसकी रचना 'निस एंड यूरियालस' का निकटतम अनुवाद करने की कोशिश में मैंने शब्दानुवाद या अभिधात्मक

अनुवाद ज्यादा किया है मैं यह भी मानता हूँ कि 'मेत्सेंतियस एंड लॉसस' को खुलने की अधिक गुंजाइश देने का परिणाम यह हुआ है कि उसके जिस संस्करण में भव्यता अधिक है उसमें संक्षिप्ति कम है, मैं अपने पक्ष में यही आशा करता हूँ कि मेरे ये दोनों अनुवाद ओगलबी के अनुवादों से बेहतर हैं और शायद कारों के अनुवाद के समक्ष मुझे अपने बारे में ऐसा लगता है कि कोई अभियुक्त फाँसी के फँदे पर झूलने से पहले अन्य कवियों को चेता रहा हो कि मेरे अंजाम से सबक लें और अनुवाद द्वारा वर्जिल को भ्रष्ट करने से बाज आएँ फिर भी अनुवाद करने से पहले वर्जिल का गहन अध्ययन करने के परिणामस्वरूप मैं वर्जिल से कुछ साम्यता ला पाया हूँ। अगर मैं और समय लगाता, तो शायद और बेहतर अनुवाद हो पाता, लेकिन मुझसे पूर्ण संतोष देने योग्य अनुवाद तब भी नहीं हो पाता।

जो अपनी भाषा का सर्वोत्तम कवि है, अगर उसके साथ न्याय होना है, तो हमारी भाषा में भी वह अपनी भाषा के अन्य कवियों से बेहतर नजर आना चाहिए और जैसा कि लॉर्ड रास्कामन ने कहा है कि हमारी अंग्रेजी भाषा राजसिक भव्यता में रोमन भाषा के निकटतम है, लेकिन निकटतम होते हुए भी इन दोनों भाषाओं के बीच भारी अंतराल है, वर्जिल की शब्दावली में एक अननुकरणीय शालीनता है, शब्द चयन में एक ऐसा अनिर्वचनीय सौंदर्य है जो उन शब्दों की प्रबलता पहचानने वालों को अभिभूत कर लेता है एक बार फिर मैं कहूँगा कि इस शब्द प्रवणता का अनुकरण नहीं किया जा सकता, परिणामस्वरूप वर्जिल के अच्छे से अच्छे अनुवाद में भी दोष दिखाई देगा। उसकी काव्य रचना, उसकी यतियाँ, उसका संयम और मर्यादा, उसकी लयमयता, उसकी गंभीरता -- इन सबका अनुकरण मैंने अपनी भाषा में दारिद्रय और अपनी जल्दबाजी की सीमाओं की परिधि में यथाशक्ति करने का प्रयत्न किया है हो सकता है कि कई बार मैं उसके मूल भाव से हटता नजर आऊँ; लेकिन मेरा विचार है कि जहाँ परिवर्तन बहुत अधिक है वहाँ उस परिवर्तन का स्रोत स्वयं वर्जिल में पाया जा सकता है इसका अनुमान लगाया जा सकता है। जहाँ मैं वर्जिल के भाष्यकारों से बिलकुल हट गया हूँ दूर चला गया हूँ वहाँ मैं कहूँगा कि मैं वर्जिल को बेहतर समझ पाया हूँ वहाँ अन्य भाष्यकारों के और मेरे भाष्य में अंतर है : कई स्थलों पर तो मैंने उनके भाष्य पढ़े बिना ही अनुवाद किया है, लेकिन 'मेत्सेनतियस एंड लोसस' की दो पंक्तियों के बारे में मेरे पास कोई जवाब नहीं है वर्जिल के भूल भाव से उनका दूर का ही संबंध है, उनमें ओविड की उच्छृंखलता कोमलता की झलक कहीं ज्यादा है, और जब तक उसे पूरी तरह विचार करके मैं उन्हें बदल पाता, वे छप चुकी थीं उनमें से पहली तो मैं पूरी तरह भूल चुका हूँ, और वह मिल भी नहीं पा रही क्योंकि उसकी पांडुलिपि छापेखाने में है दूसरी पंक्ति

इस प्रकार है --

When Lausus died, I was already slain
लौसेस मरने से पहले हो चुका था मेरा खून

पहली नजर में यह पंक्ति काफी ठीक नजर आती है, लेकिन कई कारणों से मुझे लगता है कि यह अभिव्यक्ति बड़ी धृष्ट है, वर्जिल इसे कभी लिखता, हालाँकि ओविड से ऐसी पंक्ति की आशा की जा सकती है मुझे आशा है कि पाठक मेरी इस स्वीकारोक्ति को क्षमा करेंगे, और उसकी जगह निम्नलिखित दो पंक्तियों को स्वीकार कर लेंगे जो मूल लेखक के अधिक निकट है :

Nor ask I life, nor fought with that design
As I had used my fortune, use thou thine.

जीवन दान नहीं माँगता मैं, न जान की खातिर मैं लड़ा था, जैसे भाग्य का उपयोग किया था मैंने; भोग तू भी अपनी नियति को।

वर्जिल पर इतने ताम-झाम से विचार करके अब मैं लूक्रीशियस की प्रतिभा के आकलन पर आता हूँ। उसके जो अंश मैंने हाथ में लिए, उनका अनुवाद भी बड़ा सुखद हुआ है, वह रोमन काव्य के सर्वोत्तम काल का तो नहीं लेकिन उससे बिलकुल पहले के काल का महान कवि था, अपने काल को श्रेष्ठता की कोटि तक परिष्कृत करने में उसका भारी योगदान था, उसने भाषा और विचार, दोनों को सँवारा और वर्जिल का काम आसान कर दिया। अनुवर्ती वर्जिल ने लूक्रीशियस की उत्कृष्टताओं का अनुकरण किया; जार्जिक्स या कृषि काव्यों की रीति तो सीधे लूक्रीशियस से ही ली गई है, लूक्रीशियस ने एक ऐसा विषय चुना था जो प्रकृति से ही क्लिष्ट और कर्कश था, अतः उसने काव्यात्मक वर्णनों से इसे सजाया-सँवारा, पुस्तकों के आरंभ और अंतर में नैतिकता के सिद्धांत जोड़े, आप देखते हैं कि वर्जिल ने उन चार पुस्तकों में इसका बड़ा अच्छा अनुकरण किया है जो मेरी राय में उसकी दिव्य रचना 'इलियट' से भी उत्कृष्ट है, ऐसे स्थलों में उसके काव्य का प्रवाह भी वैसा ही है जिसकी स्थापना के लिए लूक्रीशियस को बड़ी मेहनत करनी पड़ी थी। कई जगहों पर तो वर्जिल ने लूक्रीशियस की पंक्तियाँ तक इस्तेमाल कर ली हैं, और उनमें कोई उल्लेखनीय परिवर्तन नहीं किया है।

अगर मैं बहुत गलत नहीं समझा हूँ तो लूक्रीशियस का, मेरा मतलब है उसकी आत्मा और प्रतिभा का, विशिष्ट लक्षण है एक खास तरह का गौरवपूर्ण स्वाभिमान, और अपने मतों का प्रबल प्रतिपादन। हर स्थान पर वह अपने मत के औचित्य के बारे में पूरी तरह आश्वस्त है, न केवल साधारण अकुलीन पाठक बल्कि स्वयं अपने संरक्षक मेम्मियस पर उसका निर्बाध आधिपत्य है। हर जगह वह उसे परिचर्या का आदेश देता

रहता है, मानो उसके हाथ में कोई आदेश-दंड है, और जब वह उसे उपदेश देता है तो लगता है मानो कोई न्यायाधीश हो, तब से अब तक मैंने वे माम्सबरी के अपने कवि दार्शनिक हाब्सके अलावा लूक्रीशियस जैसा कोई नहीं देखा। लूक्रीशियस लगातार एक तरह की तानाशाही चलाता है अक्सर वह गलती पर होता है, फिर भी पाठक को पूरी निष्ठा के साथ आदेश देता रहता है, उसे सिर्फ वही बताता है जो वह बताना चाहता है। इस बेबाक निष्ठा में वह हमारे हाब्स से कुछ भिन्न है, क्योंकि हाब्स जिन शाश्वत सत्यों का विरोध करता है उसमें से कुछ के औचित्य पर उसे विश्वास या संदेह हो जाता है। लेकिन लूक्रीशियस कोई भी तर्क, कोई भी उत्तर सुनने को तैयार ही नहीं है। उसे तो अपनी धारणाओं पर इतना अधिक विश्वास है कि वह अपने विरोधियों के सारे तर्कों का पूर्वानुमान करके उनके अंतिम उत्तर दे डालता है और भविष्य में भी उनके लिए कोई गुंजाइश नहीं छोड़ता। और यह सब वह बड़े रोष और तिरस्कार के साथ करता है, जैसे कि अखाड़े में उतरने से पहले ही वह अपनी विजय के प्रति आश्वस्त हो। ऐसी महत् और साहसिक प्रतिभा का अवश्यंभावी फल यही हो सकता था कि उसके विचारों में पौरुष हो, तर्क हो और उष्णता हो। उसके इस स्वभाव ने उसकी अभिव्यक्तियों को उच्चता और उसकी कविता को अटूट प्रवाह प्रदान किया है, विशेषकर उन स्थलों पर जहाँ विषय की अनुर्वरता इसकी कल्पना की त्वरित गति को बाधित नहीं करती। निस्संदेह हर स्थल पर वह उतना ही काव्यात्मक हो सकता था जितना वह अपने वर्णनों में और अपने दर्शन की नैतिकता के बखान में है, लेकिन उसका उद्देश्य प्रकृति की प्रक्रिया पर व्याख्यान देना अधिक था, पाठक को आनंद देना कम। वह अपने संरक्षक मेम्मियस को भौतिकवादी बनाने पर तुला था, वह उसे किसी अदृश्य शक्ति के प्रति अवज्ञा सिखाना चाहता था। संक्षेप में कहें तो वह इतना बड़ा वास्तिक था कि प्रायः कवि होना भूल जाता था। उसके कुछ अंशों का अनुवाद आरंभ करने से पहले ही मैंने उसके बारे में अपने मन में इस प्रकार विचार-विमर्श किया। और कुछ देर के लिए अपनी झिझक और असहमति को उठाकर ताक पर रख दिया क्योंकि उसके अड़ियल तौर-तरीके को अभिव्यक्ति देना था -- जैसा कि मैंने कहा यही उसकी अपनी अलग काव्य-पहचान है। जहाँ तक उसके इस विश्वास का प्रश्न है कि आत्मा अमर नहीं है, यह अपने आप में इतना असंगत है कि मैं चाहूँ तो भी इसमें विश्वास नहीं कर सकता। मैं समझता हूँ कि भविष्य की ऐसी कल्पना, जिसमें कर्मों का न पुरस्कार मिलता हो न दंड और इस कल्पना का प्राकृतिक नियमों के आधार पर तर्कपूर्ण समर्थन -- उन लोगों के लिए बड़ा लुभावना है जिन्होंने पहले से ही तय कर लिया है कि उन्हें अनैतिक जीवनयापन करना है। दूसरी ओर यह विचार कि मृत्यु के बाद

हम कुछ नहीं रहेंगे, पूर्णतः अस्तित्वहीन हो जाएँगे, किसी भी नैतिक मनुष्य के लिए, चाहे वह विधर्मी ही क्यों न हो, एक बड़ा भारी बोझ है। हम सब सुख चाहते हैं, यह हमें सह्य नहीं होता कि मुख का काल केवल हमारा वर्तमान और क्षणिक अस्तित्व तक सीमित हो, विशेषकर इसलिए भी कि हम देखते हैं कि इस जीवनकाल में सदाचारी अधिकतर दुःखी होता है और दुराचारी भाग्यशाली। अतः भविष्य की आशा ही इस जीवन को सहनीय बनाती है, हमें उम्मीद होती है कि कम से कम आगे तो कुछ अच्छा मिलेगा। लेकिन यह इस पक्का भरोसा हो कि इस जन्म में वह बचा रह सकता है और मृत्यु के बाद दंड मिलने का सवाल ही नहीं है, तो ऐसा कौन है जो मनमाने अनाचार और अत्याचार नहीं करने लगेगा। अगर कोई चालाक हो और अपने कारनामों को इतना छिपाकर रख सके कि कानून उसका कुछ नहीं बिगाड़ सके, तो नैतिकता का बंधन उसे दुराचार से रोक नहीं सकता। क्योंकि यश और नेकामी के बंधन कमजोर होते हैं; कई लोगों को उनकी परवाह बिलकुल नहीं होती। शक्तिशाली लोगों पर उनका बस उतना ही असर होता है जितना अपने स्वार्थों की रक्षा के लिए उनके हित में है, और वह असर भी तब लुप्त हो जाता है जब उनकी कोई कामना, कोई आवेग उन पर हावी हो जाता है। अगर सीमातिक्रमण में कोई खतरा न हो तो कोई भी आदमी कर्त्तव्य की परिधि में नहीं रहेगा। ये मेरे निजी विचार हैं, मैं ईसाई धर्म की बारीकियाँ पादरियों के लिए छोड़ दे रहा हूँ, वह क्षेत्र उन्हीं का है।

लेकिन इस कविता में (जिसका मैंने अंग्रेजी में अनुवाद किया है) दूसरे भी तर्क हैं, जिनका संबंध आत्मा की नश्वरता से नहीं है और जो किसी भी न्यायसंगत प्राणी के लिए अपने आप में काफी शक्तिशाली तर्क हैं। इनसे आदमी का जीवन के प्रति मोह कम होता है और परिणामतः मृत्यु का डर भी उतना ही कम हो जाता है। जैसे कि एक ही विषय के अत्यधिक भोग से होने वाली स्वाभाविक संतृप्ति, अभाव की भावना और उस विषय में उजपने वाली अरुचि, वृद्धावस्था की कठिनाइयाँ, जिनसे भौतिक विषय भोगों में असमर्थता आती है; समझ और स्मृति का क्षय, जिससे मनुष्य दूसरों के लिए हेय और व्यर्थ हो जाता है; ये और ऐसे ही अन्य तर्क हैं जिन्हें बड़े दयनीय भाव से विकसित किया गया है, सुंदर शैली में अभिव्यक्त किया गया है, उदाहरणों-उपमाओं से अलंकृत किया गया है और स्वयं प्रकृति को मानवी बनाकर इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है कि वह बड़े अधिकारपूर्वक और पूरे बल से अपने बच्चों को बताती दिखाई गई है। यह सब इन योग्य था कि उन्हें अनुभूति करने के लिए मैं इतना कष्ट उठाऊँ, और मुझे आशा है कि उनके अनुवाद में मैं असफल नहीं रहा हूँ, अपने मूल कवि के प्रति मैं अयोग्य सिद्ध नहीं हुआ हूँ। मैं समझता हूँ कि मैं अपने उद्‌गमों के परिणाम

से संतुष्ट हूँ -- ऐसा मेरे साथ कम ही होता है; इस लेखक के साथ मैंने जो भी किया है, जो भी मैं कर पाया हूँ, उसके पुनराकलन से मैं संतुष्ट नहीं हूँ।

यह सही है कि लूक्रीशियस की चौथी पुस्तक 'नेचर ऑफ लव' के मेरे द्वारा अंग्रेजीकरण के संबंध में एक अन्य आपत्ति उठाई जा सकती है और वह आपत्ति इतनी निराधार भी नहीं है। मैंने यह अनुवाद कैसे किया --यह बताना आसान है, लेकिन क्यों किया -- इसका उत्तर देना कठिन है। इस आपत्ति का आधार है विषय की अश्लीलता, जो छंद की जीवंतता और आकर्षक कमनीयता से और भी द्विगुणित हो जाती है, जवाब में, किसी प्रकार का बहाना किए बिना, मैं कहूँगा कि यह अंश मुझे पसंद आया; इस स्वीकारोक्ति का उपयोग मेरे दुश्मन जैसे चाहें करें, मैं अपनी वासनाओं से इतना मुक्त नहीं हुआ हूँ कि मुझे अपने मूल लेखक से उत्तेजक नुस्खे हासिल करने पड़ें, उसने रोग और औषधि का इतना सच्चा और दार्शनिक वर्णन किया है जैसा मुझे किसी अन्य लेखक में नहीं मिला; इसलिए मैंने उसका अनुवाद किया। लेकिन यह भी पूछा जाएगा कि मैंने उसके लिए रसीली अंग्रेजी क्यों लिखी। (इस अंश की भाषा के लिए मैं इससे अधिक घातक शब्द इस्तेमाल नहीं कर सकता)। इसका जवाब देने के बजाय मैं अपने नक्कू आलोचक से इतना ही पूछूँगा कि अपने मूल लेखक के साथ पूरा-पूरा न्याय करने के लिए क्या यह मेरा कर्त्तव्य नहीं है कि मैंने उसे सर्वोत्तम रीति से प्रस्तुत करूँ? वह जो कहना चाहता है उसकी निष्ठा और ज्ञानप्रदत्ता के बारे में मैं पूरी तरह आश्वस्त हूँ, तो उसके अर्थों पर पर्दा डालना, उन्हें छिपाना या ढँकना, या उसके कुछ अंशों को बिलकुल छोड़ देना, या उसकी अभिव्यक्ति की प्रबलता को कम करना यह उसके साथ अन्याय करना होता; उन विचारों और शब्दों की उन्मुक्तता को अपने हाथ से कतरने का मतलब होता कि वह लूक्रीशियस नहीं रह पाता। अगर इस तरह के शब्द पढ़े ही नहीं जाने हैं तो चिकित्सक शरीर का अध्ययन नहीं कर पाएँगे, शरीर रचना या एनाटोमी को देखा ही नहीं जाएगा, मैं कुछ किताबों के अंशों और उद्धरणों के नाम भी ले सकता हूँ पर अश्लीलता से बचने के लिए उन्हें अनकहा छोड़े दे रहा हूँ। किसी कर्म या क्रिया की कसौटी अभिप्राय है; मेरा और मेरे लेखक का अभिप्राय शिक्षा और आनंद प्रदान करना है। निश्चय ही नग्न लंपटता को हाजिरजवाबी या वाग्वैदिग्ध्य का बहाना नहीं बनाया जा सकता। इसके विपरीत कुछ कहूँ तो दो महान आदर्श मेरे विरुद्ध होंगे, इनमें से एक है (जॉन शेफील्ड कृत) 'ऐस्से ऑन पोएट्री' जिसके रचयिता से परिचित हो पाने से पहले मैंने उसका सार्वजनिक अभिनंदन किया था, और जिसकी प्रशंसा से लॉर्ड रॉस्कामन ने अपने 'ऐस्से ऑन ट्रांस्लेटेड वर्स' का शुभारंभ किया है। दूसरा है हम सबका बहुप्रशंसित काब्ली, जो वही बात दूसरे शब्दों में कहता है। अपनी 'ओड कंसर्निंग

विट' में उसने लिखा है --

Much less can that have any place,
At which a virgin hides her face,
Such dross the fire must purge away, tis just
The author blush, there where the reader must.
उसको कोई स्थान और भी नहीं मिलेगा;
जिसको देख कुमारी लज्जानत मुँह ठाँपे।
अग्नि बनाए निर्मल ऐसी अभिव्यक्ति को;
शर्माए कवि वहाँ, जहाँ पाठक शर्माए।

निश्चय ही यहाँ मिस्टर काब्ली 'ऐस्से' से भी आगे बढ़ जाते हैं। स्पष्ट शब्दों में वे कहते हैं कि अश्लीलता के लिए वाक्चातुर्य में कोई स्थान नहीं है, 'ऐस्से' में तो उन्होंने इतना ही कहा है कि वह वाक्चातुर्य, वह 'विट' हेय है, जिसका आधार बेशर्म अश्लीलता से अधिक कुछ नहीं है; वह अपने आप में अशिष्ट है और पाठक के लिए सीमातिक्रमण है। लेकिन इनमें से कोई भी धारणा मेरे मामले में ठीक नहीं बैठती। क्योंकि प्रथम तो मैं मूल लेखक या मूल रचयिता नहीं हूँ, मात्र अनुवादक हूँ; इसलिए आलोचना का अधिकतम भार स्वयं लूक्रीशियस पर पड़ता है, और उसके बाद मुझ तक पहुँचता है; दूसरा बचाव यह है कि न तो उन्होंने और न मैंने कहीं भी फूहड़ शब्दों का प्रयोग किया है, बल्कि ऐसी साफ-सुथरी उपमाएँ काम में ली हैं जिनमें अर्थ विस्तार है; और अंत में अपने पक्ष में यह कहूँगा कि हमने दार्शनिक आवश्यकता से अधिक काव्य को नहीं बढ़ाया है।

(इसके बाद कुछ पंक्तियों में ड्राइडन अपने अनुवाद की एक पंक्ति में गलत शब्द का इस्तेमाल हो जाने का जिक्र करता है, और उस पंक्ति में वह शब्द बदल कर लिखता है। वह कहता है कि ऐसी छोटी गलतियों पर शोर मचाना बात का बतंगड़ बनाना है)।

चित्रकला की तरह वाक्य में भी सही आकलन संपूर्ण और विहंगम दृष्टि से करके ही तय किया जाता है कि अमुक रचना अच्छी है या नहीं; जहाँ गलतियों की अपेक्षा सुंदरताएँ अधिक हों, वहाँ निर्णय छिद्रान्वेषी आलोचक की अपेक्षा कवि के पक्ष में रहता है; जब एक शब्द या वाक्यांश पर आक्रमण हो रहा हो तो यह इस बात का लक्षण है कि द्वेषीजन मुसीबत में है, उन्हें आक्रमण के लिए कोई उचित बिंदु नहीं मिल पा रहा; किसी पर आरोप लगाना एक बात है और उसकी छीछालेदर करना या छिद्रान्वेषण करना अलग बात है। किसी एक पीढ़ी के निंदक आलोचकों से ऊपर उठकर मानवता अंत में अच्छे रचनाकारों के प्रति न्याय कर पाती है। मिथ्या आलोचक अच्छे रचनाकारों

और मानवता के साझे शत्रु होते हैं, उनके मुकाबले एक-दूसरे की सहायता करना रचनाकारों और मानवता के हित में है। इसी विचार से मुझे याद आया (ड्राइडन का तात्पर्य ऑक्सफोर्ड के टॉमस क्रीच से है, जिसने 1682 में लूक्रीशियस के संपूर्ण साहित्य का अनुवाद प्रकाशित करवाया) उसने पूरे लूक्रीशियस का अनुवाद किया था, मेरे पल्ले तो बस एक अंश पड़ा है। जो मैंने अब किया है वह उससे बहुत अधिक नहीं है जो मैं बीस साल पहले करना चाहता था। हम दोनों के अनुवाद का ढंग बहुत भिन्न है। मेरे मुकाबले वह लूक्रीशियस के बहुत निकट है; पूरे काव्य में अनुवादक के लिए वह उचित भी था। मैंने अपने अनुवाद में बहुत अधिक स्वतंत्रता ली है। मेरे अभिप्राय के लिए यह उचित था, क्योंकि मैं लूक्रीशियस को यथासंभव आनंददायक बनाना चाहता था। अगर वह मेरा ढंग अपनाता तो पूरा काव्य बेहद लंबा हो जाता, और अगर मुझे पूरे लूक्रीशियस का अनुवाद करना होता तो मैं उसका ढंग अपनाता। प्राथमिक आदर का अधिकारी वही है। मिस्टर एवलिन के साथ मैं भी अपना स्वर मिलाता हूँ, लेकिन साथ में ये शब्द और जोड़ना चाहता हूँ कि जहाँ तक इस मूल लेखक का प्रश्न है उसकी (क्रीच की) ख्याति स्थापित हो चुकी है, जबकि मेरे अनुवाद को साहित्य-जगत में अभी अपना स्थान बनाना है।

मेरी भूमिका बढ़ती जा रही है। लगता है कि मैं अपने पाठक से भयभीत हूँ, तभी इतने विस्तार से दुरुह बातें कर रहा हूँ, और अभी तो होरेस तथा थियोक्रिटस के बारे में कहना बाकी है, लेकिन इन ग्रीक महानुभावों के बारे में कहने के समय कम लगेगा क्योंकि उनके मुकाबले मेरा उद्यम रोमन कवियों से संबंधित है।

वह चीज, जो थियोक्रिटस को अन्य कवियों से अलग करती है और जो उसे वर्जिल के इक्लोग्स से भी ऊँचा उठाती है, उसके आवेगों की सुकुमारता है, और ग्वाल काव्यों (पास्तोरलों) में उन आवेगों की सुंदर-स्वाभाविक अभिव्यक्ति है। वह जो भी लिखता है, उसमें एक सादगी होती है; वह अपने काव्य और अपनी विद्वता का प्रदर्शन उन्हें प्रच्छन्न रख कर करता है। उसके गड़रिए जब प्रेम-भरे शिकवे करते हैं तो वे अपनी ग्राम्य शिक्षा के स्तर से ऊपर कभी नहीं उठते। उसमें और वर्जिल में उतना ही अंतर है जितना तासो के 'अमिता' और गुआरीनी के 'पास्तर फिदो' में। वर्जिल के गड़रियों ने इपीक्यूरस और प्लेटो के दर्शनशास्त्रों को अच्छी तरह पढ़ रखा है; और लगता है गुआरीनी के गड़रिए दरबारों में पले-बढ़े हैं। लेकिन थियोक्रिटस और तासो ने अपने गीत गड़रियों और चरागाहों में से लिए हैं। तासो की उपमाओं के बारे में कहा गया था कि वह जंगलों से बाहर कभी नहीं जाता, और उसने सारे दृष्टांत देहात से लिए हैं। यही बात थियोक्रिटस के बारे में कही जा सकती है। वह ओविड से कहीं अधिक

कोमल है, आवेगों को वह बड़ी सुकुमारता से छूता है, अपनी तमाम रचनाधर्मिता वह अपनी पृष्ठभूमि में उठाता है, उच्च कला और विज्ञान की शरण में नहीं जाता। यहाँ तक कि उसकी डोरिक उपभाषा या बोली के मसखरेपन में एक अद्वितीय मिठास है, मानो कोई बाला हमारी अपनी सुंदर गड़रियन देहाती पोशाक पहने यार्कशायर के लहजे में बोल रही हो। इसका अनुकरण कर पाना वर्जिल के लिए असंभव था, क्योंकि लैटिन भाषा की परुष संयतता उसे इसका अवसर नहीं देती। हमारे अपने स्पेंसर ने 'शैफर्ड्स कलेंडर' में इसका अनुकरण करने की कोशिश की है; लेकिन यह अंग्रेजी में भी चल नहीं पाता; इसलिए मैंने इसका प्रयास ही नहीं किया। थियोक्रिटस अपने समकालीन भाषा-भाषियों के लिए लिख रहा था। वे वही बोली बोलते थे; और मेरा अनुवाद आज की महिलाओं के लिए जो न तो गँवार बोली समझती हैं और न वह उन्हें पसंद है।

अब मैं होरेस को लेता हूँ। होरेस के विषय में मुख्यतः हमें उसकी त्रिमुखी प्रतिभा के संदर्भ में विचार करना होगा क्योंकि वह आलोचक था, व्यंग्यकार था और लेखक था। हर जगह उसकी नैतिकता एक समान है; उसके उच्च व्याख्याकार कुछ भी कहें, थियोक्रिटस की विचारधारा इपीक्यूरियन है, भोगवादी है; देवताओं और नियति का उपयोग वह केवल काव्य की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए करता है। लेकिन फिलहाल मेरा सरोकार न तो उसकी लिखी आलोचनाओं से है (जो इस क्षेत्र की रचनाओं में सर्वाधिक शिक्षाप्रद है) और न उसके व्यंग्यों से जो अद्वितीय हैं। जुवेनाल के व्यंग्यों से बहुत बढ़-चढ़ कर; उनका उद्देश्य हँसना और खिलखिलाना है, न कि हँसी उड़ाना और निंदा करना, इसलिए मैं अपने को उसके वंदना-काव्य ओडों तक सीमित रखता हूँ। ये कई प्रकार के हैं -- कुछ विरुदावली हैं, कुछ में नीति का बखान है, और शेष उल्लासपूर्ण हैं या कहूँ तो वे मद्यगान हैं। कवि पिंडार का अनुकरण करना, उसके सहसा विषय परिवर्तन, विषयों के बीच बस क्षीण से संबंध और कल्पना की ऊँची उड़ान को पकड़ पाना कोई आसान नहीं है, फिर भी स्पष्ट है कि होरेस ने अपना आदर्श थीबीस के उस कवि को ही बनाया है। लेकिन होरेस की कल्पना अपेक्षाकृत सीमित है और एक वंदना में वह अपने आपको एक छंद तक ही सीमित रखता है। जो बात उसे अन्य कवियों से विशिष्ट बनाती है वह है उसका शब्द वैभव और उसके निर्दोष छंद। लैटिन भाषा में उसके समकक्ष सुकुमार कुछ भी नहीं है, उसकी भाषा के, अभिव्यक्ति के हर अंग में एक महान, भव्य और साहसपूर्ण विशुद्धता है। उसने अपने शब्दों का चयन वर्जिल की ही तरह बड़े ध्यान से, सोच-समझ कर किया है, लेकिन वर्जिल की अपेक्षा उसमें जीवंतता अधिक है, उसके चयन में एक प्रच्छन्न आह्लाद है जिसे कवि पेत्रोनियम के काव्य के संदर्भ में 'क्यूरिओज़ा फेलिचिता' उत्सुक उल्लास कहा जाता है, और जो

उसने स्वयं होरेस के 'फेलिचिता उदेअर' श्रव्य से लिया है। लेकिन मुझे उसके चरित्र का सबसे महत्त्वपूर्ण भाग उसकी चुस्ती, उसका हर्षोल्लासमय भाव और सुंदर हास्य लगते हैं; और मैंने इन्हीं का अनुकरण करने का प्रयास मुख्यतः किया है। उसकी जो अन्य विलक्षणताएँ हैं, मैं मानता हूँ, उनका अनुकरण मेरे बस के बाहर है। एक वंदना मुझे बेहद अच्छी लगी थी, उसका अनुवाद मैंने पिंडारिक छंद में ही किया है, यह वह वंदना है जो मैंने वर्तमान अर्ल ऑफ रोचेस्टर को समर्पित की है। उनकी कृपा के प्रति यह मेरा कृतज्ञता-ज्ञापन मात्र है, उससे उऋण हो पाना तो संभव नहीं है। लैटिन में यह वंदना उन्हें भी बेहद प्रिय है और मैंने इसे अंग्रेजी में अपनी सर्वोत्तम कृति बनाने का प्रयास किया है। इसी उद्देश्य से मैंने यह छंद चुना क्योंकि अन्य छंदों की अपेक्षा इसमें स्वतंत्रता कहीं अधिक रहती है। सब जानते हैं कि इस काल में हमारी भाषा में इसका प्रवेश मिस्टर काब्ली की सहज प्रतिभा के कारण संभव हो पाया है, प्रत्यक्ष सहजता के कारण इसकी लोकप्रियता बहुत बढ़ गई है; लेकिन इससे सुपरिचित होना ही पर्याप्त नहीं पाया गया है। हाथ काब्ली के अलावा अन्य में पड़ कर इसकी दुर्गति हो रही है, केवल कुछ ही इसका सही उपयोग कर पा रहे हैं शेष को दुखी न करने के विचार से मैं उनके नाम नहीं ले रहा हूँ। इतने कम समय में इतना संभव था, काब्ली ने इस छंद को परिपूर्णता की सीमा तक पहुँचा दिया था, लेकिन यदि मुझे पूरी विनम्रता के साथ कुछ कहने की अनुमति दी जाए तो उसकी दिवंगत आत्मा को कष्ट पहुँचाए बिना मैं कहना चाहूँगा कि अंग्रेजी की शुद्धता में, विचारों की समतुल्यता में, गीतों की मधुरता में, संक्षेप में कहें तो काव्यात्मकता और लयमयता में अभी काफी कसर बाकी है। जहाँ तक इस छंद की आत्मा का प्रश्न है, अभिरुचि की हार्दिकता और उर्जस्विता का, अलंकारिक उत्कृष्टता का, और कल्पनाशीलता की बहुलता का प्रश्न है, वह अन्य सभी से बहुत आगे है। फिर भी, आत्मा में न सही, काया में, सजावट में, सुधार की, परिष्कार की संभावनाएँ हों, तो उन कमियों की ओर इंगित करके ताकि वे भविष्य में सुधारे जा सकें। मैंने नैतिकता के या मान-सम्मान के किन्हीं नियमों को भंग तो नहीं किया है न? अनुकरण श्लाघनीय है; परंतु ऐसा कवि कोई नहीं है जो अपनी हर रचना में पूर्णतः अनुकरणीय हो। मिल्टन का 'पैराडाइज लोस्ट' प्रशंसनीय है, पर इसका यह अर्थ तो नहीं है कि मैं यह न कह सकूँ कि उसकी ऊँचाइयों में पठार भी हैं, जबकि यह स्पष्ट है कि कई बार वह सौ-सौ पंक्तियों तक घिसटता रहता है? ऐसा तो नहीं कि मैं उसकी सृजन क्षमता की ऊँचाइयों को, उसकी अभिव्यक्ति की प्रबलता को सराहूँ, तो उसके शब्दों की पुरातनता का और उनकी ध्वनियों की निरंतर पुरुषता का भी समर्थन करूँ। इतना पर्याप्त है कि हम उसे उत्कृष्ट मानें, इससे आगे तो मूर्ति पूजा या अंध-भक्ति

कहलाएगी। पिंडार गीतकारों का राजकुमार था। मैं समझता हूँ कि हम उसका अनुकरण करें तो हमारे छंदों को मुख्यतः गीतमय होना ही चाहिए। विविधता के लिए, या जहाँ विचारों के लिए आवयक हो उन्हें भव्यता प्रदान करने के लिए, उन्हें बढ़ा कर अंग्रेजी के हीरोइक छंद की पाँच पंक्तियों या फ्रांसीसी छंद अलेग्जांड्रियन की छह पंक्तियों तक खींचा जा सकता है, लेकिन गीत के छंद के चयन में निर्णायक भूमिका श्रुति-मधुरता को मिलनी चाहिए; इस उत्कृष्टता के अभाव में पिंडारिक छंद की सामंजस्यता परिपूर्ण नहीं हो सकती; एक पंक्ति की लय के आधार पर ही अगली पंक्ति की लय होनी चाहिए; पहली पंक्ति की ध्वनि बड़ी सहजता से अगली पंक्ति की ध्वनि में रमी जानी चाहिए। यह न हो कि हम एक छोर से दूसरे छोर तक छलांग लगाने लगें। यह इस तरह किया जाना चाहिए जैसे चित्र में रंग भर जाते हैं जो हल्के से भारी की ओर एक सुनिश्चित क्रम से सीधे-धीरे बढ़ते हैं। यदि मैं अपनी बात समझा सका हूँ तो मुझे बड़ी प्रसन्नता होगी, नहीं समझा पाया तो मैं जुवेनाल के शब्द उधर लेकर यही कहूँगा 'जो बात मेरे मन में है, वह कह नहीं पा रहा हूँ।'

इस विषय पर कहने को तो अभी बहुत कुछ है, लेकिन ईर्ष्या से बचने के लिए मैं मौन हो जाता हूँ। मैंने जो कुछ कहा है यह सर्वोत्तम पारखियों के सामान्य विचारों से हट कर नहीं है, यह सब कहने के लिए मैं इसलिए विवश-सा हो गया कि एक विशेष काव्य-शैली को जहाँ एक व्यक्ति ने भव्यता के साथ पुनर्जीवन दिया वहाँ शेष सबके हाथों उसकी दुर्गति हो रही है। अगर कोई और मिस्टर काब्ली कभी उभरे तो वह किसी अन्य काल में अपनी श्रुति मधुरता और महान प्रतिभा से इसे परिपूर्णता प्रदान कर सकता है। फिलहाल मैं बस यही कहूँगा :

मैं सान के पत्थर की भूमिका अदा कर रहा हूँ।
वह स्वयं तो नहीं काट सकता, लेकिन काटने वाले फौलाद को धार देता है।''

—जॉन ड्राइडन

'सिल्वीः ऑर द सेकंड पार्ट ऑफ पोएटिकल मिसलेनी'
सिल्वीः अथवा काव्य विविधता का द्वितीय भाग की भूमिका से

❑

Udayan Vajpeyi

Towards a Poetics of Non-original

Certain temptations are to be resisted at the outset.

Writing on translations are expected to be didactic. They fall into the trap of invariably providing a working model of translation so that in time it may be put into use. Paradoxically such working models are not expected from the writings about, for example, poetry or fiction. It is not difficult to infer then that the translation is normally considered something redically different from what is usually called 'original'.

We shall return to the nature of this difference later. This preamble is meant to express the inability of this essay to propose any such model.

The writer of a traditional Indian text keeps asserting that his or her writing is but a *bhashya,* a version of what the previous texts have already said. Ramcharitmanas of Goswami Tulsidas begins with a similar assertion explicitly, but in many other texts we find this *bhava* or sense asserted rather obliquely. They are writing the 'already written' for the sake of those who cannot comprehend, for some reason, the previous texts. Whatever later texts are attempting was already present in the previous texts, a kind of intertexuality, as a tree is present in the seed. The tree is always present in the seed and yet the tree is not the seed. But the tree also contains the seed. What is the original -- the seed or the tree?

It can be argued that if modern literature does not behave as above, it is because of its fundamental difference from such traditional texts. The difference between them is usually stated in the invention of the themes; modern literature invents new themes and, therefore, it has a right to call itself original. But in fact this is not the case. The difference lies elsewhere. And when the traditional Indian texts call themselves only versions, they are just trying to avoid their being taken as original.

The question is not of analysing this assertion by rational means which will be to follow another kind of convention, a kind of ritual of another logic.

What matters is that these texts do not take themselves to be original, and behave as versions of something else. The way a text relates itself to the other texts is a significant figure of that text itself. The relationship forms a part of the text. It is entirely internal to it, affecting its very ethos, and constituting its dynamics.

Ironically the whole project of Western poetics which iconizes the figure of the Author (ity), now proclaims the death of the author (Roland Barthes), or whispers, 'What does it matter who is speaking' (Samuel Beckett and Michel Foucault). Are these murmurings suggestive of the burden (of the label of original) on literary texts, embedded in the figure of the Author as originator? Are these not the attempts to get rid of the icon (of the Author) as well as the burden of originality?

How do we situate the question of translation in the texts mentioned above?

The lack of the concept of translation in Indian poetics, otherwise highly sophisticated, is not accidental.

Was it because there were no translations and thus no empirical ground to create such a theory?

Many of the ancient Sanskrit texts were translated into other languages, and, even Greek texts were translated into Sanskrit.

What may be the reason, then, for this lapse?

The answer may lie in the radically different concepts of poetry and language in Indian thought.

Whether arbritrary, as Saussure believes, or divine, as the Bible suggests; language is essentially a phenomenon of exteriority in the Western poetics. Interiority is absent from there. Language is considered to be a phenomenon without interiority. When Walter Benjamin talks of *Pure Language,* reine Sprache, it sounds not only mysterious but totally unreal to a theorist like Paul de Man.

Is not the anxiety of Mallarme related to this very absence?

> "...The imperfection of language consists in their plurality, the supreme one is lacking; thinking is writing without accessories or even whispering, the immortal word still remains silent; the diversity of idioms on earth prevents everybody from uttering the words, which otherwise, at one stroke, would materialize the truth."

Why did plurality of language create a problem for Mallarme?

He thought that the silence of 'immortal words' in the realm of language is because of the presence of a multiplicity of languages. Ultimately he

suggests, albeit in undertone, the abolition of plurality because it hampers the materialisation of, what he meant to be, the embodiment of truth. Something very close to that dreadful dream of Stalin of a master language, his almost successful crusade to displace plural linguistic cultures in the Soviet Union. We are not trying to incriminate Mallarme but just trying to suggest that even a seemingly neutral linguistic belief may result in unpredictable politics.

Bhartrihari's *Vakyapadiya* takes on the Vedic insight of the three levels of Vak or language : *Pashyanti, Madhyama,* and *Vaikhari. Pashyanti* and *Madhyama* are interiors and *Vaikhari* is what is uttered and written. There in no sequence in *Pashyanti Vak,* word and world are undifferenciated: it is simultaneous; Bhartrihari calls it *Brahman*, the one without beginning and end, the one whose *'Vivart'* or unreal reflection is not only *Vaikhari* but also the whole *Padarth Vishwa,* the world. *Madhyama* is the level of language where *'Shabda'* (word) and *'Artha'* (meaning) are differentiated but are unutterd as yet. The palpable surface of this language complex is *Vaikhari* where language experiences itself as sequence. Every uttered and utterable word is *Vaikhari.* The significance of this approach lies in the fact that simultaneity and sequentialness are part of the same language-complex.

We may be excused for digressing a little. The world *(Padarth)* seen as *Vivart,* an unreal reflection of language *(Pad)* establishes a continuum between language and the material world; undoing the abyss which separates these two in so-called modern poetics, and is the main cause of anxiety of modern writers. The situation into which the utterable *Vaikhari* finds itself is paradoxically unsayable; so far as it is *Vivart* (unreal reflection) of *Pashyanti,* it is illusive but is also the only possible way to experience *Pashyanti,* the one without beginning and end. In other words it is only through *Vaikhari Vad* that Brahman experiences itself, becomes aware of itself.

When understood in this sense we can say that the language in which literature is written is not the original language; it is merely an exteriorisation of an internal dialogue. It is always on a non-original level that literature is written. The text is never original. What is original is unutterabe. The original creates the whole drama of utterances so that it becomes aware of itself, so that it can perceive itself. The uttered language *Vaikhari* is already a translation or still better, an enactment of the original. Literature, in spite of its being aware of different layers of language, can be written only in *Vaikhari* and the moment it comes into being, it become non-original, a translation or still better, an *Anuvad* of the Original. It is experienced through literature, yet literature is not that.

Indian Poetics situates literature in a space that translation as a category becomes unnecessary. Whatever is there known by the name of literature

is a translation of the Original.

The word translation itself implies 'transferring'.

Transferring of What?

Meaning is the product of word, and because words are not transferred during translation, it is almost impossible to claim the transferrence of meaning. If we still insist on the transferrance of meaning in the process of translation, we would be believing in the existence of meaning *(artha)* independent of word *(shabda)*. It is neither meaning nor the syntax, it is neither sound nor sense that is transferred in the process of translation. We think it is the pleasure derived from the work that gets transferred. At the same moment we are faced with a very direct question: where was this pleasure in poetry if it does not inhere in words, nor in meaning?

Abhinav Gupta writing after Bharata, calls poetry to be *'anukirtan'.* The root word is *kirtan,* prayer. Abhinava Gupta has no gloss on this word, he just mentions that poetry is *anukirtan* and the existence of *trailokya,* the existence of tripeptide world itself is a *kirtan,* a prayer. I propose that *anukirtan* can be interpreted as a place from where the *kirtan,* prayer, is heard. Poetry is a platform or a balcony from where the 'prayer of existence', 'Prayer of Being', is experienced.

Pleasure resides neither in words nor in meaning, it has a space of its own; we compose platforms to make it experienceable. Like a window, poetry only frames the seen, but does not create it, brings the uncreatable into the zone of perception. The original is not created, it is made perceptible in the act of writing. The hierarchy of the so-called Original and the so-called translation is abolished. Both are *anukirtan,* both are equally poised so far as they make the *kirtan,* the prayer experienceable. They are not 'fragments of a vessel' (pure language) in order to be articulated together to form a whole', as Walter Benjamin thought. Instead they are vessels themselves where the fluid of the unstructurable is framed. All poetry -- whether translation or original -- is non-original in two ways: firstly, that it is written in *Vaikhari Vak* which in turn is exteriorisation of the original, the *Pashyanti Vak,* and secondly, it is not poetry itself which is experienced but it is a unique place, a window from where the original, what the poet Guru Nanak called the unconstructable, is experienced.

Literature understood in the above sense throws the problem of translation into an entirely new context. It acquires an entirely new physiology, a physiology which enables it to be an equal citizen in the city of literature, and the task of the translator becomes as creative as that of any other writer: Creator of the window. Like a poet or a writer of fiction, he also engages himself in the creation of that *anukirtan,* of that balcony from where the *kirtan*

is heard. Translation thus gets rid of that essential guilt of secondness which weighs on it as a result of the poetics of Original. Literature starts resisting the media's efforts to reduce it into a pack of informations or into a commodity which can readily be changed into any language. Translation does not remain then a new package of information transferred from another package as most of the theories of translation make it out to be.

Displacement of Original from modern literature raises some significant issues, like the question of responsibility. If literature is not original and is an attempt to utter the already uttered -- although we have already seen that this assertion is one of the modes of literature to dispel the label of Original -- then who is held responsible for the new utterance and its implication? The debate on both sides of the Atlantic about the writings on war by theorist Paul de Man, along with some of the writings of Martin Heiddeger and Maurice Blanchot, considered fascistic is a case in point. Both the attackers and the defenders consider such writings to be unquestionable crimes. While the attackers are associating these writers with their writing, the defenders are dissociating them from them. The attempt is to incriminate them or to save them so that they can go on existing in peace. The poetics Original essentially ends up creating prophets on one hand and criminals on the other among poets and philosophers. The poetics of non-original de-iconizes these prophetic figures and displaces the incrimination of individual writers by questioning within a tradition. In a culture where poetics of non-original is practised, tradition will try to question itself at a very fundamental level. Instead of incriminating the individual writer or the implications of his/her writings, the possibility of implication will be located in the tradition itself. Incrimination will be displaced by relentless questioning within the tradition, an instance of self-questioning.

As is usually thought, the category of translation is not self-evident: it comes into being as a result of a certain point of view about literature and language. There are other point of views which are still vital to the life of literature and language. The moment we see literature from the point of view of what we have called non-original, the concept of translation itself gets translated into an entirely different phenomenon. It is redeemed from being a slave to so called original and acquires a new body of equality and difference.

❑

डॉ. पूरनचंद टंडन

काव्यानुवाद : प्रक्रियागत समस्याएँ

विश्व की अमर कृतियों को विश्व के पाठकों तक पहुँचाना काव्यानुवाद का मुख्य लक्ष्य है। ज्ञान और भाव -- मनुष्य स्वभाव की ये दो महत्वपूर्ण वृत्तियाँ हैं। ज्ञान, मानव जाति के बौद्धिक विकास का कारणभूत तत्व बनता है तो भाव से उसकी चेतना का परिष्कार होता है। अतः अनुवादक की दृष्टि से अगर देखें तो कहना होगा कि ज्ञान के साहित्य का अनुवाद प्रबुद्ध मानव के बौद्धिक विकास के लिए जितना उपयोगी है, काव्य आदि रागात्मक-साहित्य का अनुवाद भी उसकी अंतर्वृत्तियों की समृद्धि एवं परिष्कार के लिए उतना ही महत्वपूर्ण तथा उपयोगी है। यही कारण है कि प्रत्येक युग का साहित्यकार विविध बाधाओं, कठिनाइयों से जूझता हुआ भी विभिन्न भाषाओं की अमर रचनाओं का रूपांतर कर उन्हें अपनी भाषा (स्रोत भाषा) के सहृदय समाज को सौंपने का महान कार्य करता है। वास्तव में यह अनुवादक का पुण्य-कर्म ही है जो पाठक-वर्ग को उपकृत करता है।

काव्यानुवाद अपने आप में एक दुःसाध्य एवं दुष्कर कर्म है। किंतु फिर भी कवि-अनुवादक या अनुवादक-कवि इस कठिन कार्य की साधना में लंबे अर्से से जुटा हुआ है। यदि काव्यानुवाद को असाध्य मानकर अनुवादक साहस छोड़ देता तथा इस प्रयास में निरंतर न लगा रहता, तो प्रत्येक देश तथा भाषा साहित्य आज अत्यंत अधूरा तथा निर्धन जान पड़ता।

काव्यानुवाद आज मात्र कविता के अनुवाद के लिए प्रयुक्त होने वाला शब्द है। साहित्य की महत्वपूर्ण विधा है काव्य और काव्य का अनुवाद काव्य रसिकों, विद्वानों तथा अनुवादकों के बीच लंबे समय से विवाद का विषय बन रहा है। यही कारण है कि कुछ लोग काव्य-क्षेत्र में प्रविष्ट होने वाले अनुवादक को 'घुसपैठिया' या 'परजीवी' जैसे शब्दों से संबोधित करते हैं। इनके अनुसार काव्य-अनुवादक को मूल सृजनात्मक

कृति का केवल भाषांतर करना होता है। जबकि यह भी सत्य है कि कविता की रचना अपने आप में एक अत्यंत रहस्यपूर्ण प्रक्रिया का परिणाम है। ऐसे में प्रश्न उठता है कि क्या अनुवादक उस अगोचर प्रक्रिया से ठीक उसी स्तर पर गुजरता है जिस स्तर पर रचनाकार गुजरा होगा? यदि हाँ तो फिर यह 'पुनर्सृजन' है और यदि नहीं; तो फिर अनुवाद असंभव कार्य है। अतः कविता के अनुवादक को इसी तरह के कई प्रश्नों के कारण निरुत्साहित किया जाता रहा, उसे तिरस्कृत भी किया जाता रहा। किंतु फिर भी, काव्यानुवाद की यह मात्रा निरंतर गतिमान और प्रवहमान रही।

इतिहास साक्षी है कि विश्व की प्राचीनतम काव्य संपदा को काव्यानुवादों द्वारा रूपांतरित किया जाता रहा है और आज भी इस दिशा में देश-विदेश की कई भाषाओं में अनुवाद किए जा रहे हैं। कविता के अनुवाद की ये परंपराएँ वास्तव में संस्कृतियों के इतिहास से जुड़ी हैं। यही कारण है कि यह एक भाषा से दूसरी भाषा में रूपांतरण मात्र नहीं, एक संस्कृति को दूसरी संस्कृति में प्रस्तुत करना है। यह कार्य जितना दुश्कर और दुःसाध्य है, काव्यानुवाद भी उतना ही दुश्कर और दुःसाध्य है। यह अवश्य कहा जा सकता है कि अनुवाद के क्षेत्र में एक सांस्कृतिक इकाई की काव्य रचना दूसरी इकाई में तभी रूपांतरित हो सकती है जब कविता की 'वस्तु' और उसका 'रूप' सार्वभौमिक हो। यों भी कविता तो सामान्य से हटकर 'असाधारण' अभिव्यक्ति ही है। यह वैशिष्ट्य 'वस्तु विधान' में भी हो सकता है तथा 'शिल्प-निर्वाह' में भी। अतः कविता परंपरा का एक पूर्व-विधान तो तोड़ती ही है साथ ही अपरंपरा की परिपाटी का श्रीगणेश भी करती है। इसी से उसकी भाषिक-स्थिति की उच्चता स्थापित भी होती है।

कविता के क्षेत्र में विचारणीय यह भी है कि क्या कविता केवल 'नाद-सौदर्य' की ही विधायिका है? अक्सर माना जाता है कि कविता 'शब्द विन्यास' के नाद-सौंदर्य का ही दूसरा नाम है। अगर यह सत्य है तो एक भाषा के शाब्दिक 'नाद-सौंदर्य' को दूसरी भाषा के शब्दों में उतारना भी असंभव कार्य है। परंतु कविता के शब्द की लयात्मकता को भी संपूर्ण कविता नहीं कहा जा सकता है। लयात्मकता और काव्य-संगीत दो भिन्न तत्व हैं। कविता के अनुवाद में हम शब्दों का अनुवाद तो कर सकते हैं, किसी गेय विन्यास को भी तुकांतवादी शाब्दिक अनुक्रम में रूपांतरित कर सकते हैं किंतु कविता का प्राण तत्व है -- 'आह्लाद' और उसे हम अर्थ के भीतर छुपा हुआ पाते हैं। यह आंतरिक संगीत के माध्यम से ही पकड़ में आता है, शब्दांतरण से नहीं। अतः कविता न केवल भाषानुवाद है और न केवल भावानुवाद।

कविता की रचना-प्रक्रिया की विविध जटिलताओं को अच्छी तरह से समझने वाला सहृदय ही कविता का उत्तम अनुवाद कर सकता है। कोई द्विभाषाविद् या बहुभाषाविद्

भाषा की आंतरिक बनावट को तो जान सकता है पर कविता के उस 'अगोचर' से भी परिचित हो जो रचना प्रक्रिया का गोपनीय अंग है, यह आवश्यक नहीं। अतः यह तो स्पष्ट है कि कविता के अनुवाद की बहुत-सी समस्याएँ हैं। इन समस्याओं का विश्लेषण आगे विस्तार से किया जाएगा। किंतु यह भी निर्विवाद सत्य है कि काव्यानुवादक दो भाषाओं, दो संस्कृतियों और दो पृष्ठभूमियों के बीच पुल का निर्माण करता है। वह दो संस्कृतियों के बीच साक्षात्कार का माध्यम बनता है। उसकी इसी दोहरी भूमिका के कारण कालिदास, होमर, शेक्सपियर, तोलस्ताय, दांते, अरस्तू, गेटे, उमर खैयाम, टैगोर, तुलसी, प्रसाद, मोतांले, इलियट, नेरूदा और ब्रेख्त आदि बहुत से महान कवियों की अंतरराष्ट्रीय ख्याति संभव हो सकी। यही कारण हे कि पश्चिम में एजरा पाउंड, राबर्ट लोवले (अमेरिका), बोरिस पास्तरनाक (रूस), अलेकसांद्र वात, चीजलो मिलॉश (पोलैंड), अब्सोनिन बार्तूसेक (चैकोस्लोवाकिया), पॉल सेलान (जर्मन), बेंजामिन लैजलो (हंगरी), एलिजाबेथ बाग्रयाना (बल्गारिया) आदि अनेक अंतरराष्ट्रीय ख्याति प्राप्त कवियों ने विदेशों की महत्वपूर्ण क्लासिकी और आधुनिक काव्य कृतियों के अनुवाद करते हुए काव्यानुवाद की सुदीर्घ परंपरा को समृद्ध करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। हिंदी में भी कवितानुवाद के जरिए विदेशी संस्कृतियों की खोज-परंपरा बहुत पुरानी है। हिंदी में इस तरह की ठोस शुरुआत को आधुनिक हिंदी साहित्य के इतिहास के प्रारंभिक चरण में देखा जा सकता है।

इस दिशा में उमर खैयाम की रुबाइयों के माध्यम से एशियाई कविता की ओर ध्यान फिट्ज़्जेराल्ड ने आकर्षित किया। फिट्ज़्जेराल्ड ने अंग्रेजी अनुवाद द्वारा उमर खैयाम को अंतरराष्ट्रीय बना दिया। खैयाम की 75 रूबाइयों के अंग्रेजी रूपांतर का संग्रह 1859 में प्रकाशित हुआ था। अब तक उसके अनेक संस्करण छप चुके हैं। यों काव्यानुवाद सिद्धांत प्रत्येक अनुवादक के अपने निजी सिद्धांत होते हैं। इसी आधार पर फिट्ज़्जेराल्ड ने अनुवाद को जीवंत बनाने के लिए मूल रूबाइयों के साथ छेड़छाड़ भी की। उनका मानना था कि अगर मूल प्राणों की प्रतिष्ठा नहीं हो सकती तो अपनी ही सांसों का संचार उसमें भर देना चाहिए। भूसे भरे गिद्ध से फुदकती गौरय्या कहीं बढ़कर है (खैयाम की मधुशाला : अनुवाद, बच्चन 1935)।

फिट्ज्जेराल्ड के अनुवाद को संसार के सर्वश्रेष्ठ अनुवादों में गिना जाता है। हिंदी में भी खैयाम की इन रूबाइयों के लगभग सोलह अनुवाद हो चुके हैं। परंतु अभूतपूर्व लोकप्रियता 'खैयाम की मधुशाला' 1935 ई. (बच्चन) तथा (खैयाम की रूबाइयाँ 1939 ई.) बच्चन को ही मिल सकी। हिंदी में उपलब्ध तमाम अनुवादों में से बच्चन जी के अनुवाद श्रेष्ठ हैं। स्वयं श्रेष्ठ कवि होने के कारण भी बच्चन खैयाम की कविता

का सार्थक पुनर्सृजन कर सके। विदेशी कविताओं का हिंदी भाषा में अनुवाद करने वाले प्रमुख कवि -- अनुवादकों में श्रीधर पाठक, भारतेंदु हरिश्चंद्र, पंत, बच्चन, दिनकर, मैथिलीशरण गुप्त, अज्ञेय, रामविलास शर्मा, भारत भूषण अग्रवाल, शमशेर, प्रभाकर माचवे, केदारनाथ अग्रवाल तथा चंद्रबली सिंह आदि का नाम उल्लेखनीय है। पिछले दशकों में रघुवीर सहाय, कुंवर नारायण, गिरिजा कुमार माथुर, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, त्रिलोचन शास्त्री, राजकमल चौधरी, वीरेंद्र कुमार जैन, बालस्वरूप राही, विष्णु खरे, कैलाश वाजपेयी, श्रीकांत वर्मा, राजीव सक्सेना, अजित कुमार, गंगा प्रसाद विमल, जगदीश चतुर्वेदी, प्रयाग शुक्ल, रमेशचंद्र शाह, विनोद शर्मा तथा रमेश कौशिक आदि अनेक समर्थ कवियों ने भी काव्यानुवाद की परंपरा को समृद्ध किया है।

काव्यानुवाद का विश्लेषण

काव्य, सृजनात्मक साहित्य की एक विधा-विशेष है। सृजनात्मक साहित्य का अनुवाद ज्ञान के साहित्य की अपेक्षा अधिक कठिन होता है। उसमें भी काव्य का अनुवाद तो अन्य सभी विधाओं की तुलना में अत्यंत कठिन तथा दुःसाध्य माना जाता है। कविता में प्रायः एक भाव या अनुभूति को व्यक्त करने के लिए एक ही शब्दावली का प्रयोग किया जाता है। इसी कारण काव्य कला के मर्मज्ञों का मानना है कि किसी दूसरी भाषा की शब्दावली में उसका अनुवाद नहीं किया जा सकता। किंतु व्यवहार में काव्य ग्रंथों का अनुवाद पुराकाल से होता आ रहा है और इसके अनेक उदाहरण हमारे सामने भी हैं। यद्यपि सिद्धांत रूप से प्रत्येक काव्य कृति एक अखंड इकाई होती है किंतु, व्यवहार के स्तर पर विवेचन, व्याख्या आदि के लिए उसके कथ्य या विषय-वस्तु तथा कथन-शैली एवं शिल्प पक्ष को पृथकतः देखा जाता है। काव्यानुवाद में इन सभी पक्षों से संबद्ध अलग-अलग कठिनाइयाँ उभर कर सामने आती हैं।

ज्ञान के साहित्य के अनुवाद की अपेक्षा सृजनात्मक साहित्य का अनुवाद अधिक जटिल और कठिन होता है। और ज्ञान के साहित्य के आधार-तत्व अर्थात् तथ्य और विचार जहाँ मूर्त एवं निश्चित होते हैं, वहाँ सृजनात्मक साहित्य के विधायक तत्व-भाव और कल्पना सर्वथा सूक्ष्म-तरल होते हैं। तथ्य और विचार का तो संप्रेषण हो सकता है और होता है किंतु भाव और कल्पना का उद्‌बोध ही किया जा सकता है, संप्रेषण नहीं। वास्तव में, उद्‌बोध ही उनका संप्रेषण है क्योंकि कवि सहृदय के चित्त में अपनी अनुभूति का स्थानांतरण नहीं वरन् उसकी समानांतर अनुमति को ही उद्‌बुद्ध करता है। उसके अतिरिक्त, ज्ञान के साहित्य की माध्यम भाषा प्रायः अभिधा पर ही आश्रित रहती है। शास्त्रीय अनुवाद में ही वह गंभीर चिंतन का भार अभिधा के द्वारा ही वहन करती

है। इसके विपरीत, काव्य का माध्यम बिंबात्मक भाषा होती है जो अर्थबोध न कराके सहृदय की कल्पना में भाव-चित्र जगाने का कृतकार्य करती है। अतः सृजनात्मक या ललित साहित्य के अनुवाद की प्रक्रिया निश्चय ही अधिक जटिल होती है। इसी तर्क से साहित्य-कला के तत्वदर्शी मर्मज्ञों का विचार है कि ललित साहित्य का अनुवाद मिथ्या कल्पना है। जिसे सामान्यतः अनुवाद के रूप में ग्रहण किया जाता है वह अनुवाद न होकर दूसरी रचना ही होती है।

कविता सृजनात्मक साहित्य का नवनीत है। उसकी संवेध अनुभूति 'सांद्र', और 'बिंब-योजना' अत्यंत संश्लिष्ट होती है, इसीलिए उसे अनन्य उक्ति के रूप में परिभाषित किया गया है। जाहिर है कि अनन्य उक्ति को किसी अन्य उक्ति के माध्यम से अनूदित नहीं किया जा सकता। अतः क्रोचे का अभिमत कि अनुवाद मिथ्या कल्पना-मात्र है कविता के विषय में और भी अधिक सार्थक प्रतीत होता है।

किंतु तात्विक दृष्टि से चाहे यह कितना ही सार्थक क्यों न हो, व्यवहारिक दृष्टि से तो ये कभी मान्य नहीं हुआ और आज भी नहीं है। पुराकाल से लेकर आज तक काव्य का अनुवाद निरंतर होता रहा है और आज भी प्रक्रिया चल रही है। यदि तत्ववेत्ताओं का सिद्धांत मान लिया जाता तो सहृदय-समाज विश्व-काव्य के आस्वाद से सर्वथा वंचित हो जाता। कहने का अभिप्राय यह है कि सिद्धांत रूप में दुष्कर होने पर भी, व्यवहार रूप में विश्व की सभी भाषाओं की उत्तम सूचनाओं का अनुवाद एक सीमा तक संभाव्य भी है और सार्थक भी। इसके लिए हमें काव्य के तात्विक लक्षणों को छोड़कर व्यावहारिक विवेचन का ही आश्रय लेना होगा। रसात्मक साहित्य अथवा काव्य का एक व्यावहारिक लक्षण है कि वह ऐसी रचना का नाम है जो अपनी विषय-वस्तु और शैली के द्वारा सहृदय के चित्त का प्रसादन करती है। इस प्रकार काव्यकृति के दो घटक हमारे सामने आते हैं : (1) विषय-वस्तु; और (2) शैली। तत्व दृष्टि से यह विभाजन भले ही प्रामाणिक न हो किंतु व्यवहार दृष्टि से काव्य-कृति की विषय-वस्तु और शैली को पृथक् रूप में ग्रहण कर उसका अनुवाद या अनुवाद का प्रयत्न अवश्य ही किया जा सकता है।

काव्य की विषय-वस्तु का निर्माण मूलतः अनुभूति और विचार के आधार पर होता है। किंतु प्रबंध काव्य में कथा अर्थात् घटना-विधान का भी समावेश अनिवार्यतः रहता है जो प्रत्यक्ष रूप से संवेद्य अनूभूति एवं विचार विभावन-व्यापार का माध्यम-विधान ही होता है। किंतु इस घटना-विधान का स्वतंत्र अस्तित्व नहीं होता, वह काव्य की संवेद्य अनुभूति के विभावन-व्यापार का माध्यम इलियट की शब्दावली में वस्तुगत संबंध विधान ही होता है : गिरः कविनां जीवन्तिन कथा-मात्रमाश्रिताः (कुंतक) अर्थात् कवियों की वाणी केवल कथा पर आश्रित होकर अमर नहीं होती।

काव्य के उपर्युक्त तीनों में से घटनाओं का अनुवाद करना निश्चय ही सरल होता है क्योंकि प्रत्येक घटना तथ्यों का संघात ही तो होती है, ज्ञान के साहित्य के अनुवाद तथ्यों का उनके मूर्त स्वरूप के कारण, भाषांतरण प्रायः सरल ही होता है। हां, काव्य के प्रसंग में अनुवादक को घटनाओं के व्यंग्यार्थ को ध्यान में रखना आवश्यक होगा। उदाहरण के लिए महाभारत की कथावस्तु में अनुवादक को इस व्यंग्यार्थ को ध्यान में रखना होगा कि द्रौपदी चीरहरण केवल घटना न होकर दुर्योधन के प्रतिशोध की ही क्रूर अभिव्यक्ति है।

विचार या धारणा का संप्रेषण उसके मूर्त रूप के कारण निश्चय ही कठिन होता है किंतु सूक्ष्म प्रत्यय होने पर भी विचार का स्वरूप निश्चित एवं स्थिर होता है। प्रत्येक धारणा चाहे वह सही हो या गलत, अपने आप में निश्चित एवं स्थिर होती है, और सुधी अनुवादक बौद्धिक अभ्यास के द्वारा उसके तत्व को ग्रहण कर पारिभाषिक पर्यायों तथा यथास्वरूप परिभाषा कोशों की सहायता से उसे अपनी भाषा में प्रस्तुत कर सकता है। सूर्य पृथ्वी के चारों ओर घूमता है और पृथ्वी सूर्य के चारों ओर घूमती है -- ये दोनों अवधारणाएँ क्रमशः गलत और सही होने पर भी भाषांतरण में विशेष कठिनाई उपस्थित नहीं करतीं। ये अवधारणाएँ तो सरल हैं किंतु जटिल अवधारणाओं का अनुवाद भी, उनका अर्थ स्पष्ट हो जाने पर, बौद्धिक अभ्यास के द्वारा संभाव्य हो जाता है।

अनुभूति के अनुवाद की कठिनाई यह है कि उसका स्वरूप अमूर्त होने के साथ-साथ तरल भी होता है। सूक्ष्म-तरल पदार्थ को स्थानांतरण अपने आप में अत्यंत कठिन कार्य है। तापमापक यंत्र के दृष्टांत के द्वारा यह तथ्य और भी स्पष्ट हो जाएगा। इस यंत्र का आच्छद, जो कांच या प्लास्टिक का होता है, सावधानी से पैक होकर हजारों की संख्या में इधर-उधर भेजा जा सकता है किंतु इसके अंदर के पारे को एक स्थान से दूसरे स्थान तक भेजने में अत्यधिक सावधानी बरतनी पड़ती है। यही कठिनाई भावना या अनुभूति के संप्रेषण अथवा अनुवाद की है। लेकिन भावना के संदर्भ में एक तथ्य अनुवादक की सहायता करता है : वह है मानव चेतना में व्याप्त सहज अंत-सूत्र, जिसके कारण एक ही परिस्थिति में मानव, मानव के चित्त में समान भाव उद्‌भूत हो जाते हैं। इसी मानव-सुलभ समानुभूति के आधार पर सफल अनुवादक पाठक के चित्त में मूल रचना में अंतर्निहित भावना का उद्‌बोध कर सकता है। दो-एक उदाहरण देकर हम अपने मंतव्य को स्पष्ट करना चाहेंगे,

Our sweetest songs are those
that tell of saddest thoughts.

अर्थात् ''वे ही हमारे गीत सर्वाधिक सुंदर हैं जिनमें अधिकतम करुणा का प्रसार है।'' इसमें संदेह नहीं कि हिंदी-अनुवाद में शैले की इन पंक्तियों में विद्यमान वर्ण-मैत्री

का सौंदर्य और उसकी शक्ति की बहुत कुछ क्षति हो गई है, फिर भी मूल भावना का आस्वादन तो पाठक कर ही सकता है। इसी संदर्भ में कालिदास का एक प्रसिद्ध छंद तथा उसका हिंदी-अनुवाद द्रष्टव्य है :

सरसिजमनु सिद्धं शैवलेनापि रम्यम्
मलिनपति हिमांशोर्लक्ष्य लक्ष्मी तनोति।
इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी
किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्। (अभिज्ञान शाकुंतलम् 1.19)

× × × × ×

सरसिज लगत सुहावनो जदपि रह्यो ढकि पंक।
करि रेख कलंक हू, लसति कलाधर अंक।
पहिरे वल्कल बसन यह लागति नीकि बाल।
कहा न विभूषण होई जो रूप लिख्यो विधि भाल।

हिंदी-अनुवाद में कालिदास की भाषा-शैली का चमत्कार प्रायः लुप्त हो गया है, परंतु मूल भावना तो विद्यमान है ही, जिसे पाठक सहज ही ग्रहण कर लेता है। भाषांतरण के द्वारा कलात्मक अनुभूति का संप्रेषण तो दुस्साध्य अवश्य है, परंतु मूल अनुभूति का आस्वादन दुष्कर नहीं है।

काव्य शैली का अनुवाद और भी अधिक असाध्य साधना है। किंतु यहाँ भी प्रबुद्ध अनुवादक 'अपोदृत्य विवेच्येत' अर्थात् घटकों के विभाजन की पद्धति का अवलंबन कर अपने कार्य में प्रबुद्ध हो सकता है। काव्य शैली का प्रमुख घटक है -- कल्पनात्मक भाषा, जिसके आधार तत्व हैं -- बिंब, प्रतीक, अलंकार और लय-छंद।

काव्य शैली के इन तत्वों के परिप्रेक्ष्य में हम अनुवाद संबंधी विविध समस्याओं का विवेचन आगे करेंगे। यहाँ केवल यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि काव्यानुवाद में विषय-वस्तु और शैली के आधार पर अगर हम अंग्रेजी से हिंदी अनुवाद के कुछ उदाहरण उठा कर देखें तो सहज ही स्पष्ट हो जाता है कि अनुवादक-कवि या कवि-अनुवादक मूल काव्य-रचना का अनुवाद करते समय प्रयास यह करता है कि विषय-वस्तु को यथावत् पाठक तक पहुँचा सके। परंतु ऐसा करते समय वह मूल कृति की शैली को यथावत् या समतुल्य बनाए रखने में पूर्णतः सफल नहीं हो पाता। यह उसकी अपनी सीमा भी है और विषय की सीमा है। उदाहरण के तौर पर, एक भव्य पृष्ठभूमि पर रचित ऑलिवर गोल्डस्मिथ की चिंतन प्रधान काव्य रचना 'ट्रेवलर' के एक अनुच्छेद का हिंदी अनुवाद प्रस्तुत है। मूल पंक्तियाँ हैं :

Blessed be that spot, where cheerful guests refire,

To panse from toil, and trim their evening fire,
Blessed that abode, where want and pain repair,
And every stranger finds a ready chair,
Blessed be those feasts, with simple plenty crown'd,
Where all the ruddy family around,
Hang at the jests or pranks that never fail.

हिंदी के प्रसिद्ध कवि पंडित श्रीधर पाठक ने 1902 में 'ट्रेवलर' काव्य-कृति का 'श्रांत पथिक' नाम से खड़ी बोली हिंदी में काव्यात्मक अनुवाद किया। अनुवादक ने अनुवाद के अंत में मूल रचना के विशिष्ट प्रसंगों तथा संदर्भों की व्याख्या भी की है तथा पाद-टिप्पणियों द्वारा कठिन शब्दों के अर्थ भी दिए हैं ताकि पाठक कृति का पूरा रसास्वादन कर सके। यों पाठक जी ने कुछ अन्य अनुवाद भी किए हैं और प्रत्येक अनुवाद में उन्होंने पंक्ति-प्रति-पंक्ति अनुवाद करने का प्रयास किया है। इस प्रक्रिया में कवि ने विषय-वस्तु तथा भाव-राशि के भाषांतरण को ही महत्व दिया है, मूल रचना के स्थूल आकार को नहीं। मूल के प्रत्येक शब्द को वे चुनौती के स्तर पर लेते हैं तथा शब्द-विवेक भाषिक-नैपुण्य एवं अभिव्यंजना कौशल के बल पर अनुवाद प्रस्तुत करते हैं। पाठक जी ने उपर्युक्त काव्य पंक्तियों का अनुवाद करते समय सुख-सौभाग्यशाली घर-परिवार के रेखाचित्र को रूपायित करने का सुंदर प्रयास किया है। कहीं-कहीं कवि वैषम्य द्वारा अपनी व्यंजना को व्याप्ति भी देता है। उद्यम, उत्साह, उदारता और उत्सर्ग के वातावरण को कितनी सुंदर किंतु मौलिक तथा काव्यात्मक शैली में अनूदित किया है, देखिए :

परम सुलभ वह धाम जहाँ पाहुने मुदित विश्राम करें
चुके काम से थके साँझ को तपै आग आराम करैं
सुभग तथा वह गेह दीन दुखिया जहाँ अपना पग धारैं
पथिक विदेशी मात्र जहाँ पावैं स्वागत और मनुहारैं
तथा सुभग वह प्रचुर सरस साधारण सुंदर ज्यौनारैं
जिनमें एकत्रित कुटुंब जन अरुणित मुख-शोखा धारैं
हँसे हास्य क्रीड़ा कलोल कर विफल जो कि नहिं होय कभी।

वास्तव में पाठक जी की रचना-शैली इतनी सुंदर तथा श्रेष्ठ है कि पाठक इस पुनर्सृजन से आनंदित होकर यही भूल जाता है कि कृति मूल है या अनूदित। शिल्पगत-नैपुण्य को कवि ने अनुवाद में भी पूरी तरह से अक्षुण्ण रखने का सुंदर प्रयास किया है। कवि-अनुवादक ने मूल कृतिकार के सारगर्भित एवं प्रसंगोचित शब्दों का पूर्णतः सटीक प्रयोग तो किया ही है साथ ही कम से कम शब्दों में अत्यधिक प्रभावपूर्ण प्रकृति-चित्र भी अत्यंत जीवंत

बन कर उभरे हैं। एक-एक पंक्ति में मूल और अनुवाद देखिए :

मूल : Its uplands sloping deck the mountain's side,

अनुवाद : उसकी उच्च भूमि, ढालू, गिरि-तट को शोभा देती है,

मूल : Woods over woods in gay theatric pride,

अनुवाद : वन श्रेणी की परंपरा रंगस्थल की छबि लेती है,

मूल : While oft some temple's mouldering tops between

अनुवाद : उसमें बहुधा जहाँ जीर्ण मंदिर की शिखा चमकती है,

मूल : With venerable grandeur mark the scene.

अनुवाद : एक महत्व मिश्रित सुदृश्य-छबि छटा वहाँ पर पलती है।

इसी प्रकार हेनरी वर्ड्सवर्थ लांगफेलो कृत बहुप्रशंसित अंग्रेजी कथा-काव्य 'इवंजलाइन' के अनुवाद की कुछ उपलब्ध पंक्तियों को भी देखा जा सकता है। इसमें अनुवादक श्रीधर पाठक ने कहीं-कहीं वातावरण को मूल की तुलना में अधिक सजीव, स्वाभाविक एवं हृदयग्राही बनाने का प्रयास किया है। हालाँकि वातावरण परिवर्तन अनुवाद का श्लाघ्य कर्म नहीं माना जाता। पुनर्सृजन की दृष्टि से यह कर्म कितना भी मूल्यवान क्यों न हो किंतु अनुवाद की दृष्टि से तो उसका मूल्य कम हो जाता है। परंतु इसमें भी संदेह नहीं कि कवि ने अधिकांशतः वातावरण में कोई परिवर्तन न कर उसे यथावत् बनाए रखने का सफल प्रयास किया है। रचना शैली कहीं-कहीं अवश्य मौलिक बन गई है। लांगफेलो की मूल कृति में लंबे-लंबे छंद प्रयुक्त हुए हैं, पाठक जी ने प्रसंगानुकूल उन्हें छंदगत जड़ता से मुक्त रखने का भी सफल प्रयास किया है। मूल तथा अनुवाद का एक उदाहरण प्रस्तुत है :

मूल : This is the forest primeval; but where are
the hearts that beneath it.
Leaped like the roe, he hears
in the woodland the voice of the huntsman?

× × × × ×

अनुवाद : अहो भूमि यह वही, किंतु वे कहाँ आज सब,
जो या बन की कुंजन में निज विहरत हैं तब।
जिनके कोमल सरल हिये हुलसत हैं ऐसे,
निज जननी कौ बोल सुनत मृगसावक जैसे।

वास्तव में अधिकांशतः यह माना जाता है कि मौलिक कविता और अनूदित कविता की रचना-प्रक्रिया में बुनियादी तौर पर कोई अंतर नहीं होता। इसीलिए अगर मौलिक कृति 'रचना' है तो अनूदित कृति 'पुनर्रचना' या 'पुनर्सृजन' है। मौलिक कविता भी

कवि के अनुभव का (अर्थात् कवितानुभव का), उसके अपने अनुभव की भाषा से कविता की भाषा में रूपांतर ही होती है। इस आधार पर 'रचना' और 'पुनर्रचना' में 'अर्जित या निजी अनुभव' का अंतर भी होता ही है।

अतः कवितानुवाद में -- ''स्रोत और लक्ष्य भाषाओं के बीच समानार्थकता की खोज'' तथा ''मूल रचनाकार की शैली का अनुकरण'' -- इन दो स्थितियों या शर्तों का पालन अत्यंत आवश्यक होता है। पहली शर्त कविता के अनुवादक से अनुभव की समझ की माँग करती है। इसके लिए जरूरी है कि वह स्रोत कविता में व्यक्त कवितानुभव को समझकर मूल रचनाकार के व्यक्तित्व के अनुभव तक पहुँचे, फिर उसे ग्रहण करे अर्थात अपने व्यक्तिगत अनुभव में बदले और तत्पश्चात् उसे लक्ष्य कविता की रचना सामग्री में बदले। यदि अनुवादक आयातित अनुभव को अर्जित अनुभव नहीं बना पाता तो स्रोत एवं लक्ष्य भाषाओं के बीच समानार्थकता की खोज में वह सफल भी नहीं हो पाता। इसीलिए काव्यानुवादक यदि कवि हो तो कहीं अधिक बेहतर होता है। यों मूल कवि भी आयातित अनुभव से अवश्य गुजरता है। एक 'भिखारी' पर कविता लिखने के लिए कवि उस भिक्षुक के अनुभव से गुजरता है। इस दृष्टि से अनुवादक को दोहरे आयातित अनुभव से गुजरना होता है। अतः काव्य के अनुवाद की यात्रा दोहरे जोखिम की यात्रा है। सृजन के इस महत्वपूर्ण पहलू का एक पक्ष यह है कि एक ही कविता का तीन, पाँच या और अधिक लोग अनुवाद करें तो तीनों के अनुवाद में अद्‌भुत अंतर देखने को मिलता है। कभी-कभी तो मूल कविता पूरी तरह से नष्ट भी हो जाती है। यहाँ उदाहरण के लिए रूसी कविता 'वाज्नेसेंस्की' की एक प्रसिद्ध कविता 'मैं गोया हूँ' का अंग्रेजी अनुवाद तथा उसके तीन अलग-अलग कवि-अनुवादकों द्वारा किए अनुवाद प्रस्तुत हैं। आप यह मान कर चलिए कि अंग्रेजी की एक कविता है और इसके तीन हिंदी अनुवाद किए गए हैं :

मूल : I am Goya of the bare field, by the enemy's beak gouged
till the craters of my eyes gape
I am grief
I am the tongue of war, the embers of cities, on the snows of the year 1941
I am hunger
I am the gullet of woman hanged whose body like a bell tolled over a blank square,
I am Goya
O grapes of wrath! I have hurled westward the ashes of the uninvited guest! and hammered stars into the unforgetting sky – like nails

I am Goya.

अनुवाद-1 : श्रीकांत वर्मा द्वारा किया गया पुनर्रचनात्मक अनुवाद देखिए :

मैं गोया हूँ / बर्बर युद्ध क्षेत्र का / जब तक दुश्मन की नोकीली चोंच / मेरी आँखों को चीथ कर / बाहर कर दे / तब तक

मैं दुःख हूँ

मैं युद्धोन्मुख हूँ / इकतालीस के बर्फीले अंधड़ में / बुझे जा रहे अंगारों से / नगर मैं भूख हूँ।

मैं उस औरत की / गरदन हूँ / सूली पर लटकती जाकर / सूने चौरस्ते जिसका शव / घंटे जैसा झूल रहा है

मैं गोया हूँ।

ओ शापों की वर्षा! घुस आए मेहमानों के अवशेष / फेंककर अस्ताचल में / ठोंक दिए मैंने / हरदम आसमान पर तारे-जैसे कील

मैं गोया हूँ

अनुवाद-2 : नीलाभ द्वारा किया गया एक अन्य अनुवाद :

मैं गोया हूँ। बुच्चे मैदान का, दुश्मन की नुकीली चोंच से यूँ नुचा हुआ / कि फट पड़ी हैं मेरी आँखें अपने कोटरों से

मैं दुःख हूँ।

मैं युद्ध की जुबान हूँ / मैं हूँ नगरों के अंगार / सन् इकतालिस की बर्फो पर मैं भूख हूँ।

मैं गला हूँ / फांसी चढ़ी मुटियार का / जिसकी लाश घनघनाती रही सूने चौक में / घंटे की तरह

मैं गोया हूँ।

ओ प्रतिशोध की बौछार! मैंने फेंक मारी है पश्चिम की ओर / अनाहूत अतिथि की राख / और ठोंक दिए हैं सदा-स्मरणशील आकाश में / कीलों की तरह-तारे

मैं गोया हूँ।

अनुवाद-3 : विनोद शर्मा द्वारा किए गए अनुवाद का उदाहरण :

मैं गोया हूँ / नंगे मैदान का / कोटरों से आँखों के / फट पड़ने तक / दुश्मन को चोंच से / नोचा गया हूँ।

मैं दुःख हूँ।

मैं जुबान हूँ। युद्ध की / सन् इकतालीस की / बर्फ पर बिखरे हुए / शहरों के अँगारों की / मैं भूख हूँ।

मैं गर्दन हूँ / फाँसी चढ़ी औरत की / घनघनाती रही / जिसकी लाश / सूने चौक में घंटे की तरह / मैं गोया हूँ।

ओ प्रतिशोध की बौछार! उछाल दी है मैंने / पश्चिम की ओर / अनाहूत मेहमानों की राख और कीलों की तरह / ठोंक दिए हैं तारे / अक्रांत आकाश में / मैं गोया हूँ।

रूसी कविता का कुनिट्ज द्वारा किया गया अनुवाद तथा श्रीकांत वर्मा का हिंदी अनुवाद ध्यान से देखें तो दोनों में पर्याप्त अंतर दिखेगा। अंग्रेजी के gouged शब्द को हिंदी अनुवाद में गायब कर दिया गया है। इसी तरह I am the tongue of war का अनुवाद -- 'मैं युद्धोन्मुख हूँ' भी विचारणीय है। इसी प्रकार, अंग्रेजी कविता के तीसरे बंद में प्रयुक्त tolled को 'घंटे जैसा झूल रहा है' कहना भी पुनर्सृजन ही है। Toll वास्तव में पश्चिमी देशों में अशुभ सूचना देने वाली घनघनाहट (ध्वनि) है। जबकि लक्ष्य कविता (हिंदी) में यह प्रतीकात्मकता नष्ट हो गई है। अतः श्रीकांत वर्मा द्वारा किया गया यह अनुवाद कई जगह त्रुटियों से भरा है। मूल रचना की समझ वहाँ पूरी तरह से बन ही नहीं सकी है।

नीलाभ द्वारा किया गया अनुवाद कहीं बेहतर है। वे मूल (रूसी) कवि के आशय को काफी हद तक समझने और समझाने में सफल हुए हैं। श्रीकांत वर्मा की कविता पूर्णतः पुनर्रचना बन गई तभी नीलाभ की रचना में अनुवाद की पर्याप्त गंध समा गई। तीसरे बंद में 'औरत' के लिए 'मुटियार' शब्द का प्रयोग किसी विशिष्ट लक्ष्य की ओर इंगित नहीं करता। इसी तरह विनोद शर्मा ने अपने अनुवाद में unforgetting के लिए 'अक्रांत' शब्द का प्रयोग किया। परंतु अक्रांत शब्द का प्रयोग इतना अखरता नहीं। इस प्रकार, एक ही अंग्रेजी कविता के तीन हिंदी रूपांतरों से यह भी स्पष्ट हुआ कि कैसे मूल कविता भिन्न-भिन्न अनुवादकों के हाथों अपना स्वरूप, अपनी गंध खो बैठती है।

इसी सिलसिले में अब एडवर्ड फिट्ज्जेराल्ड की अनूदित काव्य-कृति की कुछ चर्चा की जानी भी अपेक्षित है। 'रूबाइयत उमर खैयाम' कृति को फिट्ज्जेराल्ड ने अंग्रेजी में रूपांतरित किया और उत्कृष्ट अनुवाद के कारण अमर हो गए। उमर खैयाम की रूबाइयों को फारसी जमीन से उठाकर अंग्रेजी साहित्योद्यान में रोपित करने वाले फिट्ज्जेराल्ड ने मूल की गंध को अनूदित बोतल में सफलता से ढालने का प्रयास किया है। वास्तव में इस अनुवाद को, अनुवाद मानना या पुनर्सृजन कहना एक अलग विषय है। पर इतना अवश्य है कि उन्होंने मूल कृति की सजीवता को जीवंत रखा है। मूल के प्राणों की प्रतिष्ठा जहाँ वे नहीं कर सके वहाँ उन्होंने अपनी साँसों का संचार कर भावना और

कला का अद्‌भुत समन्वय किया है। 'रूबाइयत उमर खैयाम' के पाँच अनुवाद {(1) श्री मैथिलीशरण गुप्त द्वारा (2) पं. केशव प्रसाद पाठक द्वारा (3) पंडित बलदेव प्रसाद मिश्र द्वारा (4) हरिवंशराय बच्चन द्वारा; तथा (5) रघुवंश लाल गुप्त द्वारा } काफी चर्चित रहे हैं। इन पाँचों में हरिवंशराय बच्चन का अनुवाद अत्यंत चर्चित, प्रशंसनीय तथा अनुवादक का अंतःचित्र प्रस्तुत करने वाला कहा जा सकता है।

अब फिट्‌ज्जेराल्ड की काव्यात्मक अंग्रेजी रूबाइयों के हिंदी अनुवादों में से कुछ उदाहरण देखिए :

मूल : And David's Lips are lock't, but in divine
High piping Pehlevi, with "Wine! Wine! Wine!
"Red Wine!" -- the Nightingale cries to the Rose
That yellow Cheek of hers to incarnadine.

अनुवाद : मुद्रित-मुख दाऊद पड़ा है
चिर-निरव निस्पंद गिरा,
किंतु सुनाती बुलबुल अब भी
बेणु-विनिंदित अमर-गिरा,
और अरुण हो उठते हैं झट
पाटल के वे पांडु कपोल,
सुन कर उसके कलित कंठ से
मदिरा, मदिरा, मधु मदिरा। (अनुवाद, मैथिलीशरण गुप्त)

इस रूबाई का श्री रघुवंश लाल गुप्त द्वारा किया गया अनुवाद देखिए :

अब भी, झुकी लदी गुच्छों से, अंगूरों की डाली देख --
फूली, छबी, ओस की धोई नव गुलाब की प्याली देख --
भूली, अभी अधखिली कलियों की चितवन की लाली देख
''पीओ, पीओ'' कहती फिरती है बुल-बुल मतवाली, देख।

इसी प्रकार पंडित केशव प्रसाद पाठक द्वारा किए गए अनुवाद का एक उदाहरण देखिए :

मूल : To-morrow? -- Why, Tomorrow I may be Myself with Yesterday's Sev'n Thousand Years

अनुवाद : 'कल' कैसा कल! क्यों कर कल को तू ही कह मैं अपनाऊँ
संभव है, कल तक गत कल की शताब्दियों में मिल जाऊँ।

यहाँ यह तो स्पष्ट है ही कि प्रत्येक अनुवादक की शैली अपनी तथा मूल से पर्याप्त भिन्न है। यह भी स्पष्ट है कि अनुवादक ने अपनी दृष्टि, समझ तथा संकल्पना

से ही शब्द-प्रतिशब्द तथा पदबंध तथा प्रतिपदबंध का निर्धारण किया है। यही नहीं प्रत्येक अनुवादक ने लय का निर्वाह भी मूल कविता के भीतर की लय को ध्यान में रखकर भी मौलिकता प्रदान की है। छंदगत पार्थक्य भी स्पष्टतः देखा जा सकता है। अब एक-एक उदाहरण पंडित बलदेव प्रसाद मिश्र तथा डॉ. हरिवंशराय बच्चन के अनुवाद के भी देख लें तो इस निर्णय पर पहुँचेंगे कि शब्द एवं पदबंध, मुहावरे एवं लय तथा आलंकारिकता एवं गति के आधार पर मूल एवं अनुवाद में अनुवादक के कारण क्या अंतर आया है।

That every Hyacinth the Garden wears
Dropt in her Lap from some once lovely Head.

बलदेव प्रसाद मिश्र द्वारा 'मादक प्याला' नाम से किया गया अनुवाद :

तथा डिठौना सा जो स्थित था किसी गाल पर कभी समोद
तिल वह आज पल्लवित होकर गिरता है उपवन की गोद।

डॉ. बच्चन ने फिट्ज़्ज़ेराल्ड की अंग्रेजी रूबाइयों का अनुवाद करते समय भावों को बहुत महत्व दिया है। उन्होंने शब्दानुवाद नहीं किया। बच्चन जी ने अनुवाद करते समय स्वाधीनता भी पर्याप्त मात्रा में ली है। हालाँकि यह स्वाधीनता उतनी नहीं है जितनी कि फिट्ज़्ज़ेराल्ड ने स्वयं उमर खैयाम से अनुवाद करते समय ली है। बच्चन ने बहुत स्थानों पर पूरी की पूरी पंक्तियाँ ही अपनी तरफ से जोड़ दी हैं। बहुत-सी जगह पर बच्चन कुछ शब्द भी अपनी तरफ से जोड़ देते हैं। परंतु यह संवृद्धि मूल के सौंदर्य को अनुवाद में नष्ट नहीं करती, उसकी रक्षा ही करती है। एक उदाहरण देखिए :

मूल : One Moment in Annihilation's Waste,
One Moment, of the Well of life to taste--
The Stars are setting and the Caravan
Starts for the Dawn of Nothing – Oh, make haste!

डॉ. बच्चन द्वारा किया गया अनुवाद :

अरे, यह विस्मृति का मरू देश
एक विस्तृत है, जिसके बीच
खिंची लघु जीवन-जल की रेख,
मुसाफिर ले होठों को खींच
एक क्षण, जल्दी कर, ले देख,
बुझे नभ-दीप, किधर पर भोर
कारवाँ मानव का कर कूच
बढ़ गया शून्य उषा की ओर

बच्चन जी की, उनके अनुवाद की तथा अनुवाद कला की अद्‌भुत विशेषता साक्षी है कि अनुवाद में अधिक नाटकीयता, अधिक बिंबात्मकता एवं सजीवता आ गई है। वास्तव में बच्चन जी मूल के सौंदर्य की रक्षा तो करते ही हैं उसे बढ़ाते भी हैं। अंग्रेजी में अगर कोई शब्द 'स्त्रीलिंग' बनकर आया है तो बच्चन जी पूरा प्रयास करते हैं कि हिंदी में भी उसे स्त्रीलिंग रूप में ही प्रस्तुत किया जाए। इसी प्रकार -- "that just divides the desert from the sown" पंक्ति का अनुवाद वे ''जहाँ जो शस्यश्यामला भूमि धवल मरु के बैठी है पास'' कहकर करते हैं तो भूमि और मरु के मानवीकरण द्वारा उसे सजीव एवं व्यंजक बनाकर रूपायित करते हैं। बच्चन की एक अन्य विशेषता है -- अनुवाद में प्रयुक्त की गई बोलचाल की भाषा। बच्चन जी ने फिट्‌ज्ज़ेराल्ड के रूपकों का भी अनुवाद में पूरा ध्यान रखा है। यह भी ध्यातव्य है कि बच्चन जी ने अनुवाद में सभी जगह रूबाई का तुक विधान नहीं अपनाया है। एक से अधिक प्रकार के तुकों का निर्वाह वे करते चलते हैं। यही कारण है कि बच्चन जी ने मूल आत्मा को संजोए रखने का निष्ठावान प्रयास किया है। कवि-कल्पना, सहृदयता तथा उनकी भाव-प्रणाली अनुवाद को अत्यंत सहज, सरल तथा सफल बनाकर प्रस्तुत करती है :

मूल : And this delightful Herb whose tender Green
Fledges the River's Lip on which we lean-
Ah, lean upon it lightly! for who knows
From what once lovely lip it spring unseen

अनुवाद : अरे, यह कितने कोमल पात
चुंबनों से अपने अम्लान
ढक रहे जो सरिता का कूल
विचरते हम-तुम जिस पर, प्राण --
धरो इस पर धीरे से पाँव
कौन जाने हो सकता है, प्राण!
किन्हीं मधु मृदु अधरों को ही चूम
उगे हों यह पौधे अनजान।

इस प्रकार हम इस विस्तृत मूल्यांकन, तुलनात्मक अध्ययन तथा गहन विवेचन से यह तो कह ही सकते हैं कि काव्यानुवाद केवल भाषांतरण नहीं, उसमें भावांतरण अत्यंत आवश्यक है और वह एकदम दुःसाध्य है। अब एक तुलनात्मक तालिका से यह भी देखा जा सकता है कि मूल शब्दों, पदबंधों तथा उपवाक्यों का अनुवाद अनुवादकों के अलग-अलग होने से कैसे भिन्न होकर सामने आता है। मैथिलीशरण गुप्त ने जो अनुवाद

किया है वह बच्चन ने नहीं किया, बच्चन ने जो किया है वह केशव प्रसाद पाठक ने नहीं किया।

मूल प्रयोग	अनुवाद		
	डॉ. हरिवंश राय बच्चन	श्री मैथिलीशरण गुप्त	श्री केशव प्रसाद पाठक
1. Well of Life	लघु जीवन-जल की रेखा	जीवन-रस	जीवन-निर्झर
2. Golden Grain	स्वर्ण	स्वर्ण-राशि	कनक-धान्य
3. Youth's sweet Scented Manuscript	सरस यौवन का मधुराख्यान	सुरभित यौवन की	मधुमय मृदु यौवन-गाथा
4. Magic shadow show	इंद्रजाली माया का खेल	माया की छाया का कौतुल-भर	माया ही का विरचा छाया खेल
5. Past regrets and Future rears	भविष्य के भय, भूत के दारूण दुःख	भूत-भविष्य भावना	आशंका-अनु-शोक शोक

इस तुलनात्मक प्रस्तुति से यह स्पष्ट हो जाता है कि काव्यानुवाद को अनुवादक के वैचारिक एवं भावात्मक परिप्रेक्ष्य में ही देखना उचित होता है। वैसे इस विवेचन के अंतर्गत अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं। किंतु यहाँ काव्यानुवाद के व्यावहारिक पक्ष का सांकेतिक रूप से मूल्यांकन ही अपेक्षित रहा है।

काव्यानुवाद की प्रक्रिया

काव्य के अनुवाद की प्रक्रिया अत्यंत जटिल है। काव्यानुवादक सृजन की दोहरी प्रक्रिया से गुजरने के बाद भी सामान्यतः इसी निष्कर्ष पर पहुँचता है कि उत्कृष्ट स्तर वाले साहित्यिक गौरव ग्रंथों का अनुवाद मूल की कला और सौंदर्य को उपयुक्त रूप से अक्षुण्ण रखते हुए लगभग असंभव कार्य है। गद्य साहित्य का अनुवाद तो फिर भी समतुल्यता की कसौटी पर कुछ संभव हो पाता है किंतु काव्य का अनुवाद तो पूर्णतः यथावत् या समतुल्य कर पाना असंभव ही है। काव्य के शब्दों के भीतर बसा संस्कारगत निहितार्थ तो महत्वपूर्ण होता ही है, उनकी ध्वन्यात्मकता, कथ्यगत भाव एवं विचारों का यथावत् रूपांतरण तथा कविता या रचना का संरचनात्मक-वैशिष्ट्य भी अत्यंत विचारणीय

होता है। कविता का संगीत, उसका विशिष्ट संस्कार, परिवेश तथा भाव और रस का सम्मिश्रण -- सभी कुछ अनुवादक के समक्ष चुनौती बन कर उभरता है। अतः काव्यानुवाद में समतुल्यता आदर्श मात्र होती है, अन्यथा वह दुःसाध्य और दुर्गम ही है। काव्यानुवाद की प्रक्रिया के चार चरणों की संक्षेप में समीक्षा की जा सकती है।

1. शब्द संस्कार एवं शब्द चयन : किसी भी भाषा के शब्दों की अपनी विशिष्ट प्रकृति होती है जिसमें उनके एक या एकाधिक अर्थों या उनकी बहुस्तरीय छायाओं को देखा जाता है। जैसे :

रहिमन **पानी** राखिए, बिन पानी सब सून,
पानी गए न ऊबरे, **मोती, मानस, चून।**

रहीम के इस दोहे के काले मोटे शब्द 'पानी' के तीन अर्थ हैं जिन्हें **मोती, मानस** तथा **चून** के परिप्रेक्ष्य में देखना आवश्यक है। मोती के परिप्रेक्ष्य में यह चमक या आभा है, मानस के परिप्रेक्ष्य में यह इज्जत या सम्मान है तथा चून के परिप्रेक्ष्य में यह जल है। इन तीनों के लिए पानी अत्यंत महत्वपूर्ण है। परंतु 'पानी' शब्द के इन संस्कारगत अर्थों को संदर्भ-विशेष में ही समझा जा सकता है। इसी प्रकार, सभी शब्दों के भीतर निहित उनके संस्कारगत अर्थ को देख-समझ कर ही अनुवाद किया जाना चाहिए। जैसे 'जल' पूजा के लिए प्रयुक्त होता है और 'पानी' सामान्य बोलचाल में पीने के लिए। 'अक्षत' पूजा में काम आने वाले चावल हैं जबकि सामान्यतः 'चावल' की संकल्पना भिन्न है।

इसी आधार पर अनुवादक को शब्द का चयन भी करना चाहिए। यह वास्तव में काव्यानुवादक की निजी क्षमता पर ही निर्भर करता है। पीछे उमर खैयाम की रुबाइयों के विविध अनुवादकों की चर्चा करते हुए हम देख भी चुके हैं कि प्रत्येक अनुवादक ने अपनी वैचारिक एवं भावात्मक प्रकृति के आधार पर किस प्रकार शब्द चुने हैं। शब्द बोलचाल की भाषा के हों या साहित्यिक, शब्द-मैत्री का ध्यान कैसे रखा जाए। शब्दानुवाद किया जाए या भावानुवाद, शब्द की भीतरी शक्ति को किस गहराई से समझा और आँका जाए आदि कितने ही प्रश्नों पर विचार कर अनुवादक को अपनी यात्रा तय करनी होती है। हर शब्द का अपना एक इतिहास, परिवेश, परंपरा और आवेग होता है। इन सबको देख-विचार कर ही अनुवादक उन्हें चुनता है।

2. कथ्य-निर्वाह : अनुभूति एवं विचार के परिप्रेक्ष्य में : कथ्य काव्य का मूल या प्राण होता है। कवि अपनी चित्तवृत्ति को व्यक्त करने के लिए अनेक विषयों, प्रसंगों, चरित्रों, घटनाओं, व्यक्तियों और परिवेशों का उपयोग कर अपना मंतव्य सामने लाता है। इन सभी के सम्मिश्रण से वह कृति निर्माण कर सर्जक या कवि कहलाता है।

अतः कथ्य के अंतर्गत स्थूलतः कथा-तत्व, चरित्र-चित्रण, विचार तत्व तथा भाव तत्व प्रधान होते हैं। काव्यानुवादक को काव्य कृति के इन चारों तत्वों का पूरी सावधानी से रूपांतरण करना होता है। भाव और विचार की समतुल्य प्रस्तुति तो काव्यानुवादक के लिए एक खास चुनौती बन कर उभरती है। मैथिलीशरण गुप्त द्वारा किए गए फिट्ज़्ज़ेराल्ड की अंग्रेजी रूबाइयों के अनुवाद में से एक उदाहरण प्रस्तुत है जहाँ मूल के विचार तत्व को पूरी तरह से सुरक्षित रखा गया है :

मूल : Here with a Loaf of Bread beneath the Bough,
A Flask of wine, a Book of Verse — and Thou
Beside me singing in the Wilderness--
And Wilderness is Paradise now.

अनुवाद : इस तरु तले कहीं खाने को रोटी का टुकड़ा हो एक,
पीने को मधु पात्र पूर्ण हो करने को हो काव्य-विवेक
तिस पर इस सन्नाटे में तुम बैठे बगल में गाती हो,
तो नंदन-सम इसी विजन में मुझे स्वर्ग का हो अभिषेक।

इसी प्रकार वर्ड्सवर्थ की मूल कविता के विचार तत्व को अनुवादक यतींद्र कुमार ने बहुत खूबी से रूपांतरित किया है। बालक का बड़ा होते जाना तथा विषयता के तंतुजालों का उसके चारों तरफ बढ़ते जाना, कवि के वैचारिक धरातल से परिचय कराता है :

मूल : Heaven lies about us in our infancy!
Shades of the prison-house begin to close
Upon the growing Boy.

अनुवाद : बसता स्वर्ग हमारे चारों ओर, हमारी शैशव वय में
कारागृह की छायाएँ लगती हैं घिरने,
ज्यों-ज्यों वह कौशोर्य-रूप में लगता बढ़ने।

इसी प्रकार भावों और मनोवेगों को, रसास्वादन करती मानवीय सहृदयता को तथा मार्मिक स्थलों की भावपूर्ण प्रस्तुति को रूपांतरित करना भी दुःसाध्य करता है। हिंदी में अनुवादकों ने इस दिशा में सामान्यतः कृतिकारों के भाव-सरोवर में अवगाहन करते हुए तुल्य-रस-स्थिति के सर्जन को ही अपनाया है। कीट्स के काव्य-लोक में भाव-विचरण करने वाले अनुवादक कवि यतींद्र कुमार का यह अनूदित उदाहरण द्रष्टव्य है, जहाँ वे प्रेम की कोमल भावनाओं को बारीकी से पकड़ने का सफल प्रयास करते हैं :

मूल : With every morn their love grew tenderer.
With every eve deeper and tenderer still;
He might not in house, field or garden stir.
But her full shape would all his seeing fill.

अनुवाद : हर प्रभात के साथ प्रेम उनका होता था कोमलतर,
हर संध्या के साथ, और गंभीर, और भी यह कोमल,
चाहे घर में, या कि खेत, उपवन में ही वह रहा विहर,
प्रिया-मूर्ति की उसके नयनों के समक्ष रहती है प्रतिपल।

अतः हर्ष, शोक, उल्लास, उन्माद, चिंता, लज्जा और पीड़ा आदि कई मर्मस्पर्शी भावों का आत्मीकरण करके ही दूसरी भाषा में रूपांतरण किया जा सकता है। तभी अनुवादक मूल की सी भाव-प्रतिभा का प्रतिस्थापन कर पाता है।

3. संरचनात्मक वैशिष्ट्य : काव्यानुवाद के अंतर्गत अनुवादक को लक्ष्य एवं स्रोत भाषा के संरचनात्मक गठन का भी पूरा ध्यान रखना होता है। प्रत्येक भाषा की अपनी एक विशिष्ट संरचना होती है और उसी आधार पर कवि या साहित्यकार सर्जन करता है। अनुवाद में अधिकांशतः यह संरचनात्मक वैशिष्ट्य बाधक बनता है। हिंदी की वाक्य संरचना कर्ताकर्मक्रिया की क्रम-व्यवस्था पर आधारित है तो अंग्रेजी की सामान्यतः कर्ताक्रियाकर्म पर आधारित होती है। अतः अनुवादक को भाषिक-संरचना के वैशिष्ट्य का पूरा ध्यान रखना चाहिए। भाषा की प्रकृति अगर अनुवाद में बदलती हुई जान पड़े तो सौंदर्य क्षीण होने लगता है। इसी प्रकार, विरामादि चिह्नों की प्रकृति एवं स्थिति का भी अनुवादक को पूरा ध्यान रखना चाहिए। दो भाषाओं की संरचनागत भिन्नता कविता के सूक्ष्म अर्थ तथा भाव दृष्टि को प्रभावित करती है और इसी दिशा में अनुवादक को सावधानी बरतनी होती है।

4. आगत शब्दों का अनुवाद : काव्यानुवादक को कविता में आए विदेशी शब्दों, पदबंधों या उपवाक्यों आदि का अनुवाद भी अत्यंत सोच-समझ कर तथा रच-पच कर ही करना चाहिए। अंग्रेजी शब्दों, वाक्यांशों या मुहावरों का प्रयोग अनुवाद के माध्यम से करना अत्यंत जटिल कार्य है। हालाँकि हिंदी में ऐसे बहुत से प्रयोग किए भी गए हैं तथा वे मान्य एवं प्रचलित भी हुए हैं। यथा -- Golden Touch -- सुनहले स्पर्श, Broken heart -- भग्न-हृदय, Golden dream -- स्वर्ण स्वप्न, Heavenly light -- स्वर्गीय प्रकाश, Dreamy smile -- स्वप्निल मुस्कान; तथा Silvery -- रूपहले आदि।

इसी तरह हिंदी कविता में बहुत से अंग्रेजी प्रयोगों को यथावत रखने के उदाहरण देखने को मिलते हैं। ऐसी स्थिति तब होती है जब अनुवादक मूल शब्द का लक्ष्य भाषा में उत्तम प्रतिशब्द ढूँढ़ या बना नहीं पाता तो वह उसे उसी प्रचलित रूप में प्रयुक्त कर देता है। यथा -- 'उसकी फाइल सी भरी आँखों में', 'अस्थिर मन सा रेलवे का एक वेटिंग रूम'। तथा 'यदि स्त्रियाँ शिक्षा पाती तो, परदा सिस्टम होता दूर' इसी तरह के प्रयोग हैं।

काव्यानुवाद के प्रकार

काव्यानुवाद पुनर्सृजन है, इसमें संदेह नहीं। किंतु यहाँ पुनर्सृजन से तात्पर्य पूर्णतः मौलिक रचना से न होकर यथासंभव मूल के निकट पहुँचने या रहने का प्रयास भी है। काव्यानुवाद की प्रक्रिया में अनुवादक पहले चरण में पाठक प्रतिपाद्य को ग्रहण करता है और फिर उस भाव को लक्ष्य भाषा में संप्रेषित कर दोहरी यात्रा तय करता है। काव्य में मात्र भाषा के ही अनुवाद की समस्या मुख्य नहीं होती, उसका शब्द-चयन, अलंकार विधान, छंद योजना, लाक्षणिक एवं नाद-सौंदर्य आदि कई चुनौतियाँ अनुवादक के सामने खड़ी रहती हैं। इस आधार पर कविता का अनुवाद भी कई प्रकार का हो जाता है। जहाँ मात्र शब्दों के अनुवाद का प्रयास रहा हो वहाँ 'शब्दानुवाद' या 'शाब्दिक अनुवाद', जहाँ ध्वनि व्यवस्था पर विशिष्ट ध्यान दिया गया हो वहाँ 'स्वनिमिक अनुवाद', जहाँ छंदों को भाव से अधिक महत्व दिया गया हो वहाँ 'छंदानुवाद', जहाँ कविता को गद्य में रूपांतरित कर दिया गया हो वहाँ 'कविता का गद्यानुवाद'। इसी प्रकार 'तुकांत अनुवाद', 'पुनर्व्याख्यात्मक अनुवाद', 'भावानुवाद' और 'मुक्तछंदपरक अनुवाद' आदि काव्यानुवाद के प्रमुख प्रकार माने जा सकते हैं। किंतु कविता के क्षेत्र में सर्वमान्य धारणा यही रही है कि 'भावानुवाद' ही उत्तम अनुवाद होता है। अंग्रेजी से हिंदी में शैले, वर्ड्सवर्थ तथा कीट्स आदि के काव्य को सफलता से प्रस्तुत करने वाले अनुवादक श्री यतींद्र कुमार का भी यही मानना है कि -- 'भावानुवाद की पद्धति एक प्रकार से मूल रचना के समांतर नवीन-सृजन (parallel recreation) है, दोनों (मूल और अनूदित) एक न होकर एक-सी होती है। यह एकता भाव-सामग्री की दृष्टि से होती है। इसमें एक आशंका यह होती है कि अधिकतर मूल कवि के रचनात्मक स्वरूप का जिज्ञासु पाठक के लिए कोई अनुमान नहीं हो पाता। तथा मूल कवि की ऐसी देन से जिससे हमारी कविता की अलंकृत और अभिव्यंजना समृद्ध हो सकती है, हम वंचित रह जाते हैं। यह सच है कि ऐसी वस्तु का बाहुल्य नहीं होता क्योंकि दोनों के समय और समाज के परिवेश भिन्न होते हैं, तो भी ऐसे कुछ मुहावरे, बिंब, छंद तथा अन्यान्य उपकरण जिनमें मूल कवि के व्यक्तित्व का सार्वजनिक रूप प्रकट होता है, अवश्य अनुकूल होने चाहिए।' (महाकवि वर्ड्सवर्थ के काव्य लोक से)

काव्यानुवाद की प्रमुख समस्याएँ

काव्यानुवाद और ज्ञान साहित्य के अनुवाद का मुख्य अंतर है -- अनेकार्थकता और एकार्थकता। ज्ञान साहित्य में अभिधात्मकता प्रधान होती है तथा सृजनात्मक साहित्य में लाक्षणिक एवं व्यंजनात्मकता प्रधान होती है। अतः काव्य के अनुवाद की सबसे बड़ी यही समस्या है। काव्य के अनुवादक को पाठक और रचयिता या कहें कि सहृदय और

सर्जक की भूमिका से एक साथ गुजरना होता है। उसे ग्रहण या आस्वादन तथा संप्रेषण और तादात्मय की यात्रा पूरी करनी होती है।

बहुत कम कविताओं के अनुवाद ऐसे हैं जिनमें मूल की पूरी तरह कथ्य और शैली की दृष्टि से सुरक्षा की जा सकी हो। प्रयास नहीं किया गया, ऐसा नहीं। प्रयास के बावजूद पूरी सफलता न मिल पाना भी काव्य के अनुवाद की एक विडंबना ही है। यों काव्यानुवाद की अनेक कठिनाइयाँ हैं जोकि कविता या रचना विशेष के परिप्रेक्ष्य में उभरकर आती है किंतु कतिपय मुख्य कठिनाइयों को इस प्रकार देखा जा सकता है --

- काव्य की अर्थ-रचना और अभिव्यंजना संबंधी कई स्थितियाँ प्रायः अनूद्य होती हैं।
- स्रोत भाषा या रचना के पूर्ण कथ्य (भाव एवं विचार) तथा सभी शब्दों के लिए लक्ष्य भाषा में उपलब्ध शब्द पूर्णतः समर्थ और सफल सिद्ध नहीं हो पाते।
- अलंकारों और छंदों का यथावत् रूपांतरण असंभव होता है।
- काव्यानुवादक का अपना व्यक्तित्व अनुवाद में समाहित हो जाता है।
- रचना का अपना परिवेश, संस्कार तथा परंपराएँ अनुवाद में बाधा बनते हैं।
- रूपक, बिंब, प्रतीक, नाद सौंदर्य, शब्द शक्तियाँ अनुवादक के लिए चुनौती बनते हैं।

इस प्रकार काव्यानुवादक की बहुत-सी समस्याओं में जो प्रमुख समस्याएँ सामने आती हैं उन पर भी संक्षेप में विचार कर लेना अपेक्षित जान पड़ता है। इस संदर्भ में सर्वप्रथम काव्य-शिल्प की समस्या का विश्लेषण किया जा सकता है :

1. काव्य-शिल्प की समस्या : कवि अपने भावों और विचारों को अभिव्यक्त करता है तो अपने सौंदर्य बोध के बल पर उन्हें सुंदर, आकर्षण तथा प्रभावी बनाने का प्रयास भी करता है। इसे ही रूप-सौंदर्य या शिल्प-विधान भी कहा जाता है। साहित्याचार्यों ने भी इसी कारण रमणीय भाव, उक्ति वैचित्र्य तथा वर्ण-लय-संगीत आदि के समंजित रूप को ही कविता माना है। काव्य-शिल्प के अंतर्गत जिन मुख्य पक्षों की चर्चा की जाती है उन्हें हम आगे विवेचन का विषय बनाएँगे। यहाँ केवल यह स्पष्ट करना अभिप्रेत है कि कविता के अनुवाद में मूल कविता की शिल्प योजना, उसकी भाषा तथा उसके विविध उपकरणों के परिप्रेक्ष्य में अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है।

2. लक्षणा और व्यंजना : काव्य-भाषा का सौंदर्य प्रायः लक्षणा और व्यंजना पर आश्रित रहता है। लक्षणा में अर्थ-संदर्भ के विपर्यय द्वारा भाषा में मूर्त विधान की क्षमता का समावेश हो जाता है। व्यंजना पाठक या श्रोता की कल्पना में सामान्य अर्थ से भिन्न किसी रमणीय अर्थ का उद्‌बोध करती है। अभिधा अर्थात सामान्य कथन की अपेक्षा इन दोनों का अनुवाद स्वभावतः कठिन होता है। लक्षणा का रूपांतर करने के लिए अनुवादक को ऐसे पर्यायों का चयन करना आवश्यक होता है जिनमें मूर्त विधान की क्षमता हो। इसी प्रकार, व्यंजना के अनुवाद के लिए वे ही पर्याय सार्थक हो सकते

हैं जो पाठक के चित्त में समान कल्पना जगा सकें।

शेक्सपियर की एक लाक्षणिक पंक्ति हैं : 'नाउ हैवन वॉक्स ऑन अर्थ' (Now Heaven Walks on Earth)। इसका हिंदी रूपांतर है -- ''अहा (यह देखो) पृथ्वी पर स्वर्ग विचरण कर रहा है।'' यहाँ 'हैवन' दिव्य सौंदर्य के अर्थ का व्यंजक लाक्षणिक प्रयोग है, जिसका अनुवाद उसके हिंदी-पर्याय 'स्वर्ग' के द्वारा सरलता से हो जाता है। इसी तरह, कालिदास की प्रसिद्ध लाक्षणिक उक्ति : 'अहो लब्ध नेत्रनिर्वाणम्।' का अनुवाद है -- ''अहा, नेत्रों का निर्वाण प्राप्त हो गया है।'' यहाँ संस्कृत वाक्य में प्रयुक्त 'परम शांति और आनंद' का व्यंजक लाक्षणिक पद 'निर्वाण' को हिंदी में यथावत् उद्धृत कर दिया गया है।

उपर्युक्त दोनों सूक्तियों में लक्षणा द्वारा कल्पना-चित्र और व्यंजना द्वारा 'प्रणयजन्य हर्ष' दोनों युगपत् निर्वाह सामान्यतः हो गया है। मोमिन का उर्दू का एक बड़ा मशहूर शेर है :

तुम मेरे पास होते तो गोया
जब कोई दूसरा नहीं होता

इसका हिंदी में अनुवाद अनावश्यक है -- अधिक से अधिक 'गोया' के स्थान पर 'मानो' शब्द का प्रयोग किया जा सकता है। फिर भी, हिंदी में यथावत् उद्धृत कर देने से इसमें निहित सूक्ष्म-कोमल व्यंग्यार्थ का उद्‌बोध हिंदी पाठक के मन में सहज ही हो जाता है।

3. बिंब : काव्य-भाषा का दूसरा प्रमुख घटक या आधार-तत्व है -- बिंब। ऐंद्रिय बोध के अनुसार सामान्यतः पाँच प्रकार के बिंब होते हैं -- चाक्षुष या दृश्य-बिंब, श्रोत या नाद-बिंब, रस्य या आस्वाद-बिंब, स्पर्श-बिंब और प्राण या गंध-बिंब। इनमें दृश्य-बिंबों का उनके मूर्त रूप के कारण भाषांतरण सबसे सरल होता है : चंद्र, सूर्य, नक्षत्र-किरण, प्रकाश, अंधकार, पर्वत, नदी, निर्झर, दिवा-रात्रि, ऋतु-संहार, विभिन्न रंगों के प्राकृतिक उपादान, आकाश, मेघमाला, वन-संपदा आदि सभी दृश्य-बिंब हैं जिनका उपयुक्त पर्याय के द्वारा अनुवाद करना कठिन नहीं होता। उदाहरण के तौर पर, 'Rosy cheeks' -- 'गुलाबी गाल', 'Blue Sky' – 'नीला आकाश', 'Dark Eyes' -- 'श्यामल नेत्र', 'Dark Night' -- 'काली रात', 'Saffron colour' --'केशर रंग' आदि।

रस्य या आस्वाद बिंब का अनुवाद भी उपयुक्त पर्यायों के द्वारा प्रायः हो जाता है -- 'Sweet voice' = मधुर स्वर, 'Bitter reaction' = कटु प्रतिक्रिया, 'Bitter remark' = कड़वी बात, 'Sour Temper' = तुर्श मिज़ाज आदि उदाहरण इसके प्रमाण हैं।

स्पर्श बिंब के संदर्भ में 'Silken Touch' = रेशमी स्पर्श, 'Stone deaf' = वज्रबधिर आदि शब्दों का उल्लेख किया जा सकता है।

इसी प्रकार, गंध-बिंब के अंतर्गत 'Stinking atmosphere' = दुर्गंधपूर्ण वातावरण/स्थिति/परिस्थिति आदि उल्लेखनीय है।

4. उपमान और प्रतीक : उपर्युक्त शब्द-बिंब अपने एकल रूप में उपमान भी बन जाते हैं। सामान्यतः उपयुक्त पर्यायों द्वारा उपमानों का अनुवाद हो जाता है। किंतु पर्याय-प्रयोग में मूल और अनुवाद भाषाओं के भौगोलिक तथा सांस्कृतिक परिवेश का ध्यान रखना आवश्यक है। भारतीय भाषाओं में 'हिम' शब्द जहाँ सुखद शीतल प्रभाव का व्यंजक है, वहाँ अंग्रेजी के 'Snow' शब्द की व्यंजना भिन्न है : 'Ice-cold' पद में 'शांत-विजड़ित' प्रभाव की व्यंजना है। इसी प्रकार, 'cold wind' का अनुवाद 'शीतल समीर' नहीं हो सकता।

किसी एक विशेष अर्थ में रूढ़ बन कर उपमान प्रतीक का रूप धारण कर लेता है, जिसका अपनी भाषा की संस्कृति से घनिष्ठ संबंध होता है। वास्तव में प्रतीक सांस्कृतिक शब्द ही होता है। हिंदी में 'दीप' (दीपक), 'तिलक', आदि शब्द प्रतीक भारतीय संस्कृति के साथ जुड़ गए हैं। सामान्य अर्थ में 'दीप' का अनुवाद 'Earthen lamp' हो सकता है, किंतु प्रतीक अर्थ में यह अनुवाद हास्यास्पद हो जाएगा। 'वह कुल का दीपक है', इस वाक्य का अनुवाद किसी बालक या किशोर के संदर्भ में होगा -- 'He is the hope of the family'। और 'मेधावी पुरुष' के संदर्भ में 'दीपक' का अनुवाद होगा -- 'Symbol of glory'। इसी प्रकार 'तिलक' का जहाँ सामान्य अर्थ में अनुवाद हो सकता है -- 'Vermilian mark' वहाँ प्रतीक रूप में उसके लिए 'Pride' या 'Doyen' आदि शब्दों के द्वारा ही भाषांतरण किया जा सकेगा। अंग्रेजी में 'Cross', 'Bible' आदि शब्द प्रतीक बन गए हैं। हिंदी अनुवाद करते समय इनके लिए संदर्भ के अनुसार व्याख्यात्मक पर्यायों का प्रयोग करना होगा। हिंदी के 'संस्कार', 'धर्म' आदि शब्दों के अनुवाद की समस्या भी इस पद्धति से हल की जा सकती है। लेकिन इसके अतिरिक्त कुछ प्रतीकार्थक शब्द ऐसे भी हैं जिनके शाब्दिक रूपांतर अपना मूलवर्ती धारणा के साम्य के कारण अनुवाद-भाषा का अंग बन जाते हैं। हिंदी के 'अमृत', 'विष', 'स्वर्ग', 'नरक' आदि ऐसे ही शब्द हैं जिनके शाब्दिक रूपांतर से प्रतीकार्थ की प्रतीति हो जाती है -- जैसे 'वेदी' की अर्थ-व्यंजना के लिए 'Alter' शब्द अपने आप में सर्वथा समर्थ है।

5. अलंकार : काव्य-भाषा का एक अन्य आवश्यक आधार-तत्व है -- अलंकार। उपमान और बिंब अलंकार के ही उपजीवी हैं। अलंकार के दो भेद हैं -- अर्थालंकार और शब्दालंकार। इनमें अर्थालंकार के अनुवाद का सार्थक प्रयत्न किया जा सकता है। सादृश्यमूलक अलंकार सबसे कम कठिनाई उत्पन्न करते हैं। जैसा कि उपमानों के संदर्भ में संकेत किया गया है, अनुवादक को यहाँ भौगोलिक और सांस्कृतिक परिवेश का ध्यान अवश्य रखना होगा। अतिशयमूलक अलंकार के अनुवाद की समस्या भी बहुत कुछ इसी

पद्धति से हल की जा सकती है। वैषम्यमूलक अलंकारों का अनुवाद अपेक्षाकृत जटिल होता है। जहाँ वैषम्य स्पष्ट होता है वहाँ तो काम आसानी से चल जाता है, किंतु सूक्ष्मतर वैषम्य का भाषांतर अनुवादक के लिए चुनौती बन जाता है। 'He is adept in killing by kindness' -- 'वह दया-माया के द्वारा मारने में सिद्धहस्त है।' इस वाक्य में वैषम्य स्पष्ट है, अतः शब्दांतर के लक्ष्य प्रायः सिद्ध हो जाता है। अन्य अलंकारों का अनुवाद अत्यंत जटिल होता है क्योंकि वे अर्थ-संदर्भों के अतिरिक्त भाषिक-संस्कार पर भी निर्भर करते हैं।

शब्दालंकार-वर्ग में अनुवादक की गति अनुकरण से आगे नहीं हो सकती। भाषा के ध्वनिविज्ञान का पारखी अनुवादक समान वर्णों की आवृत्ति तथा वर्ण-मैत्री के विनियोग द्वारा अनुप्रास का एक सीमा तक रूपांतर कर सकता है। अंग्रेजी के टैमिसन, स्विनबर्न आदि कवि स्वर मैत्री की कला में अत्यंत प्रवीण थे। छायावाद के कवियों में पंत आदि ने अपनी अनेक गीति मधुर कविताओं में, प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से, यह प्रभाव ग्रहण किया है। निराला ने मिल्टन के मेघ-भद्र नाद-प्रभाव का हिंदी में भाषिक विधान में अत्यंत कौशल के साथ अंतर्भाव कर दिया है। शब्दालंकार-वर्ग के श्लेष, यमक आदि का भाषांतर प्रायः असंभाव्य ही है।

6. छंद एवं लय : छंद कविता का आवश्यक साधन-उपकरण है। प्राचीन आचार्यों में इस विषय में कुछ मतभेद था। किंतु अब काव्य (रसात्मक साहित्य) और कविता का अंतर स्पष्ट हो जाने पर बहुमत ने इसे कविता के व्यावतर्क अंग के रूप में स्वीकार कर लिया है। छंद का आधार है -- लय, जो मात्राओं, वर्णों और स्वरघात आदि की सम-विषम योजनाओं पर निर्भर करती है। संस्कृत तथा आधुनिक भारतीय भाषाओं में छंद-विधान के सांगीतिक आधार के साम्य के कारण अनुवाद अधिक कठिन नहीं होता। संस्कृत-काव्यों में समश्लोकी अनुवाद हिंदी तथा अन्य भारतीय भाषाओं में निरंतर होते रहे हैं। किंतु अंग्रेजी तथा दूसरी यूरोपीय भाषाओं का सांगीतिक आधार भिन्न होने से पाश्चात्य छंदों का अनुवाद हिंदी तथा अन्य भारतीय भाषाओं में प्रायः दुसाध्य ही होता है। उदाहरण के लिए, हिंदी और अंग्रेजी की छंद-योजना लीजिए। हिंदी छंद जहाँ मात्रा और वर्ण पर आश्रित हैं, वहाँ अंग्रेजी छंद स्वराघात का आश्रय लेकर चलता है। लघु-गुरु, गणना और तुकांत आदि का विधान दोनों में है, किंतु सांगीतिक आधार भिन्न होने से एक का दूसरे में यथावत् रूपांतरण हो सकता है : 'मर्चेंट ऑफ वेनिस' की प्रथम पंक्ति देखिए : 'In soothe I know not why I am so sad' का अनुवाद किया गया है -- 'मैं जानता नहीं कि मैं इतना उदास क्यों हूँ।'

इन दोनों का लय-प्रवाह भिन्न ही है। ऐसी स्थिति में अनुवादक के लिए एक ही विकल्प है -- और वह है मूल लय की अनुसर्जना -- अर्थात् सृजनात्मक अनुकरण।

निराला ने 'राम की शक्ति पूजा' आदि में मिल्टन की सघोष, स्फीत लय-योजना की, और पंत ने अपनी कतिपय कविताओं में टेनिसन, स्विनबर्न जैसे कवियों की तरल-चटल लय-योजना की इसी प्रकार अनुसर्जना की है। मूल भाव या रस के साथ छंद की पहचान भी इस कार्य में सहायक हो सकती है।

काव्य का अनुवाद : एक असाध्य साधना

स्पष्ट है कि कविता का अनुवाद एक प्रकार की असाध्य साधना ही है। इसलिए विश्व के साहित्य में ऐसे काव्यानुवाद अत्यंत विरल हैं जिन्हें क्रोचे के मतानुसार दूसरी कृति न कहा जा सके। 'रूबाइयत उमर खैयाम' का फिट्ज़्ज़ेराल्ड कृत बहुचर्चित अंग्रेजी अनुवाद, और हिंदी साहित्य में लोकप्रिय 'अभिज्ञान शाकुंतलम्' का लक्ष्मण सिंह कृत हिंदी अनुवाद ऐसी ही विरल रचनाएँ हैं।

उनके द्वारा अनूदित रचनाओं में पाठक मूल कृति की विषय-वस्तु और अंतर्वर्ती भावना को तो ग्रहण कर लेता है किंतु कलात्मक अनुभूति तक नहीं पहुँच पाता। वास्तव में ज्ञान के साहित्य के लिए अनुवादक में जिन अर्हताओं की अपेक्षा होती है वे सभी कविता के अनुवादक के संदर्भ में अपर्याप्त रहती हैं। मूल और लक्ष्य भाषाओं पर अधिकार, विषय-वस्तु का सम्यक् ज्ञान और अभ्यास -- ये सभी गुण उसके लिए भी आवश्यक हैं। परंतु केवल उनके द्वारा काव्यानुभूति का संप्रेषण या व्यंजना संभव नहीं है क्योंकि, उसे मूल रचना का रूपांतरण नहीं वरन् पुनःसृजन करना होता है। इसी दृष्टि से विशेषज्ञों ने काव्यानुवाद को अनुसर्जना या अनुकरण कहा है, जो असाध्य नहीं तो दुसाध्य साधना अवश्य है। उसके लिए अनुवादक में कवित्व शक्ति, और स्पष्ट शब्दों में काव्य-सर्जना की प्रतिभा का होना आवश्यक है। उसे मूल कृति का बार-बार मनन कर, अपनी चेतना में कृतिकार की सृजनात्मक मनःस्थिति का उद्‌बोध करना आवश्यक हो जाता है। तभी वह मूल कृति की संवेद्य अनुभूति को आत्मसात कर उसे अपनी भाषा में अभिव्यक्त कर सकता है। चूँकि अनुभूति का अभिव्यक्ति के साथ अत्यंत घनिष्ठ संबंध होता है, इसलिए अनुवाद की अभिव्यंजना भी मूल कृति की अभिव्यंजना के निकट पहुँच जाती है। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह संपूर्ण प्रक्रिया पुनःसृजन की प्रक्रिया ही है : इसी अर्थ में काव्यानुवाद को अनुसर्जना कहा गया है। भारतीय योग-दर्शन में एक विशेष प्रक्रिया 'परकाया-प्रवेश' का उल्लेख मिलता है, जिसके द्वारा योगी अन्य मनुष्य के व्यक्तित्व में प्रवेश कर उसके अनुभवों का स्वयं अनुभव कर सकता है। काव्य के अनुवादक को योग-समाधि के द्वारा 'परमानस प्रवेश' की साधना करनी होती है जो असाध्य नहीं है तो दुःसाध्य अवश्य है।

❑

Prof. K. Satchidanandan

The Politics and Poetics of Translation

Poetry translation is
a transmigration.
As a fish dives through water
the translator moves through minds
on the bank of each work,
in the thick sand, he kneels,
studying the colour of each shell,
blowing each conch.

Poetry translation is
the embarrassing head-transposal
of the Vikramaditya Tales.
The translator supports
another poet's head on his trunk.
Each line is a lane
worn out with war,
misery and boredom.
A bylane of music along which
parade immortal men,
gods and trees.
An abyss opens where a line ends.
The souls of the dead
quench their thirst
in that pool of silence.

O, those who come this way,
please take off your shoes
and leave your garments here.

You must sneak through naked
like the wind in the valley.

One day I dreamt of myself
translating my poetry
in my own language.
All of us translate each poem
into our own private language
and then we quarrel over the meanings.
It seems to me that
the Babel will never be complete.

(Transposed Head)

I wrote this poem in Malayalam when translating poetry was to me as exciting and as embarrassing a creative act as the writing of poetry itself. It was and has been, to me an act of love and pleasure even in its Barthesian sense and I have learnt more about translation from my own experience than from theories of translation which I believe are mostly products of a discourse on translation rather than of the active experience of the process itself. My motives, however, have not always been the same and I have often wondered whether the theoreticians of translation have ever taken into account the compulsions behind the act inscribed in the very mode and idiom of the translated text. For example, most anthology of Brecht's poetry are in prose, but some are in verse, for these were meant to be sung on the stage either as part of a play or just as songs, as part of certain campaigns. I chose our traditional folk song patterns — of course in new combinations and with necessary adaptations — for the songs in The *Caucasian Chalk Circle.* Again I used the slang of Kerala's fishermen community to translate the speech of the fisherwomen in *The Trial* of *Lucullus.*

Two principal motives have impelled me throughout as a translator, especially of poetry: a social resistance and aesthetic innovation. My best translations — those that have pleased me most — have been those where both these translatorial intents have found simultanious fulfilment for example,- those of Yehuda Amichai, Zbigniew Herbert, Bertolt Brecht, Attila Jozef, Chairil Anwer, Nazim Hikmet, Rafel Alberti, Garcia Lorca, Alexander Blok, Mayakovsky, Eutushenko, Pablo Neruda, Cesar Valley's, Aime Cesaire, Leopol Senghor, Langston Hughes, Margaret Walker, Gabor Garai, Sandor Petofi, Nazrul Islam, Raghuvir Sahay or Srikant Verma besides all the poets in my three anthologies of Latin American, Negro and Socialist poetry. Translating Mao's poems and Ho Chi-Minh's *'Prison Diary'* was to me chiefly a political

assignment while translating Eugenio Montale, Salvatove Quasimodo and Giuseppe Ungaretti was solely an aesthetic undertaking: both did not give me a feeling of real fulfilment. Even among the committed poets, those who suggest the social predicament through the articulation of an existential situation-those who refuse to suppress the intrinsic subjective dimension of the poetic act have fascinated me more than the writers of purely rhetorical, openly political poems dealing in generalisations-perhaps because the former has been my own principal mode of poetic creation. For example I love the Neruda who wrote *La Barcarole* (The watersong) more than the one who wrote *United Fruit Co.*

On several occasions I have worn other poets like a mask and made them speak for me. I translated Brecht's poem *A Worker speaks to a Doctor when* a popular struggle was launched in Kerala against unethical medical practices; I did Brecht's *Are people Infallible?* when "people's courts" were being organized by the extreme left in several parts of my state. His poem on the burning of books came in bandy during the period of National Emergency and censorship. I also remember how the meeting organized for the release of my translations of Pablo Nerudas *Selected poems* and Ho Chi-Minh's *Prison Diary* in Trivandrum during the same period turned out to be a resistance meeting.

I began translating poems very early in life as I did writing poems. My first translations, verses from Omar khyyam's *Rubaiyat* as translated by Fitzgerald, were done while I was a student of eight class and were published in our High school magazine. During the undergraduate days I did chiefly the English romantics, Wordsworth, Shelley and Keats. Most of my later translation of European and Indian poets especially-were done for *Kerala Kavita* a poetry quarterly (at present an annual) founded by a group of poets and critics including me and edited by Dr. K. Ayappaya Panikker. The European poets were translated from their English versions — using as many versions as were available — and then cross-checked with the originals with *the* help of someone who knew the original tongues and could follow their nuances. Notes and commentaries like *those* provided by John Willett and Walter Benjamin to Brecht's poems have also been of help. My attempt has been to capture an echo of the originals in my language retaining as far as possible their structural peculiarities — a very difficult task indeed since my language belongs to the Dravidian family, its only relationship with the Indo-European languages being some of the grammatical peculiarities that Malayalam has inherited from Sanskrit as also a large cotingent of Sanskrit words, the remnants of whose relationship with old Germanic are still obtained in European languages. I have mostly chosen for translation works that possess the quality

of translatability by virtue of which as Benjamin says, the original is closely connected with the translation in a natural and vital way. The life of the original, in the case of such works, attains its ever-renewed, latest and most abundant flowering in translation. All languages are interrelated in what they want to express: translation expresses this central reciprocal relationship between one language and another. However, there is one major distinction between the original and *the* translation: "while a poet's words endure in his own language, even the greatest translation *is* destined to become part of the growth of its own language and eventually to be absorbed by its renewal". (Walter Benjamin: 'The Task of the Translator', *Illuminations)* Translation in "chargen with the special mission of watching over the maturing process of the original language and the birth pangs of its own". All translation is an almost provisional way of coming to terms with the foreignness of language. The relationship between content and language in the translation is different from that in the original in that they form a unity in the original" like a fruit and its skin, while the language of the translation envelops its content "like a royal robe". Again, the effort of the translator is never directed at the language as such as that of the poet at its totality, but solely and immediately at specific linguistic conxtual aspects. "Unlike the work of literature, translation does not find itself in the centre of language forest but on the outside, facing the wooded ridge, it calls into it without entering, aiming at that single spot where the echo is able to give, in its own language, the reverberation of the work in the alien one... The intention of the poet is spontaneous, primary, graphic; that of the translator is derivative, ultimate, ideational. For the great motif of integrating many tongues into one true language is at work". (Ibid) Again Benjamin is right when he says that translation instead of resembling the meaning of the original," must lovingly and in detail incorporate the original's mode of signification thus making both the original and the translation recognizable as fragments of a greater language". The sense has already been assembled, the meaning already expressed, by the original so that the translator can concentrate on the mode of this organisation rather than trying to communicate something.

Rudolf Annwitz has rightly observed, " The basic error of the translator is that he preserves the state in which his own language happens to be instead of allowing his language to be powerfully affected by the foreign tongue". The translator must expand and deepen his own language by means of the foreign language." I can confidently claim that this is exactly what I have tried to do with my translations into Malayalam. Neruda and Mayakovsky had been translated into Malayalam in the 1950's by the progressive poet, K.P.G. But his translation failed exactly in that. He entirely ignored the mode

of poetic organisation peculiar to these poets. He translated them instead into readily available poetic forms and gargons so that no reader of his translations ever thought Neruda or Mayakovsky different from the mediocre Malayalam poets writing in their day. He suppressed every sign of idiomatic innovation he did not comprehend or approve of and simply ignored metaphors and even, left out whole lines that appeared too complex or subtle for his meagre grasp. Translation in his hands become not a transposal of heads but a Procustean decapitation. K.P.G's defenders may point out that Malayalam poetry had not evolved enough to contain a Neruda or a Mayakovsky: but this is far from true, for our poetry had already begun to experiment with novel forms and styles and the French symbolists had considerably influenced K.P.G's contemporaries like Changampuzha Krishna Pillai. What is more, G. Sankarakurup's marvellous translations of Tagore poems had already set a standard for all translators of poetry. G. was not anxious to please orthodox senilities; he started from the structural mode of the originals. As a result he invented new forms and contributed to the growth of our poetic language and sensibility while K.P.G. ended up consolidating conventional poetic habits. I cannot still forget the great excitement I felt while going through G's translations of Tagore's *Ekotharsathi* (101 poems) that formed part of my prize-package for an inter-collegiate poetry competition. Even the inviting smell of the fresh paper and the feel of its texture remain stuck to my senses along with the rustling of the grass on the banks of Roopnarayan. I believe that the influence of my translations of Pablo Neruda on our younger poets has been as sweeping and decisive for good or bad — as that of G's Tagore renderings on my own generation. I enjoyed translating Neruda right from the involved and complex poems of *(Residence on Earth)* to the tender and simple verses of *the Elemental Odes.* Lorca alone among other poets has given me the same kind of thrill, especially the Lorca of the ballads for whom I invented a modem folk idiom that adapted purely Dravidian vocabulary with folk associations to the metaphoric novelty of Lorcas' Verse. Only his Elegy for the bull-fighter Ignazio Sanchez I translated in charged prose that would just stop short of being melodramatic. Brecht's intellectual sharpness was a temptation while Valley's highly experimental Peruvian images and metaphors posed a challenge.

My earliest translations of poetry from another Indian language were of Nazrul Islam. These I did straight from the original Bengali poems in Devanagari script with the help of a Bengali interpreter with ample knowledge of both the languages. I could retain not only most of the rhythms but even many of the words in the original, especially nouns and adjectives derived from Sanskrit and in current use in Malayalam. Thus 'Bidrohi' became 'Vidrohi',

'Bir' become 'Veera', 'Unnath' become 'Unnatham' and 'Sir' become 'Sirsham'. The first line of 'Kanthari Husiyar' (Boatman, Beware), "Durgam giri Kanthar maru dusthar parabar' was translated as (duragama giri kantharam maru) 'dusthara paravaram' retaining every word in the original. This experience I had more than two decades ago encouraged me to translate Jibanananda Das, Sakti Chattopadhyay and Buddhadeb Dasupta in later years.

Translating from Hindi was less difficult since I had a better grasp of the source language and also knew the peculiarities of most of the poets. My anthology of modem Hindi poetry in Malayalam begins with Muktibodh and Agyey, the pioneers of two different strains and then moves on to poets like Raghuvir Sahay, Kedarnath Singh, Sreekant Verma, Kunvar Narayn and Vinod kumar Shukla and ends with the younger poets still in their twenties and thirties. I had translated a few pieces of Sreekant Verma's 'Magadh' for this anthology but was so fascinated by the sequence that I later translated the whole sequence now available in book-form along with the anthology. Verbs at the beginning of lines appear unnatural in Malayalam (except in conventional metrical verse) and adjectives and adverbs are generally placed before the nouns they qualify or the verbs they modify. This demands a transformation of the original's syntactic order in translation — this has been one difficulty in translating modern Hindi poetry into Malayalam.

I have also had the reverse experience, of translating from Malayalam into other languages. The task here is certainly tougher as the translator's proficiency in the source language is hardly matched by his skill in the target language. For example, I have translated a good number of my own poems into English — an attempt that has revealed to me the limits of translation. It was during this attempt that I began to realize how deeply rooted my poems are in my own soil — in my language, landscape, and cultural memories. Many of them simply resist translation into another language, especially into an alien one like English. So I have attempted only the more 'translatable' poems, those dominated by universal themes and transferable images and metaphors. Other translators of my poems like Dr. E.V. Ramakrishnan, have also not dared to try the rest. The result has been rather embarrassing: those who know my poetry only through translations know only one, perhaps the less significant, half of my poetry as my poems dearer to my own people remain untranslated.

Translating my poems into other Indian languages has been more rewarding. This is especially true of other Dravidian languages like Tamil and Kannada that have almost exact equivalents for our patterns of sound as well as our cultural signs and symbols. Sukumaran and other Tamil poets have preferred free verse forms to metrical ones in their translations of my poetry while H.S. Shivprakash has rendered many of my poems in metres

and folk forms as in Kannada they are part of a living tradition. In Hindl again it has been difficult to maintain the rhythms of Malayalam even though Rajendra Dhodapkar and Girdhar Radhi have made one or two successful attempts. Dhodapkar's translations in my Raj Kamal anthology, mostly in free verse were done directly from Malayalam, both of us having sat together, read and discussed the originals. I have found this method extremely fruitful as proved by Dhodapkar's Hindi versions and Shivprakash's Kannada versions of my poems. Of course there have been several secondary translations too of my poetry done from English versions (Buddhadeb Dasgupta's into Bengali, Suvash Satpathy's into Oriya) or from Hindi versions (Shakuntala Mehta's into Gujarati) — almost inevitable, even if not very desirable, in our multilingual situation.

'Leaving their footprints on the sand,
people ask the following day,
Where did the proof of the journey vanish?
Do you know the answer they receive?
Go, my kin, where there is no sand-
Nobody's sign sticks in the sand.'

(from 'Magadh' by Sreekant Verma,
my improvised translation)

Translations too are footprints left by a journey; they do not stick; yet language does not end its journeys for it knows that whatever it picks up in its journeys contributes to its golden coffers.

❑

प्रो. कृष्ण कुमार गोस्वामी

काव्यानुवाद : आधार एवं प्रकार

सृजनात्मक साहित्य का अनुवाद एक ऐसी कला है जिसे ब्रह्मा की सृष्टि के समान माना जा सकता है, किंतु इस कला को प्रकृति में गौण और प्रकार्य में अमौलिक माना गया। कवि को स्वयंभू का दर्जा दिया गया, क्योंकि उसके भाव स्वतः स्फूर्त होते हैं जबकि अनुवादक को लेखक की भावानुभूतियों को वैकल्पिक भाषाई व्यवस्था में ढालने अथवा प्रतिरूपण करने वाला एक शिल्पी माना गया है। लेकिन यह नहीं समझा गया कि अनुवादकर्मी एक ऐसा कलाकार है जिसे आलोचक, भाषाविद् और रचनाकार तीनों स्थितियों से एक साथ गुज़रना पड़ता है। वह आलोचक के रूप में मूल कृति से बीज का पता लगाता है। भाषाविद् के रूप में उस बीज को अन्य भाषा की ज़मीन, जलवायु, वातावरण को समझते हुए उस ज़मीन पर प्रतिरोपित करता है और रचनाकार के रूप में उसे संवारता है। तभी वह पौधा बनकर अनूदित कृति के रूप में प्रस्फुटित और पल्लवित होता है। यही अनुवाद दूसरी ज़मीन पर उद्‌भूत रचना होती है। यूजीन ए. नाइडा जैसे अमरीकी अनुवादशास्त्रियों ने इस प्रक्रिया को विश्लेषण, अंतरण और पुनर्रचना (पुनर्गठन) की संज्ञा दी है।

वास्तव में सृजनात्मक अनुवाद सह-सृजनात्मक प्रक्रिया है जिसमें अनुवादक स्रोत पाठ के मूल पाठ को लक्ष्य भाषा में सहपाठ के रूप में सृजन करने के लिए प्रतिबद्ध है ताकि यह अनूदित पाठ का प्रतिभास बन सके। आलोचक के रूप में साहित्यिक पाठ की व्याख्या करना कलाकार या साहित्यकार की भूमिका निभाना है। यह इस प्रकार का कार्य है जिस प्रकार संगीतकार संगीत के संदर्भ में नई धुनों की व्याख्या करता है या नाटक के विभिन्न पात्रों के अभिनय में नाटक के भावों एवं विचारों की व्याख्या करता है। इसीलिए विख्यात अनुवादशास्त्री फ्रॉस्ट ने साहित्यिक कृति के अनुवाद को विश्लेषण नहीं कहा वरन् इस प्रकार की व्याख्या कहा है जो अभिनय या नृत्य में अभिनेता

या नर्तक के हाव-भाव और भाव भंगिमाओं से स्पष्ट होती है।

अमरीकी विद्वान नाइडा और ब्रिटिश अनुशास्त्री कैटफर्ड ने अनुवाद को स्रोत भाषा से लक्ष्य भाषा के अर्थ को अंतरण या स्थानापत्ति कहा है। किंतु रूसी विद्वान रोमन याकोब्सन ने सृजनात्मक पाठ के अनुवाद को मूल पाठ का प्रतिरूप न मान सृजनात्मक रूपांतरण कहा है। यह एक ऐसी स्वायत्त सृजनात्मक विधा है जिसकी अपनी सत्ता है। यह एक ऐसी अंतर्निष्ठ रचना है जिसमें दो संरचनाएँ समाहित होकर अंतर्व्याप्त हो जाती हैं। स्रोत भाषा के मूल पाठ की संरचना का निकटतम पाठ तो होता ही है लेकिन लक्ष्य भाषा की बुनावट में भी यह ढलता है।

सृजनात्मक साहित्य का पाठ ग्रहण करने के लिए अनुवादक किसी दृष्टि-विशेष के आधार पर अर्थ ग्रहण करता है। सुप्रसिद्ध रूसी विद्वान लोटमैन ने पाठ का अर्थ ग्रहण करने की दृष्टि को चार वर्गों में विभाजित किया है :

क. **भाषापरक दृष्टि :** इसमें ध्वनि स्तर, शब्द स्तर और वाक्य-विन्यास की दृष्टि से व्याख्या की जाती है। ध्वनि स्तर पर कृति की छंद योजना पर ध्यान दिया जाता है। शब्द स्तर पर शब्द-चमत्कार और शब्द-सौष्ठव पर बल दिया जाता है और वाक्य-विन्यास के स्तर पर अलंकार-व्यवस्था पर दृष्टि अधिक केंद्रित रहती है।

ख. **विषयपरक दृष्टि :** इसके अंतर्गत काव्यकृति की विषय-वस्तु पर ध्यान केंद्रित रहता है। स्रोत भाषा में रचित काव्यकृति की विषय-वस्तु को लक्ष्य भाषा में संप्रेषित करने के लिए अनुवादक की दृष्टि रहती है।

ग. **संरचनापरक दृष्टि :** इसमें काव्य की संरचना का ध्यान केंद्रित रहता है जिसमें कृति के पाठ की विभिन्न इकाइयों के परस्पर संबंध और उनके संयोजन का विवेचन होता है।

घ. **साहित्येतर दृष्टि :** पाठ के अनुवादक की दृष्टि कविता के भीतर साहित्येतर संदेश पर केंद्रित रही है जिसमें सामाजिक, सांस्कृतिक, मानवीय आदि विभिन्न दृष्टियों से अनूदित पाठ में संप्रेषित करने पर बल दिया जाता है। इसमें युग बोध की विशेष भूमिका रहती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सृजनात्मक साहित्य में विषय-वस्तु (क्या) और शैली (कैसे) दोनों पर दृष्टि रहती है। इसमें संदेश और शैली दोनों का, विशेषकर शैली का अधिक महत्व होता है। इसमें संकल्पनात्मक अर्थ की अपेक्षा भावात्मक अर्थ का विशेष योगदान रहता है। इसमें भाषा और उसके सूक्ष्म अर्थों पर लेखक का अधिकार रहता है। वह विषय की प्रकृति और दृष्टिकोण के अनुसार भाषा संयोजन करता है जिसमें भाषा अलंकारपूर्ण हो जाती है किंतु कहीं-कहीं उसमें शब्दाडंबर भी दिखाई देता है। इसलिए

कविता का अनुवाद करते हुए इसके विभिन्न प्रकार्यों पर ध्यान देने की आवश्यकता रहती है। कविता के अनुवाद में चार प्रकार्य आधार का काम करते हैं। ये हैं -- (1) नाद-सौंदर्य, (2) संरचनात्मक विशिष्टता, (3) शब्द संस्कार; और (4) काव्यार्थ प्रतीकन। इनका क्रमशः विवेचन इस प्रकार है :

1. नाद-सौंदर्य : वास्तव में कविता की शक्ति और प्रभावशीलता उसकी भाषा के संगीत से जुड़ी होती है। इस संगीतात्मकता का एक रूप है -- नाद-सौंदर्य। कविता के जिस नाद-सौंदर्य से रसानुभूति होती है, उसका अनुवाद प्रायः असंभव-सा होता है। उदाहरण के लिए :

कंकन किंकनि नूपुर धुनि सुनि
कहत लखन सन राम हृदय गुनि।
मानहुँ मदन दुंदुभी दीन्हीं,
मनसा विस्व विजय कहँ दीन्हीं। (रामचरितमानस)

अंग्रेजी अनुवाद :

When he heard the sound of golden bangles on her hands and feet, Rama thought within himself and then said to Lakshmana, imagine love triumphant over the whole world, to be now sounding the kettle drum of victory. (अनुवादक : एफ.एफ. ग्राऊज़)

मूल पाठ में 'न' की आवृत्ति से नाद-सौंदर्य आकर्षक बन पड़ा है, इस शब्द योजना से। ऐसा लगता है मानो नूपुरों की ध्वनि से सारा वातावरण गुंजायमान हो गया हो। राम का हृदय मदन की दुंदुभी से उद्वेलित हो उठा जिससे रसास्वादन होता है। किंतु अनुवाद में कहीं भी नाद-सौंदर्य के दर्शन नहीं होते। यह रसहीन गद्यात्मक अनुवाद बन पड़ा है क्योंकि आलंकारिक सौंदर्य उत्पन्न नहीं हो पाया। एक उदाहरण देखिए :

कहत नटत रीझत खिजत मिलत खिलत लजियात।
भरैं भौन में करत हैं नैनन ही सब बात। (बिहारी सतसई)

अंग्रेजी अनुवाद :

They speak, disagree, rejoice, get annoyed, are reconciled, feel pleased and then blush. While seated in the crowded hall, they speak to each other with their eyes.

मूल पाठ में 'त' की आवृत्ति ने काव्यात्मक अभिव्यक्ति में संगीतात्मकता उत्पन्न कर दी है। शब्दों का बहुत सुंदर संयोजन किया गया है किंतु अनुवाद में संगीतात्मकता के दर्शन ही नहीं होते। इसी प्रकार वर्ड्सवर्थ की एक कविता की निम्नलिखित पंक्ति और यतींद्र कुमार द्वारा किया गया हिंदी अनुवाद देखिए :

The river glideth at his own sweet will.

हिंदी अनुवाद :

सहज सरकती जाती सरिता अपनी ही इच्छा पर।

अंग्रेजी कवि वर्ड्सवर्थ ने मृदु कोमल वर्ण संयोजन से मंथर गति से प्रवाहित सरिता के जिस शब्द चित्र का निर्माण किया है, उसका निर्वाह अनुवादक ने काफी हद तक पूरा करने का प्रयास किया है।

नाद-सौंदर्य में अलंकार, छंद आदि अनुवादक के लिए सबसे बड़ी चुनौती होते हैं। श्लेष, यमक, अनुप्रास, आदि अलंकारों से युक्त पाठ का अनुवाद ऐसी भाषा में तो संभव है जिसमें मूल वाले शब्द समान रूप से प्रयुक्त होते हैं किंतु ऐसी भाषा में नहीं जिसमें उन शब्दों का प्रयोग नहीं होता है। इसी प्रकार सम-सांस्कृतिक भाषाओं के अनुवाद में छंद का निर्वाह सरलता से किंतु विषम सांस्कृतिक भाषाओं में मूल रचना के छंद का अनुसरण नहीं हो पाता। यह अनुवाद की सीमा है।

2. संरचनात्मक विशिष्टता : कविता की संरचना अन्य विधाओं की अपेक्षा विशिष्ट होती है। इसमें लयात्मकता होती है। इसमें छंद विधान की विशिष्ट भूमिका रहती है। कविता, शब्दालंकार और अर्थालंकार से परिपूर्ण रचना होती है। काव्य पंक्ति में भावों, विचारों तथा लय में एक आत्यंतिक संबंध होता है। इस लय को पहचाने और संप्रेषित किए बिना अनुवाद सपाट और रंगविहीन हो जाता है। वास्तव में लय से ही संवेदनशीलता का बोधन होता है। यह बात अलग है कि अनजाने में कोई अन्य लय आ जाए तो कुछ भाव ध्वनित होने लगता है किंतु कविता की संरचना अपनी विशिष्टता लिए होती है। जॉन मिल्टन की कविता Samson Agonistes में तुक साम्य न होने पर भी लय विधान योजना पूर्ण रूप से मिलता है :

Which shall I first bewail,
Thy bandage or lost sight,
Prison within prison,
Inseparably dark?

अनुवाद : पहले किस पर अश्रु बहाए,
बंदी या अंधा होने पर,
बंदीगृह के भीतर बंदीगृह तेरा,
रखता है संपृक्त जिन्हें यह घन अंधेरा। (हरिवंशराय बच्चन)

उपर्युक्त मूल-पाठ जॉन मिल्टन की लययुक्त रचना है जिसे बच्चन जी ने 'मरकत द्वीप का स्वर' में उसी लय विधान को बनाए रखने का प्रयास किया है।

इसी प्रकार एक अन्य उदाहरण है जो अज्ञेय द्वारा रचित 'मैंने देखा, एक बूँद'

कविता के शीर्षक की है। इसकी पदक्रम व्यवस्था अलग ही है। हिंदी की सामान्य पदक्रम व्यवस्था में कर्ता-कर्म-क्रिया होती है जबकि इस शीर्षक में 'एक बूँद' क्रिया के बाद है और 'देखा' क्रिया पुल्लिंग और एकवचन के रूप में अलग सत्ता बनाए हुए हैं। इस तरह, हिंदी की व्याकरणिक व्यवस्था के अनुसार 'मैंने एक बूँद देखी' होनी चाहिए। इसमें बूँद को अलग रखकर बूँद को स्वतंत्र अस्तित्व दिया गया जबकि अंग्रेजी अनुवाद में I saw a drop में बूँद को स्वतंत्र अस्तित्व देने का संकेत नहीं मिलता जो अंग्रेजी की पदक्रम व्यवस्था के अनुकूल है।

3. शब्द संस्कार : स्रोत भाषा के सामाजिक-सांस्कृतिक और ऐतिहासिक संदर्भ के साथ-साथ समसामयिक स्थिति और स्थानीय परिवेश के कारण शब्द अपनी अर्थपरक प्रकृति में बहुस्तरीय होते हैं और लक्ष्य भाषा में वे शब्द उसी अर्थ तक सीमित न होकर नए संस्कार के साथ आते हैं। उदाहरण के लिए :

मूल : Thou Child of Joy
Shout round me,
let me hear thy shouts. (वर्ड्सवर्थ)

हिंदी अनुवाद : ओ, प्रफुल्लता के बाल करे।
चारों ओर उठा किलकारी, मैं भी तो सुन लूँ, अब तेरे
हर्ष मेरे उन्माद घनेरे। (यतींद्र कुमार)

मूल : Know, O King!
This is that Blossom on our human tree
Which opens once in many myriad years —
But opened, fills the world with Wisdom's scent
And Love's dropped honey; from the royal root,
A Heavenly Lotus springs: (एडविन आर्नल्ड)

हिंदी अनुवाद : भूपाल परम सुजान! जानौ कली है यह सोच,
कल्पांत में कहुँ एक बार विकाश जाकौ होय;
जग ज्ञान-सौरभ, प्रेम के मकरंद सों भरि जाय;
जब राजकुल में आज यह अरविंद फट्यो आय। (रामचंद्र शुक्ल)

एडविन आर्नल्ड ने अपने 'लाइट ऑफ एशिया' काव्य में सिद्धार्थ का मानव रूप में अवतरित देवता का चित्रण किया है और आचार्य शुक्ल ने इस कृति के अनुवाद 'बुद्ध चरित' में भारतीय वातावरण को लाने का प्रयास किया है, जिसमें सिद्धार्थ परमार्थ चिंतन में विरत दिखाई देते हैं। इसी प्रकार एक अन्य उदारहण है :

मूल : मैंने देखा
एक बूँद सहसा
उछली सागर की झाग से
रंग गई क्षण भर
ढलते सूरज की आग से। (अज्ञेय)

अंग्रेजी अनुवाद : I saw
A drop suddenly,
Fly from the scud of the sea.
Flare for a second,
Fire from the mellowing sun (Ajney)

उपर्युक्त अंग्रेजी अनुवाद में कवि ने स्वयं 'उछलना' शब्द का अंग्रेजी पर्याय 'fly', 'रंग' शब्द का अंग्रेजी पर्याय 'flare' और 'ढलते' शब्द का अंग्रेजी पर्याय 'mellowing' दिया है। वास्तव 'fly' में शब्द का अर्थ उड़ना है अर्थात हवा में बहुत तेजी से जाना है, जबकि 'उछलना' शब्द का अर्थ एक स्थान से तेजी से नीचे से ऊपर उड़कर दूसरे स्थान पर नीचे गिरना है। 'flare' शब्द का अर्थ 'तड़ित सी चमक' है जबकि 'रंग' का अर्थ है एक वर्ण जो किसी पदार्थ का गुण है और प्रकाश के वर्तन और परावर्तन से आँखों पर प्रभाव डालता है। इससे बूँद से रंजित होने का भाव मिलता है किंतु 'flare' में मात्र चमकने का भाव मिलता है। mellowing शब्द का अर्थ है -- स्निग्ध या सौम्य किंतु उसमें न तो अधिक ताप होता है और न ही कम। उसमें परिपक्वता व्यंजित नहीं होती जबकि 'ढलते' शब्द मध्याह्न का सूचक है और जो परिपक्वता, अस्ताचल अर्थात वृद्धावस्था की ओर जाने का संकेत करता है। यहाँ कवि ने लक्ष्य भाषा अंग्रेजी का शब्द-संस्कार संयोजित करने का प्रयास किया है।

4. काव्यार्थ प्रतीकन : अपनी मूल कृति में कविता एक संभावना होती है। इस संभावना को मूर्त रूप प्रदान करने के लिए कवि दृष्टांतों का सहारा लेता है। इसलिए कविता में प्रयुक्त प्रतीक दुहरे अर्थ के साथ जुड़े होते हैं। दार्शनिक कविता में तो संभाव्य और प्रत्यक्षीभूत स्तरों का तनाव द्वंद्वात्मक स्थिति में अभिव्यक्त होता है। शब्दों का चयन भी उसे विशिष्टता प्रदान करता है। अनुवाद में न केवल स्रोत भाषा के शब्द संस्कार मूल काव्यार्थ प्रतीकन को खंडित करता है वरन् लक्ष्य भाषा का संस्कार उसके लिए बाधा भी पैदा कर सकता है। कविता की विषय-वस्तु उसके कथ्य पक्ष की सामान्य अवधारणा है जिसे अनुवाद में व्यक्त करना कठिन नहीं होता। किंतु काव्य-वस्तु कविता के कथ्य पक्ष का वह अंश है जो कविता को विशिष्टता, सृजनात्मकता और अलौकिकता प्रदान करता है जिसे कविता से अलग नहीं किया जा सकता है। इससे कविता कालजयी

बन जाती है। विषय-वस्तु की दृष्टि से कविता एक होते हुए भी काव्य-वस्तु की दृष्टि से भिन्न होती है। जैसे -- राम की कथा बाल्मीकि कृत 'रामायण', तुलसीदास के 'रामचरितमानस' और मैथिलीशरण गुप्त के 'साकेत' विषय-वस्तु के रूप में एक हैं किंतु काव्य-वस्तु के रूप में ये रचनाएँ अपनी अलग सत्ता बनाए हुए हैं। कविता की बुनावट, उसकी नाद-योजना, उसका शब्द संस्कार, रचना-सापेक्ष जैसे विभिन्न तत्व काव्य-वस्तु के आधार होते हैं। उदाहरण के लिए जॉन कीट्स की 'ओड टू ए नाइटिंगेल' कविता की निम्नलिखित पंक्तियाँ देखिए :

My heart aches, and a drowsy numbness pains
My sense, as though of hemlock I had drunk,
Or emptied some dull opiate to the drains
One minute past, and Lethe-wards had sunk.

कीट्स की आवेगयुक्त व्यंजना की विविधता की दृष्टि से यह एक महान रचना है जिसमें जीवन और सांसारिक वेदनाओं और व्यथाओं से कवि व्याकुल दिखाई देता है। किंतु इसमें बुलबुल को एक ऐसे लोक की वासिनी बताया गया है जो इस संसार के दारुण दुःखों से मुक्त है। बुलबुल का संसार विपत्ति से अछूता वैभव है, वेदना से असंपृक्त विलास है और अंतहीन आनंद है। इसके हिंदी अनुवादक यतींद्र कुमार ने कविता की व्याकुलता को आत्मानुभूत कर उनका अनुसृजन इस प्रकार किया है :

हृदय हो रहा विकल त्रसित हो उठी चेतना मेरी
एक अलस जड़तावश, जैसे मैंने पान किया हो,
गरल भरे प्याले का, अथवा मैंने कोई गहरी
मादक बूटी के रस का तलछट तक चषक पिया हो,
एक निमिष ही पूर्व, निमग्न हुआ विस्मृति-सरिता में।

इस प्रकार काव्यार्थ प्रतीक का अनुवाद लक्ष्य भाषा में करते समय इस बात पर भी ध्यान रखना आवश्यक होता है कि स्रोत भाषा में काव्यार्थ प्रतीक उपलब्ध है और लक्ष्य भाषा में उसका अर्थांतरण उसी रूप में हुआ है कि नहीं। काव्यार्थ प्रतीक के प्रमुख घटक हैं -- प्रतीकात्मक मिथक, अलंकार आदि जो काव्य-वस्तु को विशेष रूप प्रदान करते हैं।

पौराणिक नामों के अनुवाद की समस्याएँ भी काव्यानुवाद में आती हैं। ये नाम विशेष प्रतीक के रूप में प्रयुक्त होते हैं। उदाहरण के लिए, भीष्म पितामह 'प्रतिज्ञा' के, राम 'मर्यादा' के, भीम 'शक्ति' के, हनुमान 'भक्ति' के, रावण 'बुराई' के, दुर्योधन 'दुष्टता' आदि के प्रतीक हैं। इनका अनुवाद लक्ष्य भाषा अंग्रेजी में करने पर इनकी प्रतीकात्मक अर्थच्छटाएँ उपलब्ध नहीं हो पाएँगी। यदि इसका व्याख्यानुवाद भी किया जाए

तो उसमें संस्कृति पक्ष उजागर नहीं हो पाएगा; जैसे -- 'भीष्म प्रतिज्ञा' के लिए अंग्रेजी अभिव्यक्ति 'an oath as a affirm as Bhishmas' भी दी जाए तो मूल पाठ की काव्यात्मकता की झलक अनूदित पाठ में नहीं आ पाएगी।

काव्यानुवाद में अलंकार सौंदर्य और शक्ति का संवर्धन करते हैं। इनसे अभिव्यक्ति की शक्ति साकार बन जाती है किंतु इनका अनुवाद समस्या उत्पन्न करता है। 'मृगनयनी', 'मीनाक्षी', 'गजगामिनी', 'चंद्रमुखी', 'घटाओं-सी जुल्फें' उपमा आदि अलंकारों के निकटार्थ समतुल्य अंग्रेजी पर्याय 'eyes like a deer', 'eye like a fish', 'gait like an elephant', 'mouth like a moon', 'looks like clouds' आदि लक्ष्य भाषा अंग्रेजी में वह सौंदर्य और सहजता उत्पन्न नहीं करते जो स्रोत भाषा हिंदी में करते हैं। 'खंजन नयन' का अनुवाद उर्दू में 'नर्गिसी आँखें' तो हो गया किंतु अंग्रेजी में 'lily eye' अनुवाद प्रभावशाली नहीं बन पड़ा। 'तेरा अंक हिमानी-सा शीतल' के अनुवाद 'Thy lap is as cold as snow' में स्रोत भाषा और लक्ष्य भाषा के उपमानों में छवि के आधार पर समानार्थकता तो है किंतु प्रभावशीलता और सौंदर्य नहीं है। इसी प्रकार यमक, श्लेष, मानवीकरण आदि अलंकारों के अनुवाद लक्ष्य भाषा में किए तो जा सकते हैं किंतु यह कहना कठिन है कि वे समान व्यंजनापरक और संप्रेषणीय हो पाएंगे।

वास्तव में काव्यानुवाद में कविता की मूल संवेदना की संप्रेषणीयता और व्यंग्यार्थ पर ध्यान देना आवश्यक है। संप्रेषणीयता के आधार पर एक विद्वान लेफेवर ने काव्यानुवाद को एक संश्लिष्ट प्रक्रिया मानते हुए कहा है कि कविता के किसी एक पक्ष पर बल देकर अनुवादक अनुवाद करता है और उसकी इस प्रवृत्ति के आधार पर काव्यानुवाद के निम्नलिखित प्रकार हो सकते हैं :

(i) स्वनिमिक अनुवाद (Phonemic Translation)
(ii) शाब्दिक अनुवाद (Literal Translation)
(iii) छांदिक अनुवाद (Metrical Translation)
(iv) कविता का गद्यानुवाद (Poetry into Prose)
(v) लयपरक अनुवाद (Rhymed Translation)
(vi) मुक्त छंदपरक अनुवाद (Blank verse Translation)
(vii) पुनर्व्याख्यात्मक अनुवाद (Interpretative Translation)

(i) स्वनिमिक अनुवाद : इसमें अनुवादक स्रोत भाषा की कविता की ध्वनि को लक्ष्य भाषा की रचना में संप्रेषित करता है। इसमें अनुवादक मूल कविता में निहित काव्यार्थ का मात्र अन्वयांतर करता चलता है, किंतु अनुवाद में ध्वनि-व्यवस्था की प्रधानता रहती है। वास्तव में स्रोत भाषा की ध्वनि वर्ण-मैत्री आदि का अनुवाद इसलिए संभव

नहीं हो पाता कि हर भाषा में इस प्रकार के शब्द होते ही नहीं जिनमें अर्थ और ध्वनि का एक-सा संबंध हो। जहाँ तक ध्वनि समानता वाले अनुप्रास के विविध भेदों का प्रश्न है, इनके लिए लक्ष्य भाषा में स्रोत भाषा के शब्दों के ऐसे प्रतिशब्दों को खोजना असंभव नहीं तो अत्यंत कठिन अवश्य है जिनमें ध्वनि साम्य हो। हिंदी के 'बिरति बिबेक बिनय विज्ञाना' (तुलसीदास) अथवा अंग्रेजी के 'How high his Highness holds his haughty head' (शेक्सपियर) की आनुप्रासिक सौंदर्ययुक्त ध्वनि-योजना का अन्य भाषा में अनुवाद कर पाना अत्यंत कठिन है। लेकिन संस्कृत-हिंदी, प्राकृत-संस्कृत, बांग्ला-हिंदी, हिंदी-मराठी, पंजाबी-हिंदी आदि सजातीय भाषाओं में ऐसी कठिनाई कम होती है। जैसे :

संस्कृत : ललित लवंगलता परिशीलनकोमल मलय समीरे।
मधुकर निकर करंबित कोकिल कूजित कुंज कुटीर।

हिंदी अनुवाद : ललित लवंगलता परिचुंबित कोमल मलय समीर।
मधुकर-निकर कलित कोकिल से कूजित कुटीर। (विनय मोहन शर्मा)

अंग्रेजी-हिंदी, फ्रांसीसी-हिंदी, हिंदी-रूसी, तमिल-हिंदी, चीनी-अंग्रेजी आदि विजातीय भाषाओं की ध्वनि व्यवस्था और शब्द-संपदा अलग-अलग होने के कारण स्वनिमिक अनुवाद अत्यंत कठिन है।

(ii) शाब्दिक अनुवाद : इसमें स्रोत भाषा की कविता का शब्दानुवाद होता है जिससे मूल कविता के भाव-सौंदर्य, अर्थ व्यंजना और वाक्य-विन्यास की लक्ष्य भाषा में खंडित होने की संभावना बनी रहती है। कवि कविता में शब्दों का चयन विशिष्ट रूप में करता है। उन शब्दों में अपने कोशीय या सामान्य अर्थ के अतिरिक्त कुछ और अर्थ भी होते हैं जिससे कविता में जीवंतता आ जाती है। उदाहरण के लिए, हिंदी कविता में 'बिजली' या 'विद्युत' शब्द 'तेजी' और 'तरलता' का अर्थ देता है किंतु अंग्रेजी में इसके स्थान पर 'lightening' रखें तो वह 'चकाचौंध' का अर्थ देगा। यदि 'thunder' या 'thunderbolt' रखा जाए तो इससे 'कड़क' का अर्थ प्राप्त होगा। अतः काव्यभाषा में शब्द 'बिजली' के पर्याय या समतुल्य नहीं हो सकते। इन शब्दों के अनुवाद से 'तेजी' और 'तरलता' के बजाय 'कड़क' और 'चकाचौंध' अर्थ मिलेंगे।

(iii) छांदिक अनुवाद : इसमें स्रोत भाषा में रचित कविता में प्रयुक्त छंद-विधान का अनूदित रचना में रूपांतरण होता है जो कई बार लक्ष्य भाषा की छंद योजना से अलग जा पड़ता है। वास्तव में, प्रत्येक छंद की अपनी गति होती है, उसका प्रभाव होता है और एक सीमा तक कविता के भाव से उसका संबंध भी होता है। किंतु अनुवादक के लिए समस्या है कि हर भाषा का अलग छंद-विधान होता है। भारतीय भाषाओं का

अलग छंद-विधान है, अरबी-फारसी का दूसरे प्रकार और अंग्रेजी का तीसरे प्रकार का। यदि अनुवादक लक्ष्य भाषा के किसी उपयुक्त छंद में अनुवाद करता है तो मूल छंद का पूरा प्रभाव समाप्त हो जाएगा और यदि स्रोत भाषा के छंद में अनुवाद करता है तो पहले उस छंद को लक्ष्य भाषा में उतार पाना संभव नहीं है और यदि उतार भी ले तो मूल पाठ का छंद स्रोत भाषा विषयों पर परंपरागत रूप से जो प्रभाव डालता है, वह लक्ष्य-भाषियों पर प्रभाव नहीं डाल पाएगा। उमर खैयाम की रूबाइयों का अंग्रेजी अनुवाद फिट्जेराल्ड ने रूबाई छंद में करने का प्रयास किया। हिंदी में मैथिलीशरण गुप्त और रघुवंश लाल गुप्त ने भी रूबाई छंद में अनुवाद करने का प्रयास किया किंतु हरिवंशराय बच्चन तथा केशव प्रसाद पाठक रूबाई छंद का पूर्ण निर्वाह नहीं कर पाए।

(iv) कविता का गद्यानुवाद : इसमें स्रोत भाषा में रचित कविता का रूपांतरण लक्ष्य भाषा के गद्य में किया जाता है और इसमें अनुवादक की दृष्टि मुख्यतः कविता के अर्थ पक्ष पर रहती है, न कि लय विधान पर। किंतु एक बात ध्याननीय है कि गद्यानुवाद का स्तर छांदिक और शाब्दिक अनुवाद से ऊँचा होगा, जैसा महादेवी वर्मा ने अपने 'सप्तपर्णा' ग्रंथ में संस्कृत की अनेक कृतियों के अंशों का गद्यानुवाद किया है।

(v) लयपरक अनुवाद : अनूदित रचना में छंद रचना के साथ-साथ तुकबंदी या लय को भी स्थान मिलता है ताकि अनुवाद की काव्यपरकता बनी रहे। वास्तव में लयात्मक अभिव्यक्ति काव्यात्मक संवेग का सहज प्रतिफलन है। संवेदना को संप्रेषित करने में लय असाधारण रूप से सिद्ध होती है। इसमें भावनात्मक प्रभावोत्पादकता में वृद्धि होती है। जॉन मिल्टन की कविता Samson Egonistis के हिंदी अनुवाद में बच्चन जी ने लयात्मकता के भावानुरूप आरोह-अवरोह में लाने का अच्छा प्रयास किया है जिसका विवेचन संरचनात्मक विशिष्टता 'उपशीर्षक' में किया गया है।

(vi) मुक्त छंदपरक अनुवाद : इस अनुवाद में मूल कविता की संरचना, लय, यति आदि का ध्यान तो रखा जाता है किंतु उसके छंद-विधान का पूर्ण अनुकरण नहीं होता। यह स्थिति तभी उत्पन्न होती है जब छंद-विधान के आधार पर पद्य अनुवाद करते हुए कठिनाई हो रही हो तो मुक्त छंद का आधार लेकर काव्यानुवाद किया जाता है। डब्ल्यू. बी. येट्स की एक कविता का बच्चन ने मुक्त छंद में अनुवाद किया है :

Dance there upon the shore;
What need have to care
For wind or water's roar?
And tumble out your hair
That the salt drops have wet;

हिंदी अनुवाद : नाचे जाओ सिंधु तीर पर
तुम को क्या परवाह
तरंगें और हवाएँ गरज रही हैं?
खारी बूँदों से भीगी अलकें लहराओ। नाचे न जाओ।

(मरकत द्वीप का स्वर)

(vii) पुनर्व्याख्यात्मक अनुवाद : इस अनुवाद में मूल कविता का कथ्य सुरक्षित रखा जाता है और अनुवादक मूल कविता के रूप में परिवर्तन कर उसका अपने तरीके से सृजन करता है क्योंकि यह मूल कविता की बाह्य रूप-रचना से अलग एक सह-रचना बन जाती है जबकि कथ्य प्रायः एक समान होता है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कालिदास के 'मेघदूत' नाटक का पुनर्व्याख्यात्मक अनुवाद 'मेघदूत एक पुरानी कहानी' शीर्षक से किया है जिसमें पद्यगत श्लोकों का अर्थ गद्य में दिया गया है। इसमें न केवल अर्थ दिए गए हैं, वरन् अन्य व्याख्यात्मक उल्लेख भी हैं।

इस प्रकार काव्यानुवाद एक प्रकार की असाध्य साधना है जिसमें अनुवादक मूल कृति की विषय-वस्तु और अंतर्भूत संवेदनाओं को तो पकड़ लेता है किंतु उसकी काव्यवस्तु अथवा कलात्मक अनुभूति तक नहीं पहुँच पाता। इसमें स्रोत भाषा और लक्ष्य भाषा पर अधिकार होना और विषय-वस्तु का सम्यक् ज्ञान होना ही पर्याप्त नहीं है क्योंकि काव्यानुभूति के संप्रेषण अथवा व्यंजना के लिए अनूदित कृति में अनुवादक की कवित्व शक्ति और सृजनात्मक प्रतिभा की भी आवश्यकता होती है। इसमें मूल रचना का पुनःसृजन होता है। वास्तव में काव्यानुवाद 'परमानस प्रवेश' की भांति एक साधना है जिस प्रकार भारतीय योग दर्शन में 'परकाया प्रवेश की प्रक्रिया' है जिससे योगी अन्य व्यक्ति के शरीर में प्रवेश कर उसके आंतरिक अनुभवों, अनुभूतियों और भावों का अनुभव करता है। इसीलिए कविता के अनुवाद को अनुवाद कहने की अपेक्षा 'अनुसृजन' की संज्ञा देना उपयुक्त होगा।

❑

Apurva Narain

The translator's introduction to *'No Other World'*

Publisher's Note

Kunwar Narain is undoubtedly one of the greatest living poets, and a preeminent literary figure of India. It was only highly appropriate that in this edition of our journal on poetry translation, we should have had something on the translation of his poetry. We present here excerpts from the introduction, and a few poems, from 'No Other World', a selection of Kunwar Narain's poems translated into English by his son Apurva, and published from India in 2008 and the UK in 2010. The need to bring out good translations of Indian poetry of the highest world calibre, like Kunwar Narain's poetry, is now greater than ever – and integral to our own endeavours. In this respect, Apurva echoes our sentiment when he says, "Indian literature in general and Hindi poetry in particular occupies a strange place in world literature. India's twentieth century literary identity, between when Tagore came to notice and the more recent Indian writing in English, found voice of very high quality in the regional Indian literatures of this time; in much the way East European or Latin American literatures did… Yet, this fact was somehow lost. It was a bizarre contrast to a near complete absence of such Indian literatures across world bookshelves. One found old Sanskrit texts, some medieval ones, Tagore… and then the more market-savvy Indian writing in English, but little in between. That Hindi was the fourth or fifth largest language spoken in the world was glaring in this light. And poetry, a market casualty across literatures, was no saviour. A critical

reason, clearly, was the lack of good translations... In particular, for a poet of Kunwar Narain's significance, it was gaping that a collection in English translation had not come, though individual poems had, as had works in languages like Italian and Polish."
Kunwar Narain is regarded as one of the finest poets today and Hindi's leading living litterateur. Writing for over six decades now, in diverse genres, he is said to embody in his work a unique simultaneity of the simple and the layered, the contemporary and the metaphysical, but, above all, a rare purity and a deep humanism. Translated nationally and internationally, his honours include the *Sâhitya Akademi Award; Kabîr Sammân; Shalâkâ Sammân;* Warsaw University's honorary medal; Italy's *Premio Feronia* for distinguished international author; the *Padma Bhushan; Sâhitya Akademi*'s highest honour of Senior Fellowship; and the *Jnânpîth*.

The translator's introduction to 'No Other World'...

The Poet

Frail hands, an acute gentleness and reticence of character, a slow voice and unhurried mien, a detached relation to time, weakening eyes, ears and knees in a sea of patience, inadequacy in practical matters to a ridiculous point, a purity of purpose and an innate innocence, drawers full of unpublished work, incapable of harming, reserved in society, childlike at home, profound and bored, sensitive and tactless, saintly and playful, Kunwar Narain is as much a poet in life as in his work. In an unguarded moment with him or his poems, one is reminded of Kafka's gigantic ears making sense of sound-waves from an absurd world, or of Wallace Stevens incessantly examining some object in his hands, prodded by some hidden aesthetic somewhere. Life's synchronicity with literature is indeed an idea that the poet not only exemplifies but also finds fascinating. He is fond of quoting Borges: "Life is, I am sure, made of poetry."[1] And in his poems, the theme recurs often:

I do not wish to flee life,
I wish to connect to it
to jolt it
on its imaginary axle
at that very point where
it is most vulnerable to poetry…

or

…if only by as much as a poem
I have to stay linked somehow
to all…[2]

....His oeuvre spans over the last half a century, some half a dozen literary movements and varied literary genres – poetry, short story, epic, criticism, essay, translation, as also musings and writings on cinema, music and the arts. He is said to be "a true intellectual" and "one of the most well-read poets… yet his encyclopaedic knowledge is never paraded."[3] Instead, it is assimilated and used to inform "a sensitive, intensely emotional heart."[4] A keen intellect and classical discipline mark him as much as a deep human faith and eclectic ways. He publishes selectively, after long intervals. His sensibility is modern and derives from diverse world literatures, yet the rubric of his imagination remains a mindscape of Indian thought and history. He came from a business family and studied science, but turned to English literature and eventually to Hindi poetry. He publishes in Hindi but also plays with English and Urdu, aphorisms, couplets and doodles. His poems sometimes allude to a range of topics, sometimes stay poignantly topical. Some come from intense revision over time, some stay spontaneous. Influences have been varied on him, both eastern and western. In poems, they range from the Upanishads and the Indian epics to Kabir and Amir Khusro, Buddhism and Marxism to history and mythology, Cavafy and Kafka to Ghalib and Gandhi. Linked to the *Nayî Kavit*â (New Poetry) of the sixties and seventies, he has inspired more than a generation of writers; yet his presence in the literary world has been characteristically mellow, even diffident, and generally wary of movements and orthodoxies. "Protest in Kunwar Narain is often oblique and indirect… subdued but firm assertions" observes Ashok Vajpayee.[5] For, across the rumble of Indian poetry, in its pageantry and its politics, he is the one to have stood out, not for pageantry or politics, but for poetry itself.

The impact of his poetry derives, in a sense, from its unfettered honesty. There is a certain 'poised vulnerability'[6] about it that is at once detached and attached, its doors opening up for the reader and poet alike, outwards and inwards. For him, words do not have just meanings but memories too – touched, they give a poem an ulterior dimension where its fuller life finds room to echo. "It is under total creative pressures and from inner imperatives that the special language of a particular poem is generated," he says.[7] Sometimes described as a difficult or experimental poet, he however reflects, in many poems, a composite simplicity. The 'experiment' is not in the lurid exteriors of a poem but in its inner recesses, where an

unbroken sense of inner and outer worlds is teased. He sees reality as a continuum in time, the remembered real as real as the daily, and like this composite reality, the search for a 'total' poem too is beautiful in all its biological complexity. "I do not imitate nature, I am nature," he says, "we live in two worlds: one that each creates, one created by all together …*my* world may not differ from *ours*…"[8]

On first reading him, one senses moral allusion being used to 'test' this wider human paradox. The sense is braced in each reading, even as newer layers uncover, with answers that are tentative and questions rarely assertive. The late poet Muktibodh's words[9] remain among the most insightful of their kind; "Poet Kunwar Narain has evolved a craft of his own where the simplicity of expression, sharpness of empathy, depth of colours and lines of thought surface up distinctly. Thus, not only the self-side but also the outer-side gets pictured. The main thing is that the lines of thought are not lost in the depth of colours; the sentiments interweave with each other clearly. So, the entire picture of sentiment, the entire picture of thought, is revealed, where the subjective and objective both balance complementarily …his technique is, in fact, egalitarian. It should not be construed from the poet's devices to express his anguished self and wisdom-sense that his inner world is less knotted. In fact, it is to save himself from this complexity of his mind that a naturally simple but meaningful craft has been evolved… we are deeply interested in the poet's inner world. To it are linked deep interrelations of our own soul."

Born on 19 September 1927, his childhood was spent in the twin cities of Ayodhya and Faizabad. Early in life, he went through the trauma of several tuberculosis deaths in the family in the short span of a few years, including those of his mother and, then, his sister, still 19, both of whom he loved dearly. He moved to Lucknow with his elder brother, living in a joint family with his uncle and cousins. This had its healing effects. Besides, the forties were crucial in another way. Gandhi was a big influence and his uncle's house a regular venue for many political leaders. An early factor in his literary journey was his proximity to two prominent leaders, more like family then: Narendra Dev, a Buddhist-socialist scholar, and Acharya Kripalani, a Gandhian, who left lasting impressions on his young mind. A year with the former in Bombay in 1947 and then with the latter in Delhi, helping with the journal *Vigil*, helped shape his literary interests. He got a Masters in English Literature from Lucknow University in 1951. Interactions with teachers, writers and friends at the time were rich, as was the city's academic milieu and its literary life revolving around the Coffee House and weekly meetings of the *Lékhak Sangh* (Writers' Group). In 1955, averse to family-business

from early, he went to Europe. He gives formative literary importance to his first visit to Poland, Czechoslovakia, China and Russia and to meetings there with poets like Nazim Hikmet, Anton S³onimskie and Pablo Neruda.

His first poetry collection *Chakravyûh* (Circular Siege) was published soon after his return to India in 1956 and hailed as a landmark. Around the same time, he began co-editing an avant-garde literary magazine *Yug-Chetnâ* with philosopher-friend Devaraj, and partaking in the city's then bustling literary life with fellow writers, including the late poets Raghuvir Sahay, Vijayadeva Narain Sahi and Dhoomil. His Lucknow house became a centre for literary meets and classical music performances, long remaining so. In 1959, he was one of the seven poets in an anthology, *Tîsrâ Saptak* (Third Heptad), edited by Agyeya, and, in 1961, his second collection *Parivésh: Ham-Tum* (Surroundings: Us-You) appeared. *Âtmajayî* (Self-Conqueror, 1965), an epic poem based on the Upanishadic character Nachikétâ, deals with fundamental philosophical concerns and is widely recognised as a classic of Hindi literature. Written when the scars of family deaths were fresh, its inward ruminations and existential monologues are rooted more in the Sanskrit philosophical tradition than in the Western one; yet its speculative nature is already reminiscent of a post-modern West. If Nachikétâ epitomised the perennial struggle between life, as a creative force, and death, the theme's treatment itself was a major departure in the way mythology was used to contextualise experience.

In the seventies, cinema, music, theatre and the arts took up more time – he co-edited journals like *Nayâ Pratîk* and *Chhâyânat* and headed a few cultural institutions – but writing continued to preoccupy him. His output as a prose writer, if relatively small, is significant. The short stories in *Âkâron Ké Âs-Pâs* (Near-About Shapes, 1971) remain a lasting example of a poetic mind exploring the genre of fiction. In the poems of *Apné Sâmné* (In Front of Us, 1979), contemporary socio-political ironies found larger place and, a long hiatus later, his much-awarded collection, *Koî Dûsrâ Nahîn* (No One the Other, 1993), saw a thematic widening of life-experience. *Âj Aur Âj Sé Pahlé* (Today and Before Today, 1999), a book of literary criticism, and *Méré Sâkshâtkâr* (My Interviews, 2000) followed. In addition, translations, essays and writings on world cinema, Indian classical music and culture were interspersed regularly. In 2002, *In Dino* (These Days), his latest poetry collection so far, was published. In 2008, almost simultaneously with this book, the epic poem *Vâjashravâ Ké Bahâné* (On Vajashrava's Pretext) was published. Physical and non-physical experiences are poetically integrated in father-son perspectives. Recalling the contextual memory of *Âtmajayî* published forty years ago, it is an independent work, with a chain of island-

like poems that link up, yet retain their identities.

[Since the publication of *No Other World* in 2008, several other works by Kunwar Narain have appeared, including poetry, *Hâshiyé Kâ Gawâh* (2009); conversations, *Tat Par Hûn Par Tatastha Nahîn* (2010); jottings, *Dishâon Kâ Khulâ Âkâsh* (2012); and literary essays, *Shabd Aur Déshkâl* (2012).]

The Translations

All these translations have spanned over eight years. It was a labour of love, in more than one way. Love for the poet as his son, love for the poems as a translator, and love for the many worlds in between. I feel privileged for such close access to all of these and, in this sense, it was a very personal, stretched-out hop-on-and-off road. In fact, it is possible that "I" may not have got to this task at all sans this relation… It is in this light too that I have largely not followed any translation theory as such, but my nose instead. There have been a few inspirations but, by and large, I have kept to my instincts and hoped that some of this poetic journey may have shaped those instincts too. Indeed, as the poet has said of his own evolution as a poet, just grappling with rich poetic material in translating the poems one likes is among the best ways of journeying creatively, of taking in vistas, strumming along with poetic craft, and covering distances that no other journey could. In the poet's case, it was the French symbolists, especially Stéphane Mallarmé, and later poets like Constantine Cavafy and Jorge-Luis Borges. For me, it has been this poet.

Of the inspirations that I talk of, Walter Benjamin's *The Task of the Translator*[10] was one sort of prototype. "A real translation is transparent; it does not cover the original, does not block its light, but allows the pure language, as though reinforced by its own medium, to shine upon the original all the more fully. This may be achieved, above all, by a literal rendering of the syntax which proves words rather than sentences to be the primary element of the translator. For if the sentence is the wall before the language of the original, literalness is the arcade…" The value of words, even their primacy in a poem's construct at times, is especially significant for Kunwar Narain. In his poems, the choice and placing of words is often so precise – so nuanced in the latent intimations and cultural inflections these words carry – that content often evolves at the level of words, not just lines and sentences... gradually, in hidden layers and patient readings. For a translator, this may pitch intonations of meaning against syntax and structure in the target language even more vehemently. Balance, or a judicious tilt, is then called for and, often, a creative allegiance to words, rather than a rule of sentence, was the arcade here too. Of course, like in any translation, I

suppose a constant tension between "fidelity" and "freedom" existed. But fidelity did not always entail awkwardness. Translating lexical and lyrical patterns closely at times, unexpectedly, yielded a kind of formal grace that then had to be contextualised in the receiving English. This meant playing a poem's verbal, visual and cultural rhythms. Again, no one rule stood for all poems but, off and on, Fernando Pessoa was a pointer. In a piece, *Translating Poetry,*[11] he says: "A poem is an intellectual impression, or an idea made emotion, communicated to others by means of a rhythm. This rhythm is double in one, like the concave and convex aspects of the same arc: it is made up of a verbal or musical rhythm and of a visual or image rhythm, which concurs inwardly with it. The translation of a poem should therefore conform absolutely (1) to the idea or emotion which constitutes the poem, (2) to the verbal rhythm in which that idea or emotion is expressed; it should conform relatively to the inner or visual rhythm, keeping to the images themselves when it can, but keeping always to the type of image." Indeed, *word-music* was important in the context of Kunwar Narain, more so for his earlier poems, and some of the ideas in Borges' wonderful essay on the subject, "Word-Music and Translation",[12] apply in great measure to these translations.

The poems have not been sequenced (or translated) chronologically, though it will be a simplification to say that they have been sequenced thematically. They typically evoke a poeticism that does not lend itself to any real categorisation. Sections, thus, are simply meant to break sequential monotony and, to a limited extent, suggest some stylistic unity of mood. In selecting poems, apart from factors governed by the poems themselves and the translations as they surfaced, the idea was a representative first selection in English. Earlier translations somehow seemed to be mostly from just two collections, *Apné Sâmné* and *Koî Dûsrâ Nahîn*, very few from others. Thus, starting with "Medium", a prelude to the poet's first collection *Chakravyûh*, the translations are from five poetry collections, spanning five decades, and a few from an early anthology, *Tîsrâ Saptak.* However, poems that had appeared in several translations before, like *"*A strange problem" or *"*Preparations for war", or yet unpublished poems, or even portions of the epic *Âtmajayî'* – were all temptations resisted for now. The poems, expectedly, vary not just in theme and form but also in their *translatability*. I found poems in *Chakravyûh* most difficult to translate and those in *Apné Sâmné* relatively the easiest. Poems in the latest two collections, *Koî Dûsrâ Nahîn* and *In Dino,* demanded hard work but were also more amenable to hard work than earlier poems, which often invited translation at first go or did not at all. This was why Benjamin became so relevant: "Translation is a mode. To

comprehend it as mode one must go back to the original, for that contains the law governing the translation: its translatability…The task of the translator consists in finding that intended effect (intention) upon the language into which he is translating which produces in it the echo of the original."[13]

The poems of *Chakravyûh* are intensely personal and metaphysical, typical of the romance in a first collection, yet unusually mature, born as much from the experience of love as from that of death. Some simultaneously evoke a veiled eroticism and a shrouded meditative quality. The title poem, based on a *Mahâbhârata* episode where young warrior Abhimanyû penetrates an enemy surround aware of the impossibility of exiting it – his predicament as chosen as chanced upon in the womb's existential closure – sets one sort of tenor. In other poems, as late fellow-writer Nirmal Verma said, "Kunwar Narain is a lonely poet, and many poems of *Chakravyûh* are deeply imbued with the spirit of quest for a faith in a world of disintegrating values." Yet others are more experimental in flavour, in contrast to the preceding romantic *Chhâyâvâd* period of Hindi poetry. Many poems retain a metrical tightness of form that has not quite broken from Hindi poetic traditions in the first half of the twentieth century, but introduce a major transition and freshness of treatment symptomatic of New Poetry in the second half. This may explain their enthusiastic reception in the fifties. Poems are rich in symbolist imagery and eclectic in rhythm and rhyme. Many, more so in the collection's latter half, do not lend themselves easily to translation. It becomes difficult to harmonise their multi-legged thin-skinned content with bespoke constructs without sounding awkward in the new tongue, whatever end of the translation spectrum one teases – from faithful fidelity to a tangential touch-and-go. The poems remain a challenge.

Several poems from other collections too remain challenging, but for somewhat different reasons. The next two publications *Parivésh Ham-Tum* and *Tîsrâ Saptak* are of comparable vein, with undertones of symbolist and surrealist influence. Poems gradually metamorphose into shorter, starker, compositions increasingly reminiscent of 'still life' paintings, while also beginning to introduce elements that so mark the later collections – elements that I collect in the neologism *humanesque*. The nature-human tension plays a key role in the poems, a bridge between the physical and the metaphysical. Images and metaphors are freely superimposed to prepare an intended canvas for each poem, against which its content plays out in slow, subterranean colours. In "a long journey in the night by car",[14] thus, multiple imageries create a hypnotic suspense – superimposed nature (storm, reeds, trees, light, wind, mountain) and military (squad, file, tunnel, combing, flanking) images – with nature so made to arrange itself that the metaphysical

journey by car is made in tense nocturnal lines. These poems too, somewhat like their predecessors, either lend themselves to translation or not – there is little middle ground here.

Apné Sâmné marks a departure in that poems become increasingly concerned with the human, with experience, and with history, in more overt socio-political tones. Constructs become linguistically simpler, free verse is embraced more freely, and more poems call to be translated. Yet, this simplicity is deceptive. As late fellow-poet Raghuvir Sahay said,[15] "The poet of *Apné Sâmné*… is not so secure as to be in agreement with the whole world; nor so devoid of self-confidence as to start screaming in fear." What has perhaps happened in these poems is that, like in life, the simple and the complex have come together more seamlessly. One can scratch whatever layer of meaning one allows. The overt complexity of earlier poems is abandoned for an apparent simplicity. Their human overtones carry undertones of the humanesque, veiled in people and nature, memory and metaphor, the world and the abstract, the other and the self.

It is this life-like layered quality of poetry that is enlarged and perfected in *Koî Dûsrâ Nahîn* and *In Dino*. The poems come looser on the surface, allowing (even demanding) the reader to probe deeper the subjectivities within. The sectional order of early books is abandoned. The humanesque plays out in the full here, through natural and urban terrains, history and myth, markets and crowds, rivers and seas, roads and walls, flowers and forests, days and nights… Metaphors remain simple, lending to the poems freer, more accessible, exteriors that echo a sense of the moral at first reading, but beneath this surface lie labyrinths of time and memory and circumstance that every reader must navigate with her own set of horoscopes and maps. Language constructs change subtly but continuously across poems; for instance, 'history' genre poems often differ stylistically from 'nature' poems. These variations introduced simultaneous challenges for the translations, and a never-ending need to improve them. Indeed, perhaps, there was recurrent comfort in the thought that a translation has to be left as it is at some stage for it to appear at all – much as a poem or life has to be – incomplete and unfinished, and in hope:

The remaining poem
is not written with words,
Drawing the full existence like a full stop
it is left anywhere…[16]

I use the neologism *humanesque* (as a section title) in this poet's context

to describe a provisional philosophy that emerges from his poetry, one that is, in its varied senses, *all about being human*. "...Poet Kunwar Narain wants to become only a human being. This is his disquiet, his dilemma," wrote Muktibodh. Reading the humanesque in its simplest form is to admit the human in all its manifestations, the life-like, with its consistencies and contradictions, strengths and weaknesses, certainties and uncertainties… enlarging and diffusing it the way the picturesque does a picture, or the grotesque a grotto. In so doing, one must perhaps strive for the core we aspire to in being humane. But this is not a credo. For the poet, while it may share some likeness to the humanist tradition that informed the renaissance, it is neither definitive nor takes mastery on nature as an ideal for noble activity. Rather, it looks to nature itself as an ideal of sorts. Nature's give and take, in its idealised form, is the give and take it aspires to. Trees, flowers, rivers, rays, butterflies, elephants, all figure in many of the poems, not so much in romanticised as in humanised terms.

In a preface, the poet also alludes to a scientific view on poetry; to the relevance of thought, not just sentiment – the relevance of a liberal sensitive intellect that precludes prejudice and intolerance – and some of his poems have indeed been noted for their intellectually elegant, clinically controlled, classical tendencies. But it is not just a modernist notion of science he alludes to. Instead, it is an informed, human notion of it that recognises its own fallibility. In being dispassionate, passion is not compromised. In questioning blind faith, faith is only reaffirmed. An enlarged sense of justice is sought in the intellect's poetic use whereby, like science, life too progresses not towards an absolute truth but towards successive revisions, moving ambiguously, irrationally, like art, wallowing in the fun and mud of which it is made. Walls are opened up, flip-sides prodded and opposites allowed to reinforce, rather than refute, a new synthesis. Thus, he conceives an interdependence of sorts in "when one can't remain human":

Perhaps in that same difficult time
when I, like a scared animal,
scurried to safety and left him alone,
he, like a snared animal,
turned bloody.[17]

For the poet, contradiction and confusion are not bad words, only honest admissions of a world where positives mirror negatives, actions entail reactions and lines become circles; in such a world, the language of fiction and paradox is not very different from the language of fact and analysis…

But for such a world to work, even if falsely, generalising is inevitable. Herein is the 'literary' value of living out this dilemma. "Whoever comes out after reading Kunwar Narain's poetry comes out restless… this poetry is an invitation to a deep connect with inner dilemmas" says Girdhar Rathi.[18] Central to the concern is an aesthetic sensitivity, a moral anguish, which literature means to nurture and sustain. Even as his writing traverses, sporadically and eclectically, the labyrinthine terrain of memory and myth, past and present, hopelessness and hope, one marvels at the deceptively simple, yet painstakingly threaded, moral weave that even the most unfinished of human tapestries constantly find in his work.

The mirrored other as a sympathetic reflection of the self, together striving to synthesise into a larger human canvas is, in fact, a true point of gravity in his work. Dichotomies are not problematic but stimulating for the poet, calling not for dualities but, ultimately, emergent non-dualities. "In his poetry, life and literature, literature and aesthetics, become interchangeable… and as his vivid imagination ruminates… ancient dark crypts seem lit up by a match", observes Keki Daruwalla. Whether it be returning more complete or returning home to find one's own self returned, whether the shadowy texture of a poem like "Midnight" or, indeed, a collection title itself (*Koî Dûsrâ Nahîn*, No One the Other), the *reflection* is, appropriately in technique, at once cerebral and intuitive, detached and anguished, in trying to embrace a wiser, wider, dialectically woven world. The simple exteriors of our worlds may be child-like, time-like, earth-like, but made up within of all manner of distractions, discoveries, differences... "and we are those mortals, who need a world each instant."[19] Fully recognising this vulnerable, often dissonant, plurality, while living out its worldly trap in simple graceful colours, innocent and unhurried, is what makes him, as has often been said, a true poet.

(*No Other World*, Rupa Publications, India, 2008; World Edition, Arc Publications, UK, 2010)

❑

Refrences

1. Jorge Luis Borges, *This Craft of Verse*, The Charles Eliot Norton Lectures 1967-68, ed. Calin-Andrei Mihailescu, Harvard University Press, 2000. 'The Riddle of Poetry.'
2. From 'Off centred' (Utkéndrit) and 'No one else' (Kisî Aur Ne Nahîn*)*, in *Koî Dûsrâ Nahîn*, Rajkamal, 1993.
3. Lucy Rosenstein, *New Poetry in Hindi (Nayi Kavita): An Anthology*,

Permanent Black, 2003.
4. Also quoted in Lucy Rosenstein, ibid. Balkrishna Rav, "K?var Nârâyan: Parichay", *Nayî Kavitâ 3*, 1965.
5. Ashok Vajpeyi in *Kunwar Narain: Upasthitî*, ed. Yatindra Misra, Vani, 2002, translated from the Hindi.
6. Ramesh Chandra Shah, 'Poised Vulnerability', *The Book Review, Volume XVIII, No. 5*, 1994.
7. Kunwar Narain, *Méré Sâkshâtkâr,* ed. Vinod Bhardwaj, Kitabghar, 1999, translated from the Hindi.
8. Prologue in Kunwar Narain, *Parivésh: Ham-Tum*, Vani, 1961, translated from the Hindi.
9. Gajânan Mâdhav Muktibodh, on Kunwar Narain, *Parivésh: Ham-Tum,* translated from the Hindi.
10. Walter Benjamin*, Illuminations,* edited and introduced by Hannah Arendt, translated by Harry Zohn, Collins/Fontana Books, 1973. 'The Task of the Translator: An Introduction to the Translation of Baudelaire's Tableaux Parisiens.' Translated from the German *Schriften,* 1955, Suhrkamp Verlag, Frankfurt. English translation,1968, Harcourt, Brace & World Inc.
11. Fernando Pessoa, *A Centenary Pessoa*, edited by Eugénio Lisboa and L C Taylor, Carcanet, 1995.
12. Jorge Luis Borges, ibid. "Word-Music and Translation".
13. Walter Benjamin, ibid.
14. 'Motar Sé Rât Ko Ék Lambâ Safar' in *Parivésh: Ham-Tum*, Vani, 1961.
15. *Dinmân*, 3-9 Aug., 1980, translated from the Hindi.
16. From 'The remaining poem' (Bâkî Kavitâ) in *Apné Sâmné*, Rajkamal, 1979.
17. From 'When one can't remain human' (Jab âdmî âdmî nahîn rah pâtâ) in *Apné Sâmné*, Rajkamal, 1979.
18. Girdhar Rathi, *Samkâlîn Bhâratiya Sâhitya*, Apr-Jun 1983, trans. from Hindi.
19. From 'Fractured Dreams' (Chitké Swapn), *Chakravyûh*, Radhakrishan, 1956.

विनोद शर्मा

कवि और कवितानुवाद

मौलिक कविता और अनूदित कविता की रचना प्रक्रिया में बुनियादी तौर पर कोई फर्क नहीं होता। दरअसल मौलिक कविता भी कवि के अनुभव (कवितानुभव) का, अनुभव की भाषा से कविता की भाषा में रूपांतर ही होती है। मौलिक कविता को 'रचना' और उसके रूपांतर को 'पुनर्रचना' कहकर हम केवल 'अर्जित अनुभव' और 'आयातित/गृहीत अनुभव' के फर्क को ही रेखांकित करते हैं। अनुभव की समझ और अभिव्यक्ति के अनुकूल भाषा की ताकत के बिना अच्छी कविता की रचना ही नहीं, बल्कि अच्छी कविता का सही अनुवाद करना भी असंभव है।

कविता की समझ का, अनुभव की समझ और भाषा की समझ से गहरा रिश्ता है। सच तो यह है कि भाषा की समझ भी अंततः अनुभव की समझ से ही जुड़ती है। अनुभव की समझ से मेरा आशय व्यक्ति और कवि दोनों के अनुभवों की समझ से है। व्यक्ति सिर्फ व्यक्ति होता है अतः उसके पास सिर्फ व्यक्ति का अनुभव होता है। जबकि कवि व्यक्ति तो होता ही है, कवि भी होता है अतः उसके पास व्यक्ति एवं कवि दोनों के अनुभव होते हैं। यथार्थ के, व्यक्ति के अनुभव में रूपांतरित होने की प्रक्रिया की तुलना लोहे के गोले के दीवार से टकराने की प्रक्रिया से की जा सकती है। व्यक्ति यथार्थ से टकराता है, एक धमाका होता है और टकराव व्यक्ति के व्यक्तित्व में शामिल हो जाता है अर्थात् उसका अनुभव बन जाता है। मगर, कवि को अपने व्यक्ति के अनुभव को कविता के माध्यम से पाठक तक पहुँचाना भी होता है। इसलिए, यथार्थ के, कवि के अनुभव (कवितानुभव) में रूपांतरित होने की प्रक्रिया (कविता की रचना प्रक्रिया) को समझने के लिए, रबड़ की गेंद के दीवार से टकराने और लौटने की घटना की कल्पना करनी होगी। जितनी तेजी से (कवि का) व्यक्ति यथार्थ से टकराता है उतनी ही (कम या ज्यादा भी) तेजी से (व्यक्ति का) कवि, कविता के जरिए पाठकों तक पहुँचता है। कवि के व्यक्ति का अनुभव (यथार्थ से टकराव) कविता में, उसके

अनुभव (टकराव की प्रतिक्रिया) अर्थात् कवितानुभव के रूप में व्यक्त होता है। कविता चूँकि कवितानुभव की कलात्मक अभिव्यक्ति है और भाषा केवल माध्यम भर है, इसलिए कविता केवल शब्द/विश्व कोश की मदद से नहीं समझी जा सकती। वस्तुतः न तो भाषा सीखी जाती है और न कविता पढ़ी या सुनी -- दोनों अनुभव की जाती हैं। यही वजह है कि कवि सहृदय श्रोता/पाठक की कामना करता है। आदर्श (सहृदय) पाठक/श्रोता कवि के समान, संवेदनशील, कल्पनाशील और भाषा एवं अनुभव सम्पन्न होता है तथा कवितानुभव के जरिए कवि के व्यक्ति के अनुभव तक पहुँचने की सामर्थ्य (कविता की समझ) रखता है। जाहिर है कि वह कविता को समझने की कोशिश में समझ के संकट से उबरने की कोशिश करता है और उसकी सफलता (पाठक के रूप में) उक्त कोशिश की सफलता पर निर्भर होती है। समझ के संकट से कवि भी जूझता है। व्यक्ति के अनुभव को समझे बगैर उसे कवितानुभव में रूपांतरित नहीं किया जा सकता। कविता में उभरने वाली स्पष्टता व्यक्ति के अनुभव को कवितानुभव में बदलने यानी कि व्यक्ति के अनुभव को समझ पाने की, कवि योग्यता पर निर्भर होती है। कवि सृजन के क्षणों में समझ के संकट के साथ-साथ, अभिव्यक्ति के संकट से भी उबरने की कोशिश करता है क्योंकि कवितानुभव भाषा के जरिए ही पाठक/श्रोता तक पहुँचाया जा सकता है। कवि की कृति का स्तर उक्त प्रयास की सफलता पर निर्भर होता है। इस प्रयास में उसकी कारयित्री प्रतिभा संघर्ष के दौर से गुजरती है। मानसिक और बौद्धिक स्तरों पर चल रहे रचनात्मक संघर्ष के उक्त दौर से उसके (कवि के) गुजरने की प्रक्रिया को ही रचना प्रक्रिया कहा जाता है।

कवितानुवाद को डॉ. सैम्युअल जॉन्सन (अंग्रेजी भाषा के सर्वप्रथम शब्दकोश के संपादक) की तरह मैं असंभव तो नहीं, किंतु कठिन कार्य जरूर मानता हूँ। इसका यह मतलब भी नहीं कि प्रत्येक कविता अनुवाद्य होती है। अनुभव के बल पर मैं कह सकता हूँ कि अनुवादक कभी ऐसे मोड़ पर पहुँच जाता है कि उसे समूची कविता या उसकी एक खास पंक्ति अननुवाद्यता (अनट्रांसलेटेबिलिटी) के दायरे की सामग्री नजर आती है। तकनीकी शब्दावली में, अनुवाद के संदर्भ में, मूल रचना की भाषा को स्रोत भाषा (सोर्स लेंग्वेज) और रूपांतरण की भाषा को लक्ष्य (टारगेट) भाषा कहा जाता है (संदर्भ : ए लिंग्विस्टिक थ्योरी आव ट्रांसलेशन : जे.सी. कैटफोर्ड)। इसी दिशा में बात यदि थोड़ी और आगे बढ़ाई जाए तो मूल कविता को स्रोत (सोर्स) कविता और उसके रूपांतर को लक्ष्य (टारगेट) कविता कहा जा सकता है। मैं कवितानुवाद को लक्ष्य भाषा में समांतर कविता की रचना की सृजनात्मक कोशिश का दर्जा देता हूँ। कुछ लोगों का ख्याल है कि अनुवादक पकी-पकाई रोटी खाता है और इसीलिए वे कवितानुवाद को रचनात्मकता की दृष्टि से कोई अहमियत नहीं देते। इन लोगों का उक्त रवैया कविता को जानने,

समझने और महसूस करने के फर्क को न समझ पाने की अक्षमता और कवितानुवाद के क्षेत्र की उनकी अनुभवहीनता को ही रेखांकित करता है। कवितानुवाद की रचना प्रक्रिया की गहरी जाँच-पड़ताल हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचा देती है कि स्वयं पकाकर और पकी-पकाई रोटी खाने का फर्क कवितानुवाद के संदर्भ में नगण्य होता है। वे जो यह मानते हैं कि भाषा और कविता अनुभव नहीं बल्कि शब्दकोश की मदद से समझी जाती हैं, कवितानुवाद को पकी-पकाई रोटी खाने की सुविधा से जोड़ते हैं।

कवितानुवाद की निम्नलिखित दो शर्तों का पालन, मैं अनुवादक के लिए जरूरी समझता हूँ -- (1) स्रोत और लक्ष्य भाषाओं के बीच समानार्थकता की खोज, (2) मूल रचनाकार की शैली का अनुकरण। पहली शर्त कविता के अनुवादक से अनुभव की समझ की माँग करती है। इसके लिए जरूरी है कि वह स्रोत कविता में व्यक्त कवितानुभव को समझकर मूल रचनाकार के व्यक्ति के अनुभव तक पहुँचे, फिर उसे ग्रहण करे अर्थात् अपने व्यक्तिगत अनुभव में बदले और तत्पश्चात् उसे लक्ष्य कविता की रचना सामग्री (कवितानुभव) में बदले। स्रोत कविता में व्यक्त अनुभव को अनुवादक यदि अपना अनुभव नहीं बना पाता यानी कि 'आयातित अनुभव' को 'अर्जित अनुभव' में नहीं बदल पाता तो स्रोत और लक्ष्य भाषाओं के बीच समानार्थकता की खोज में वह नितांत असफल रहेगा। परिणामतः लक्ष्य कविता में वह रचनाकार का अनुभव विकृत रूप में पेश करेगा। उक्त विश्लेषण से यह निष्कर्ष निकलता है कि कवितानुवादक के लिए अनुवादक ही नहीं, कवि होना भी जरूरी है अन्यथा वह व्यक्ति के अनुभव को कवितानुभव में नहीं बदल पाएगा। सिद्ध अनुवादक अपनी ओर से मूल रचना में न तो कुछ जोड़ता है और न कुछ घटाता ही है।

मूल रचनाकार यदि समझ के संकट से उबर नहीं पाता अर्थात अपने व्यक्ति के अनुभव को कवितानुभव में नहीं बदल पाता तो उसकी रचना प्रभावशाली नहीं हो सकती। उसी तरह रूपांतरकार स्रोत कविता में व्यक्त अनुभव को आयात/ग्रहण करके अपना अनुभव नहीं बना पाता, यानी अर्जित अनुभव में नहीं बदल पाता, तो उसकी पुनर्रचना सही एवं प्रभावशाली नहीं हो सकती। रचनात्मक ईमानदारी, अपेक्षित श्रम और भाषा की समझ के अभाव में अनुवादक अक्सर उक्त कमजोरी का शिकार हो जाता है। कई बार मौलिक कविता रचते वक्त भी कवि 'आयातित अनुभव' को 'अर्जित अनुभव' में बदलने की रचनात्मक कशमकश की प्रक्रिया से गुजरता है। मज़दूरनी की हताशा से लेकर क्राँतिधर्मी आस्था तक को व्यक्त करने वाली कविता की पहली पंक्ति रचने से पहले निराला 'आयातित अनुभव' को 'अर्जित अनुभव' में बदलने की प्रक्रिया से गुजर चुके थे। ऐसा इसलिए कहा जा सकता है, क्योंकि साल-दर-साल पत्थर तोड़ने वाली मज़दूरनी के भोगे

हुए यथार्थ को निराला ने वास्तविक जिंदगी में स्वयं तो कभी नहीं भोगा, लेकिन उनके कवि ने संवेदनशीलता के माध्यम से उसे मानसिक/बौद्धिक स्तर पर निश्चित रूप से भोगा अर्थात् निराला ने मज़दूरनी के अनुभव को अपना, नितांत निजी अनुभव बनाया। अतः यह कहा जा सकता है कि मूल रचनाकार 'आयातित अनुभव' को 'अर्जित अनुभव' में बदलने की प्रक्रिया से हमेशा नहीं गुजरता जबकि अनुवादक को हर बार गुजरना पड़ता है। एक बात और। 'वह तोड़ती पत्थर' में व्यक्त अनुभव को निराला ने मज़दूरनी से आयात किया था लेकिन अनुवादक को इसी अनुभव को निराला की कविता से ग्रहण करना पड़ेगा। क्या अनुभव के आयात के स्रोत का अंतर रचना और पुनर्रचना की रचना प्रक्रियाओं को प्रभावित करता है? मैं कहूँगा, कतई नहीं। कई बार ऐसा भी होता है कि अनुवादक स्रोत भाषा नहीं जानता और मूल रचना के अंग्रेजी या किसी अन्य भाषा में किए गए अनुवाद के माध्यम से अपनी भाषा में लक्ष्य कविता की रचना करता है। इस दोहरी अनुवाद प्रक्रिया में मूल कविता के नष्ट होने की संभावना रहती है क्योंकि मूल रचनाकार के अनुभव तक पहुँचने का रास्ता लंबा और दुरूह हो जाता है। यों काव्यानुभव-संपन्न अनुवादक हर प्रकार की कठिनाइयों का हल खोज लेता है, बशर्ते कि कविता अनुवाद्य हो। सांस्कृतिक संदर्भों से भरी कविता की बात दूसरी है। इस संदर्भ में मैं यह भी कहना चाहूँगा कि अगर एक मज़दूरनी से अनुभव आयात करके श्रेष्ठ कविता की रचना की जा सकती है तो किसी कविता में व्यक्त अनुभव को उसके अनुवाद के माध्यम से ग्रहण करके सही अनुवाद क्यों नहीं किया जा सकता? संवेदनशीलता, कल्पनाशीलता, काव्यानुभव और श्रम के अभाव में तो किसी कविता के रूपांतर से ही क्या, समूची जिंदगी से भी अनुभव आयात किया जा सकता है।

कवितानुभव अर्जित करने के बाद रचनाकार को उपयुक्त भाषा की तलाश करके कथ्यानुकूल शिल्प गढ़ना अर्थात् अभिव्यक्ति के संकट से निबटना होता है। जाहिर है कि रचना प्रक्रिया के उत्तरार्द्ध में मूल रचनाकार और रूपांतरकार दोनों एक से रचनात्मक संघर्ष और मिलती-जुलती समस्याओं से जूझते हैं। रचना प्रक्रिया से जुड़े रचनात्मक संघर्ष को आधार बनाकर/मानकर, सहज (स्पॉन्टेनियस) और यत्नसिद्ध (लेबर्ड)/सायास लिखी गई कविताओं के 'फर्क' को समझा जा सकता है। सृजन के क्षणों में कवि को अगर रचनात्मक संघर्ष करना पड़ता है, दूसरे शब्दों में बकौल मुक्तिबोध, ब्रह्मराक्षस की तरह अभिशप्त रहने की नियति भोगनी पड़ती है तो परिणामी कविता 'यत्नसिद्ध' कहलाती है इसके विपरीत यदि उसे महसूस होता है कि कविता वह नहीं लिख रहा, बल्कि खुद-ब-खुद लिखी जा रही है और उसे तनिक भी मेहनत नहीं करनी पड़ रही है तो परिणामी कविता 'सहज' कहलाती है। कविताभ्यास अक्सर कवि को ऐसे मोड़ पर पहुँचा

देता है कि वह सिद्धावस्था/ट्रांस में कविता लिखने लगता है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि कवि का अवचेतन एक खास अनुभव ग्रहण करता है और उसे अभिव्यक्त करने की कोशिश करता है। यह कोशिश काफी लंबे समय तक चलती रहती है। एक समय आता है जब कविता गर्भस्थ शिशु की तरह जन्म लेने के लिए तैयार हो जाती है। फलतः रचनात्मक ऊर्जा की एक लहर कवि के मन में उठती है और अनायास ही बेहद कम समय में एक नई कविता उससे रची जाती है। राइनर मारिया रिल्के के दस विश्वविख्यात शोकगीतों (Duino Elegies) में से पहले दो की रचना को जे.बी. लीशमान अंतःप्रेरणा के आकस्मिक प्रवाह से जोड़ते हैं। मूल कविता यत्नसिद्ध भी होती है और सहज भी, लेकिन अनूदित कविता तो यत्नसिद्ध ही होती है क्योंकि अनुवादक को स्रोत कविता की शैली और लक्ष्य भाषा के व्याकरण और मुहावरे में संतुलन-स्थापित करना पड़ता है।

पिछले कुछ वर्षों में हिंदी में विदेशी भाषाओं की कविताओं का अनुवाद करने की परंपरा तेजी से विकसित हुई है। दुर्भाग्य से अधिकांश अनुवाद, अनुवादकों की समझ एवं अभिव्यक्ति के संकटों से न उबर पाने की अक्षमता को भी रेखांकित कर पाए हैं -- 'माच्चू पिच्चू के शिखर' (पहल द्वारा प्रस्तुतः जनवादी साहित्य सीरीज, संख्या 1) -- में नीलाभ ने उक्त बिंदु पर पर्याप्त रोशनी डाली है। मैं इस संदर्भ में प्रख्यात् रूसी कवि वॉज्नेसेंस्की की प्रसिद्ध कविता, 'मैं गोया हूँ', के अंग्रेजी और हिंदी अनुवादों का उल्लेख करना चाहूँगा। स्टेनली कुनिट्ज कृत अंग्रेजी अनुवाद 'I am Goya' को पढ़ते वक्त आप भूल जाइए कि आप किसी रूसी कविता (स्रोत कविता) का अंग्रेजी रूपांतर (लक्ष्य कविता) पढ़ रहे हैं, आपको लगेगा कि आप अंग्रेजी की सशक्त युद्ध कविता पढ़ रहे हैं--

I am Goya of the bare field, by the enemy's beak gouged till the craters of my eyes gape
I am grief
I am the tongue of war, the embers of cities
on the snows of the year 1941
I am hunger
I am the gullet of a woman hanged whose body like a bell tolled over a blank square
I am Goya
O grapes of wrath! I have hurled westward the ashes of the uninvited guest! and hammered stars into the unforgetting sky — like nails
I am Goya

'फैसले का दिन' में संग्रहीत, अंग्रेजी अनुवाद के आधार पर श्रीकांत वर्मा द्वारा तैयार

किया गया वॉज्नेसेंस्की की कविता का हिंदी प्रारूप हमें यह बताता है कि पुनर्रचना में स्रोत कविता कैसे नष्ट होती है :

मैं गोया हूँ / बर्बर युद्ध क्षेत्र का / जब तक दुश्मन की नोकीली चोंच / मेरी आँखों को चीथ कर / बाहर कर दे / तब तक

मैं दुःख हूँ।

मैं युद्धोन्मुख हूँ / इक्तालीस के बर्फीले अंधड़ में / बुझे जा रहे अंगारों से / नगर / मैं भूख हूँ।

मैं उस औरत की / गरदन हूँ / सूली पर लटकती जाकर / सूने चौरस्ते / जिसका शव / घंटे जैसा झूल रहा है

मैं गोया हूँ।

ओ शापों की वर्षा! घुस आए मेहमानों के अवशेष / फेंककर अस्ताचल में / ठोंक दिए मैंने / हरदम आसमान पर तारे--जैसे कील

मैं गोया हूँ।

कुनिट्ज और श्रीकांत की पुनर्रचनाओं की तुलना करते ही श्रीकांत वर्मा की पुनर्रचना (?) की खामियाँ उजागर हो जाती हैं। अंग्रेजी प्रारूप (स्रोत कविता) का एक महत्वपूर्ण शब्द : Gouged, हिंदी प्रारूप (लक्ष्य कविता) में गायब है। परिणामतः लक्ष्य कविता का पहला बंद अंधेरा प्रतीत होता है। दूसरे बंद में स्रोत कविता की पंक्ति : I am the tongue of war, 'मैं युद्धोन्मुख हूँ' मैं कैसे बदल दी गई, यह समझना बेहद कठिन है। लक्ष्य कविता में दूसरा बंद विकृत रूप से प्रस्तुत किया गया है। तीसरे बंद में, स्रोत कविता का शब्द : Tolled, लक्ष्य कविता में 'घंटे जैसा झूल रहा है' में परिवर्तित होकर बेमानी हो गया है। Toll अर्थात् घनघनाने की ध्वनि पश्चिमी (ईसाई) देशों में मौत की अशुभ सूचना देती है। लक्ष्य कविता में यह प्रतीकात्मकता तो नष्ट हुई ही है, भूत एवं वर्तमान का काल-भेद भी नष्ट हुआ है। 'घनघनाती रही' और 'घंटे जैसा झूल रहा है' के बुनियादी फर्क को श्रीकांत वर्मा कतई नहीं समझ पाए। दरअसल श्रीकांत उक्त अनुवाद के संदर्भ में समझ और अभिव्यक्ति के संकटों से उबर पाने की कोशिश में नितांत असफल रहे। नीलाभ ने भी श्रीकांत की विवेच्य पुनर्रचना की 'माच्चू पिच्चू के शिखर' के परिशिष्ट में जाँच-पड़ताल की है और वे भी इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि विवेच्य में श्रम, रचनात्मक ईमानदारी, मूल रचना की समझ और मूल रचनाकार के मंतव्य को पाठकों तक सच्चाई से पहुँचाने की अभिव्यक्तिगत क्षमता का अभाव है।

नीलाभ ने श्रीकांत की पुनर्रचना को सुधारकर वॉज्नेसेंस्की की कविता का निम्नलिखित हिंदी रूपांतर किया :

मैं गोया हूँ। बुच्चे मैदान का, दुश्मन की नुकीली चोंच से यूं नुचा हुआ / कि फट

पड़ी हैं मेरी आँखें अपने कोटरों से

मैं दुःख हूँ।

मैं युद्ध की ज़बान हूँ / मैं हूँ नगरों के अंगार / सन् इकतालीस की बर्फों पर / मैं भूख हूँ।

मैं गला हूँ / फांसी चढ़ी मुटियार का / जिसकी लाश घनघनाती रही सूने चौक में / घंटे की तरह

मैं गोया हूँ।

ओ प्रतिशोध की बौछार! मैंने फेंक मारी है पश्चिम की ओर / अनाहूत अतिथि की राख / और ठोंक दिए हैं सदा-स्मरणशील आकाश में / कीलों की तरह -- तारे

मैं गोया हूँ।

इसमें कोई शक नहीं कि नीलाभ की पुनर्रचना श्रीकांत की पुनर्रचना से बेहतर है। 'माच्चू पिच्चू के शिखर' में नीलाभ ने स्वीकार किया है कि वॉज्नेसेंस्की की कविता उन्होंने दो अंग्रेजी रूपांतरों और रूसी-हिंदी शब्दकोश की मदद से अनूदित की। मूल कविता को समझने में ज्यादा मेहनत करने की वजह से ही वे वॉज्नेसेंस्की के आशय को समझने एवं पाठकों तक लक्ष्य कविता के जरिए पहुँचाने में श्रीकांत से ज्यादा सफल रहे। श्रीकांत मेहनत से कतराते रहे, इसलिए उनकी पुनर्रचना मूल कविता को विकृत रूप में प्रस्तुत करती है। कुनिट्ज की पुनर्रचना की नीलाभ की पुनर्रचना से तुलना करते हुए मुझे महसूस हुआ कि दूसरे बंद में नीलाभ असावधान नज़र आते हैं। इसके अतिरिक्त पहले बंद को नीलाभ कुछ और ज्यादा कसकर अधिक प्रभावशाली बना सकते हैं। तीसरे बंद में 'औरत' के बजाय 'मुटियार' शब्द के चयन की निरर्थकता और चौथे बंद में 'सदा-स्मरणशील' में निहित गद्यात्मकता उन्हें क्यों नहीं अखरी -- यह भी मैं नहीं समझ पाया। परिणामतः मैंने भी वॉज्नेसेंस्की की युद्ध कविता हिंदी में रूपांतरित करने की जरूरत महसूस की। 'ए लिंग्विस्टिक थ्योरी आव ट्रांसलेशन' नामक ग्रंथ के रचयिता, अनुवाद की वैज्ञानिक तकनीक, उसके सर्जनात्मक, सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक पक्षों के अधिकारी विद्वान, मिशिगन विश्वविद्यालय के विख्यात भाषा वैज्ञानिक, प्रोफेसर जे.सी. कैटफोर्ड के अनुसार अनुवाद के दो मुख्य रूप हैं -- (1) शाब्दिक अनुवाद; और (2) मुक्त अनुवाद। आदर्श अनुवाद की स्थिति इन दोनों के बीच में है। वॉज्नेसेंस्की की कविता का अनुवाद करते वक्त मेरा ध्यान उक्त आदर्श पर केंद्रित रहा है। कुनिट्ज कृत अनुवाद के अंतिम बंद के अंग्रेजी शब्द Unforgetting को अपनी पुनर्रचना में हिंदी के समानार्थक शब्द 'स्मरणशील' के बजाय समानार्थक प्रभाव के संवाहक शब्द 'आक्रांत', से विस्थापित करके मैं पाठक को मूलार्थ से तो कुछ दूर अवश्य ले गया हूं, मगर संदर्भगत परिवेश से नहीं। युद्ध का चश्मदीद गवाह 'आकाश' नाज़ी फ़ौजों की बर्बरता और तज्जन्य

विनाश को कैसे भुला सकता है -- यह संकेत 'Unforgetting' शब्द में निहित है। जाहिर है कि वह (आकाश) स्तंभित/आक्रांत होगा। कवि स्वयं भी आक्रांत है और भय से मुक्ति पाने और अपने आक्रोश को अभिव्यक्त करने के लिए ही वह प्रत्यक्षतः आसमान में और परोक्षतः नाज़ियों के ताबूत में कीलें ठोंकने का दावा करता है।

स्टेनली कुनिट्ज की अंग्रेजी पुनर्रचना के साथ श्रीकांत, नीलाभ और मेरी हिंदी पुनर्रचनाओं की तुलना, अनुवाद संबंधी दिलचस्प और महत्वपूर्ण जानकारी तो पाठक तक पहुँचाएगी ही, मूल कविता को समझने में भी सहायक सिद्ध होगी। मुझे यकीन है कि मेरे प्रयास को, पुनर्रचना की रचना प्रक्रिया को समझने की कोशिश की रोशनी में देख सकने में पाठक कामयाब होगा। मैं उसका ध्यान इस तथ्य की ओर भी खींचना चाहूँगा कि मौलिक कविता रचते वक्त 'आयातित अनुभव' को 'अर्जित अनुभव' में बदलने (दूसरे शब्दों में रूपांतरण) की प्रक्रिया से गुजरने की कोशिश के संदर्भ में भी वॉज्नेसेंस्की की कविता 'मैं गोया हूँ', को देखने का प्रयत्न मेरे लिए उपयोगी सिद्ध हुआ है। बमों की मार से युद्ध क्षेत्र में पड़े हुए गढ़ों को देखकर वॉज्नेसेंस्की को लाश की आँखों को नोचते गिद्धों का ख्याल आया होगा, कविता की आरंभिक पंक्तियों में प्रस्तुत बिंब मेरे इस अनुमान का समर्थन करता है। युद्ध की विभीषिका के चित्रण के लिए विख्यात स्पेनी चित्रकार गोया भी वॉज्नेसेंस्को की स्मृति में तो बसा हुआ था ही, उसके लिए युद्ध का प्रतीक भी बन चुका था (माच्चू पिच्चू के शिखर)। युद्धक्षेत्र और लाश की भयावह स्थिति/नियति को संवेदनशील व्यक्ति के अनुभव और गोया के चित्रों में व्यक्त भयावहता को कवितानुभव में बदलने की प्रक्रिया में कल्पना, स्मृति और संवेदनशीलता से उनकी कारयित्री प्रतिभा ने कितनी निपुणता से काम लिया -- इसका अंदाजा उनकी कविता के स्टेनली कुनिट्ज कृत अंग्रेजी अनुवाद और नीचे दी गई मेरी हिंदी पुनर्रचना को पढ़कर सहज ही लगाया जा सकता है :

मैं गोया हूँ / नंगे मैदान का / कोटरों से आँखों के / फट पड़ने तक / दुश्मन की चोंच से / नोचा गया हूँ / मैं दुःख हूँ।

मैं जुबान हूँ / युद्ध की / सन् इकतालीस की / बर्फ पर बिखरे हुए / शहरों के अंगारों की / मैं भूख हूँ

मैं गर्दन हूँ / फाँसी चढ़ी औरत की / घनघनाती रही / जिसकी लाश / सूने चौक में घंटे की तरह / मैं गोया हूँ

ओ प्रतिशोध की बौछार! उछाल दी है मैंने / पश्चिम की ओर / अनाहूत मेहमानों की राख और कीलों की तरह / ठोंक दिए हैं तारे / आक्रांत आकाश में / मैं गोया हूँ।

❑

प्रो. रीतारानी पालीवाल

काव्यानुवाद

देश-विदेश में काव्यानुवाद के प्रश्न को लेकर बहसें होती रही हैं। संक्षेप में इन बहसों को तीन वर्गों के अंतर्गत रखा जा सकता है :

(क) एक बड़ा समूह यह मानता रहा है कि काव्य का अनुवाद हो ही नहीं सकता। काव्यानुवाद असंभव कला है। उनका कहना है कि काव्यानुवाद उस सुंदर औरत की भाँति है जो सुंदर है तो वफादार नहीं है और वफादार है तो सुंदर नहीं है। इस रूपक-कथन का संकेतार्थ इतना ही है कि काव्यानुवाद में सफलता प्राप्त कर पाना असंभव होता है। इस वर्ग के समर्थक सिडनी, दाँते, हम्बोल्टस, बर्जीनिया वूल्फ, क्रोचे आदि रहे हैं। इन सभी ने इस इतालवी कहावत का समर्थन किया है कि ''अनुवादक बड़े गद्दार होते हैं।'' (Traduttori traditori) क्रोचे ने बहुत ऊँचे स्वर में घोषित किया -- 'अनुवाद असंभव होता है।' (Translation is an impossibility)

(ख) दूसरे वर्ग के विचारक यह मानते हैं कि कविता का अनुवाद असंभव नहीं है -- वह कठिन अवश्य होता है। काव्यानुवाद की कठिनता को देखते हुए उसे असंभव घोषित कर देना मानवीय क्षमताओं के प्रति अविश्वास प्रकट करना है। इस वर्ग के विद्वानों ने 'असंभव' शब्द को लेकर आश्चर्य प्रकट किया है कि असंभव क्या होता है? प्रयत्न करने पर मानव के लिए असंभव कुछ नहीं है। प्रतिभा, बहुज्ञता और अभ्यास से काव्यानुवाद की कठिनता को हल किया जा सकता है। इस वर्ग के समर्थकों में -- होरेस, क्विंटीलियन, त्रिसनो, ड्राइडन, पोप और काडवेल आदि को रखा जा सकता है। काव्य के तत्त्वों को अलग कर देखने वाले काडवेल ने कविता के सात लक्षण बताते हुए कहा है कि -- (1) कविता लयात्मक होती है। (2) कविता का अनुवाद कठिन होता है। ध्यान देने की बात है कि मार्क्सवादी

विचारक काडवेल ने काव्यानुवाद की चर्चा करते हुए यह नहीं कहा कि कविता का अनुवाद कठिन होता है, इसलिए वह असंभव होता है। उनके मत का सारांश यही है कि काव्यानुवाद में बहुत अधिक सावधानी की आवश्यकता होती है। यही कारण है कि उपन्यास, कहानी आदि के अनुवाद की तुलना में काव्यानुवाद कठिन काम है।

(ग) तीसरे वग के विद्वानों का विचार है कि काव्यानुवाद करने का अधिकार सभी को नहीं होना चाहिए। काव्य की अच्छी समझ के बिना काव्यानुवाद नहीं किया जा सकता। अरसिक व्यक्ति कविता का कचूमर निकालकर रख देगा किंतु सहृदय व्यक्ति या कवि-हृदय व्यक्ति कविता से अपने को तादात्मीकृत करते हुए उसका काफी सही या समीपवर्ती अनुवाद कर सकता है। इस वर्ग के समर्थकों में शिलर, टी.एस. इलियट, एफ.आर. लीविस आदि विद्वानों के नाम उल्लेखनीय हैं।

इनके अतिरिक्त एक ऐसा वर्ग भी है जो यह मानता है कि कविता का मूल का-सा अनुवाद हो ही नहीं सकता है। यह अंतर सृजन की मनोभूमि और अनुवाद की मनोभूमि से उत्पन्न होता है। यही कारण है कि स्रोत भाषा से लक्ष्य भाषा में 'जैसी की तैसी' पुनर्प्रस्तुति नहीं हो सकती। कविता का तो निकटवर्ती या सह-अनुवाद हो सकता है । किंतु उस प्रकार के अनुवादक को अनुवाद के लिए भी काव्यानुभूति की बनावट के रेशे-रेशे को -- उसकी आभ्यंतरिकता में -- रचना-प्रक्रिया के स्तर पर पकड़ने का प्रयास करना होगा एवं कवि की मानसिकता से अनुवादक की मानसिकता को काफी निकट लाना होगा। यदि अनुवादक कवि के काव्य के साथ साधारणीकृत नहीं होता, तो भी अर्थ का अनर्थ हो जाएगा। इस प्रकार के अनर्थकारी अनुवादों की एक लंबी परंपरा रही है। काव्य के घटिया और भद्दे अनुवादों ने ही यह कहलवाया है कि काव्यानुवाद असंभव होता हे।

अच्छा काव्यानुवाद न होने पाने का एक मनोवैज्ञानिक कारण भी है कि मूल रचना तो सर्जक की ही रहती है, चाहे, अनुवादक कुछ भी करे। बेचारा अनुवादक अपनी संपूर्ण शक्ति लगाने के उपरांत भी रचना के लिए दूसरा व्यक्ति ही रहता है। इस दृष्टि से अनुवाद असल रचना की असल नकल का प्रयास-भर है। अनुवादक इस असल की असल नकल कितनी कर सकता है, केवल यही बात उसके लिए रह जाती है और फिर कभी-कभी तो समाज उसे सृजनशील कलाकार की भाँति आदर भी नहीं देता। ऐसी स्थिति में अनुवादक असंतोष का शिकार हो जाता है एवं पुनर्सृजन से पूरा लगाव रखता हुआ उसे भी ''दूसरे की वस्तु मानने का भाव' रखता है। कभी-कभी ऐसी स्थिति भी होती है कि अनुवादक स्वेच्छया अनुवाद करता नहीं, उसे अनुवाद करना पड़ता है। यानी किसी संस्था की योजना

के तहत अथवा आर्थिक जरूरत के कारण वह अनुवाद को व्यवसाय के तौर पर ग्रहण करता है। ऐसे में चूँकि उसे अनुवाद करना पड़ता है -- ऐसी मनःस्थिति में सृजनवत् अनुवाद की अपेक्षा उससे करना बहुत औचित्यपूर्ण नहीं है।

हजारों वर्षों से काव्यानुवाद किए जाते रहे हैं। किंतु अनुवादक मूल सृजन तक न पहुँचकर अनुकर्त्ता (Imitator) या अधिक से अधिक व्याख्याकार (Inerpreter) या बहुत ही सफल अनुवाद हुआ तो पुनर्सृजक (Re-creator) की स्थिति तक पहुँच सका है। उसका प्रमुख कारण तो यही है कि सैकड़ों अनुवादों में दो-चार अनुवाद ही उच्च कोटि के अनुवाद होते हैं। शेष अनुवादों को देखते ही स्पष्ट हो जाता है कि वे कितने दोषपूर्ण हैं और मूल रचना की मौलिक विशिष्टताओं को प्रस्तुत करने में कितने असमर्थ हैं। इसका कारण यह है कि कविता का अनुवाद अनुवादक से दोहरी अपेक्षा करता है -- एक तो मूल रचना और रचनाकार के प्रति तादात्म्य और निष्ठा की; और दूसरी पाठक के प्रति दायित्व और निष्ठा की। सृजनात्मक साहित्य का सफल अनुवाद अत्यंत परिश्रम-साध्य होता है। पर कविता के अनुवाद में शब्द, बिंब, प्रतीक, वाक्य-योजना, लय, लहजा, बलाघात, भाव-भंगिमा, पंक्ति-पंक्ति की अंतर्योजना, अंतर्गठन, अलंकार, छंद या संपूर्ण काव्य-संरचना को लेकर कुछ अतिरिक्त मूलभूत कठिनाइयाँ हैं, क्योंकि हर कविता का स्वभाव ही उसमें लयमान होता है तथा अपने कथ्य के अनुकूल स्वतः कविता लय और रूप में आकार ग्रहण करती है। कर्ण के कवच-कुंडल की भाँति ये कविता में उसके साथ ही उत्पन्न होते हैं। इसी में काव्यानुभूति की अद्वितीयता का मर्म छिपा रहता है। लोक-हृदय की सच्ची पहचान कराने के कारण कविता अनभुति-योग है, जिसे आचार्य शुक्ल 'भावयोग' का नाम देते हैं और ज्ञानयोग तथा कर्मयोग के समकक्ष मानते हैं।

काव्य-सृजन प्रक्रिया को दैवी प्रेरणा मानने का कारण भी यही था कि उसमें लाकोत्तर और सृजन की उदात्त मनोभूमि के विधान होते हैं। इसी अर्थ में काव्य सहजानुभूति है जिसकी आत्माभिव्यक्ति कवि विशिष्ट क्षणों में करता है। इसलिए काव्य-सृजन की आंतरिक प्रक्रिया से न तो अनुवादक जुड़ सकता है, न उसमें से गुजर सकता है। वह उससे तादात्म्य अवश्य स्थापित कर सकता है। इसलिए जब तक अनुवाद व्यवसाय से जुड़ी कला रहता है, अनुवादक की किसी आंतरिक जरूरत का परिणाम नहीं होता, तब तक वह मूल काव्य-पाठ के साथ न्याय नहीं कर पाता।

एक ही रचना के दो-तीन अनुवाद, अनुवाद और अनुवादक की मानसिक प्रक्रिया को समझने में सहायक होते हैं क्योंकि एक रचना के विभिन्न अनुवाद एक-दूसरे से भिन्न होते हैं। ऐसा भी होता है कि एक ही रचना के अनेक अनुवाद अनुवाद-प्रक्रिया के दौरान मूल रचना से बहुत दूर निकल जाते हैं। मूल रचना के साथ-साथ अनुवादक

की मानसिक प्रक्रिया, रचनात्मक प्रतिभा, परिवेश उसकी काव्यार्थ-बोध-शक्ति सभी कुछ काम कर रहे होते हैं। भिन्न-भिन्न भाषाओं की अभिव्यक्ति-शैलियों, प्रविधियों, पद्धतियों, ध्वनियों, शब्दों, वाक्यों, मुहावरों, अलंकारों, मिथकों और अर्थ-लयों को स्रोत भाषा की प्रकृति के साथ ही लक्ष्य भाषा की प्रकृति में अंतर होने के कारण ढालना कठिन हो जाता है, इस लक्ष्य की पुष्टि में फिट्ज्जेराल्ड के 'Rubaiyat of Omar Khaiyyam' से अच्छा उदाहरण और क्या हो सकता है जिसके सभी अनुवादों पर अनुवादकों का व्यक्तित्व 'हावी' हो गया है। यह बात हिंदी में केशवप्रसाद पाठक (रुबाइयात उमर खैयाम), मैथिलीशरण गुप्त (रुबाइयत उमर खैयाम), हरिवंशराय 'बच्चन' (खैयाम की मधुशाला, सुमित्रानंदन पंत (मधुज्वाल), रघुवंशलाल गुप्त (उमर खैयाम की रुबाइयाँ) आदि के अनुवादों को देखने से स्पष्ट हो जाती है। इन सभी अनुवादों के अनुवादक का व्यक्तित्व विशिष्टता लिए हुए मौजूद है। यहाँ दो प्रकार का विरोधाभास भी देखने को मिलता है -- मैथिलीशरण गुप्त का अनुवाद मूल को ही चौपट कर देता है, वहीं बच्चन जी का अनुवाद तो मूल से भी ज्यादा प्रभावशाली बन पड़ा है। बच्चन जी अपने अनुवाद में पुनर्सर्जक हैं और गुप्त जी अनुकरणकर्ता मात्र। इस अनुवाद में बच्चनजी की कवि-प्रतिभा का प्रदर्शन हुआ है। उन्होंने अनुवाद के दौरान कुछ जोड़ते हुए या कुछ छोड़ते हुए अपनी सृजनात्मक संभावनाओं को उजागर किया है।

प्रायः यह देखने को मिलता है कि जब कभी काव्य की भाषा कल्पनात्मक सत्यों के लिए प्रयुक्त की जाती है -- चाहे वह पद्य हो या गद्य -- तब कृति निश्चित रूप से अननुवाद्य हो जाती है। कारण, शब्दों में अनुस्यूत अर्थवत्ता को प्रतिस्थापित नहीं किया जा सकता। उनमें निहित अर्थ अत्यंत सूक्ष्म होता है और उनमें एक अतिरिक्त अर्थ छिपा रहता है -- यह छिपा रहने वाला अर्थ, स्वर-संगति, बलाघात, नाटकीय गति, ध्वनि-व्यवस्था आदि के माध्यम से निष्पन्न होता है। शब्द-विशेष से उत्पन्न लहजा (टोन) भी मूल भाषा-भाषी को सहज संप्रेषणीय होते हैं। अन्य भाषा-भाषी उसके शब्दार्थ को तो पकड़ता है पर उसके लहजे से उत्पन्न सूक्ष्म अर्थ को इतनी आसानी से नहीं पकड़ पाता। इस प्रकार अनूदित काव्यकृति किसी तैल-चित्र की सफेद-काली छाया मात्र रह जाती है क्योंकि अनुवाद करते समय काव्यानुभूति की बुनावट और बनावट के साथ ही काव्य-भाषा की बनावट और बुनावट बदल जाती है। संरचनात्मक ढाँचे के बदलाव के साथ उसकी मूल से सामंजस्य (Harmony) की बारीकी बहुत कम हो जाती है। सृजनात्मकता के क्षणों में जब सृजनात्मक कल्पना पूरी तरह सक्रिय होती है तब वह 'कथ्य' और 'कथ्यरूप' का गठन इतने प्रखर और व्यापक स्तर पर करती है कि कोई भी अनुवाद उसके समतुल्य हो ही नहीं सकता या हो ही नहीं पाता।

कृति के कथ्य में जीवनानुभवों से सृजित अनेक बिंब रचनात्मकता में रिले-मिले होते हैं जिन्हें अनुवाद के समय रक्षित रख पाना कठिन हो जाता है। अनुवादक अपनी मातृभाषा के दबाव से निर्वैक्तिक होने पर भी बच नहीं पाता। प्रत्येक अनुवादक, चाहे मूल के साथ उसकी संवेदना कितनी ही पूर्ण एवं श्रेष्ठ क्यों न हो, जान-अनजाने में और सूक्ष्म रूप में मूल से हट जाता है। यही वह बिंदु है जहाँ सृजन और अनुवाद का पार्थक्य दूर से पता चलता है।

अनुवादक की अपनी मातृभाषा की जितनी गहरी और सूक्ष्म पकड़ होगी, उतनी गहराई से वह किसी भी अन्य भाषा के लेखक की अभिव्यक्ति के लालित्य को सराहने तथा अनूदित करने मे सक्षम हो सकेगा। अर्थात् अनुवादक में रचना के भीतर गहरे पैठने की समझ होनी चाहिए, जो अपनी मातृभाषा के क्लासिक्स में धँसने से बनती है और जो अनुवाद के लिए निहायत जरूरी होती है। जो अनुवादक अपनी ही मातृभाषा की (या उस भाषा की जो उसके अध्ययन की प्रथम भाषा रही है) अर्थ-शक्तियों, अर्थच्छायाओं, शब्द-शक्तियों से उत्पन्न व्यंजनाओं से गहन परिचय नहीं रखता है, वह अन्य भाषाओं की गहन अर्थ-व्यंजनाओं को समझ के स्तर पर कैसे ग्रहण कर सकता है।

वर्णनात्मक साहित्य चाहे वह पद्य हो या गद्य उसका तो अच्छा अनुवाद किया जा सकता है, क्योंकि उसके मूल संरचनात्मक ढाँचे का अनुवाद में ह्रास बहुत कम होता है। इसलिए उसके अनिवार्य अर्थ का अनुवाद में पतन नहीं हो पाता। उसको रोचक शैली में प्रस्तुत करना भी अपेक्षाकृत सहज होता है। यद्यपि मूल को पूर्णतया संप्रेषित करने की सीमा वहाँ भी रहती है। उदाहरणार्थ 'वार एंड पीस', 'अन्नाकैरेना' आदि के अनुवाद विश्व-भर में बहुत ज्यादा लोग पढ़ते हैं और वे पसंद भी किए जाते हैं। फिर भी रूसी भाषाविद् यह महसूस करते हैं कि अनुवाद में एक सीमा तक रूसी संस्कृति का एक विशेष भाग छूट गया है या अनुवादक उससे अलग हट गया है या कथ्य की सांकेतिकता खो गई है, पात्रों का स्वर पतला पड़ गया है या स्वर की मूलभूत विशिष्टताएँ लुप्तप्राय हो गई हैं और लेखक की शब्दावली के बलाघात, प्रसंग-संकेत की विशिष्टताओं में व्याप्त ढंग से सन्निविष्ट समस्त विभेद उभरकर नहीं आ सके हैं।

काव्यानुवाद करते समय अनुवादक को स्रोत भाषा के छंद में परिवर्तन करने की स्वतंत्रता होती है। अनुवादक को कई बार तो लगता है कि छंद बदल देने से कविता का रूपात्मक ढाँचा बदल जाएगा। किंतु ऐसा सोचते समय वह यह नहीं समझता कि छंद से चिपके रहने पर और भी गंभीर गलती हो जाने की संभावना रहती है। प्रत्येक कविता में कवि का अनुभव, विचार और अनुभूति विशेष ढंग से अनुस्यूत होता है, जिसमें एक के बाद दूसरा भाव-चित्र गुँथा होता है, जिससे एक अनिवार्य लय उत्पन्न होती

है और वह लय एक विशिष्ट छंद में अभिव्यक्त होती है। किंतु किसी दूसरी भाषा में वही छंद-बंध प्रयुक्त होने पर यह हो सकता है कि वह लय कुंठित हो जाए। अतः अनुवादक को सर्वप्रथम कविता में निहित लय और उसके आभ्यंतरिक अवधारकों को खोजना चाहिए और अनुवाद करते समय इनसे अलग नहीं हटना चाहिए। छंद का अर्थ है -- छिपाकर रखी गई वस्तु। अर्थात् छंद कवि का निजी राज होता है। इसीलिए अनुवाद करते समय सबसे अधिक कठिनाई छंद की होती है क्योंकि हर कविता के कान अलग होते हैं। उदाहरण के लिए जर्मन, अंग्रेजी, रूसी, चेक में बलाघातयुक्त अक्षर-विभाजन छंद की रचना का निर्धारक है, जबकि पोलिश, स्पेनिश, फ्रेंच आदि भाषाओं में अक्षर बलाघात निरपेक्ष होकर निर्धारक बनता है। संस्कृत में अक्षरों का परिमापन अधिक ताकतवर है। लेकिन हिंदी में वर्णिक छंद बहुत अधिक सफल नहीं हो पाए हैं। वर्णिक छंदों में तीन-तीन अक्षरों का पुंज गति रूप में लय उत्पन्न करता है, जबकि मात्रिक छंद में दो यतियों के बीच में मात्राओं का योग लय का निर्धारक बनता है।

छंद में नियमित से कम महत्त्व अनियमित या अप्रत्याशित का नहीं है, यदि इनका प्रयोग किसी उद्देश्य विशेष के लिए किए जाता है। यह बात हिंदी की आधुनिक कविता की ओर ज्यादा ध्यान दिलाती है, जहाँ कविता की पूरी पंक्ति और लय में निश्चित संबंध नहीं है। प्रायः पूरी कविता के छंद-विधान को अलग-अलग लय-संरचनाओं के उद्देश्यपरक क्रम-विन्यास के रूप में देखने पर अनियमित पंक्तियों का काव्यार्थ पकड़ में आता है। जैसे कवि अज्ञेय की प्रख्यात कविता 'भोर-बेला' देखिए :

'हाक्! हाक्! हाक्!
मत सँजो यह स्निग्ध सपनों का अलस सोना --
रहेगी बस एक मुट्ठी खाक्!
थाक्! थाक्! थाक्!''

यहाँ काव्य भाषा में प्रयुक्त विरामों का विशेष महत्त्व है -- इनसे लय-अनुशासन तथा शैलीगत स्पष्टता का प्रकार्य हुआ है। किसी सीमा तक इन्होंने संगीत तत्त्व और संप्रेषणीयता की भी रक्षा की है। इस प्रकार कविता में ये विराम अलंकरण न होकर अंग रूप हैं। इस छंद में प्रयुक्त शब्द मनमाने आसन पर बैठे अवश्य हैं पर वे अभिप्राय विशेष में प्रसंग-निर्देश तथा सामंजस्य को लिए हुए हैं।

छंद शब्दाभिव्यक्ति के चरण होते हैं। ऐसा कहने का प्रमुख कारण छंद में निहित लय का आधार है जो गद्य में नहीं पद्य में होती है और कुछ दूर तक उसका साथ देती है। इस दृष्टि से गद्य भी लय विहिन नहीं होता है। अर्थात् संपूर्ण भाषिक अभिव्यक्ति में लय विद्यमान रहती है। कविता में छंद श्रौत रूप में लय बिंब है। प्रत्येक भाषा

की अपनी-अलग शब्द-योजना होती है तो प्रत्येक भाषा का लय-प्रवाह भी अलग होता है। यही कारण है कि छंद और लय का अनुवाद के समय लक्ष्य-भाषा में प्रायः अंतरण नहीं हो पाता है। एक सीमा तक छंद की लय उस भाषा से बँधी होती है, जिसमें उसका जन्म होता है। यह जन्म-स्थान बदलते ही ध्वनि, अर्थ, लय आदि में भारी अंतर पड़ जाता है। इसीलिए अज्ञेय जी ने छंद को कविता की आँख कहा है, ''भाषा सुनकर काम चला लेती है, पर काव्य-भाषा अपने को देखती है, देख भी लेती है। बिंबात्मक होने के कारण काव्य-भाषा अपने को देखती है।''

कविता शब्द-विधान है। काव्य में भाषा का सर्वाधिक सक्रिय उपयोग होता है। भाषा का प्रत्येक अवयव -- वर्ण, शब्द, शब्द-विन्यास, वाक्य-विधान, अर्थ-विधान, मुहावरा, विराम चिह्न आदि सभी का पूरा-पूरा लाभ उठाने का प्रयत्न कवि करता है। सामान्य भाषा में वर्ण का महत्त्व चाहे नगण्य हो, पर कविता में बहुत होता है। स्वयं आनंदवर्धन ध्वनि की व्यापकता वर्ण से प्रबंध तक मानते रहे हैं। आचार्य कुंतक ने वर्ण से ही वक्रता की चर्चा को आगे बढ़ाया है। 'कवितावली' में 'तुलसी मनोञ्जन रञ्जित अञ्जन नयन सुखञ्जन जातक से' इस पंक्ति में 'ञ' (च वर्ग के अंतिम वर्ण) से संयुक्त 'ज' का स्पर्श होने से नाद-सौंदर्य में चमत्कार उत्पन्न हुआ है। वर्ण-विन्यास वक्रता का यह समस्त सौंदर्य दूसरी भाषा में अनूदित करते ही समाप्त हो जाता है। शब्द-क्रम के बदलते ही पूरा स्वर-विधान टूट जाता है। वर्ण कविता के संगीत-तत्त्व का प्रधान गुण है। 'कविता क्या है' निबंध में आचार्य रामचंद्र शुक्ल का ध्यान काव्य की वर्ण-विन्यास वक्रता पर गया है। कविता के इस वर्ण-विन्यास का अनुवाद हो ही नहीं सकता, इस अर्थ में काव्यानुवाद असंभव होता है। वर्णों में व्यंजनों से स्वरों का महत्त्व अधिक है -- काव्य-संगीत का प्राण-तत्त्व स्वर है। अच्छी हिंदी या अंग्रेजी लिखना स्वर-पहचान के बोध का प्रमाण है। लघु स्वर गति को काव्य में तीव्र करते हैं और दीर्घ स्वर मंद। ऐसी स्थिति में स्रोत भाषा का स्वर-विधान लक्ष्य भाषा में ला पाना कठिन हो जाता है। यहाँ काव्यानुवाद की कसौटी इस बात में निहित होती है कि अनुवादक ने लक्ष्य भाषा के नाद-सौंदर्य और वर्ण-विन्यास वक्रता को किस हद तक परखा है और कहाँ तक उसका उपयोग अनुवाद में कर सका है।

काव्य-भाषा का संवाहक है -- शब्द। सामान्य भाषा के शब्दों में कवि नया अर्थ भरता है या निरंतर प्रयोग से भाषा के जो शब्द घिस जाते हैं उन्हें छोड़ते हुए नए शब्दों को लोक-भाषा में से लाता है। इस अर्थ में काव्य-भाषा की अर्थवत्ता नाद-गुण से लेकर प्रतीक-विधान तक फैली होती है। कविता में शब्दों का घनत्व इतना बढ़ जाता है कि वे चिह्न न रहकर 'वस्तु के रूप' में दृष्टिगत होने लगते हैं। इसीलिए कविता

को 'उत्तमोत्तम शब्दों का उत्तमोत्तम क्रम-विधान' कहा गया है। परंतु लक्ष्य भाषा में लाते समय पूरी सावधानी रखने के बाद भी अनुवादक को शब्द-विधान क्रम बदलना पड़ जाता है और तब होता है यह कि कविता के प्राणों में दरार पड़ जाती है। जैसे कालिदास के 'रघुवंश' में यह कथन -- 'रघोः सकाशादिनवाप्य काममू।' यहाँ 'रघु' व्यक्ति न होकर दानवीर के प्रतीक रूप में शब्द से व्यंजित है। अनुवादक सोच सकता है कि व्यक्ति-विशेष के अर्थ में निश्चित भाव होने के कारण व्यक्तिवाचक संज्ञा शब्द किसी प्रकार के विशेष भाव के अर्थ में प्रयुक्त नहीं हो सकता। पर अनुवादक को कुंतक का यह कथन ध्यान में रखना चाहिए कि व्यक्तिवाचक शब्द अपने में चमत्कार रखने के साथ सामान्यवाचक शब्दों का भी गुण रखते हैं और कवि उनका भी द्विविध उपयोग कर लेता है। इनमें संस्कृति का भाव-चित्र जुड़ा होता है।

काव्य में भाषा की विशेषण-वक्रता का गुण भरपूर समाया होता है। परंतु यह काव्य-गुण अनुवादक को बहुत परेशान करता है। सूक्ष्म निरीक्षण-शक्ति की समर्थ गति वाले कवि ज्यादा-से-ज्यादा विशेषण-वक्रता के कवि होते हैं। एक प्रकार से उनकी पहचान ही विशेषणों से बनती है। इसका प्रधान कारण यह है कि संज्ञा की अर्थ-सीमा अनिश्चित होती है, उसे विशेषण ही निश्चित करता है। यह विशेषण ही अनुभूति, संवेग, कल्पना, भावना आदि को प्रकाश में लाते हैं। इन विशेषणों का लाक्षणिक अर्थ होता है। विशेषणों में क्रियावाचक विशेषण भाषा में विशेष चमत्कार की सृष्टि करते हैं। इनका प्रमुख कार्य विशेषणपरक की क्रिया को मूर्त्त करना होता है। तीन प्रकार के इन विशेषणों -- रूढ़, मौलिक तथा विशेषण विपर्यय -- में विशेषण-विपर्यय का विशेष महत्त्व होता है। समर्थ कवि ऐसा भी करता है कि वह विशेषणों से काम न चलाकर क्रियापदों से काम चला लेता है। स्वयं राजशेखर कविता की भाषा में क्रिया-पदों के महत्त्व को पुनः-पुनः घोषित करते रहे हैं। काव्यानुभव का संपूर्ण योग क्रियापदों में ही प्रतिफलित होता है। यही कारण है कि संपूर्ण अनुवाद को दृष्टि में रखने वाला अनुवादक क्रियापदों पर विशेष ध्यान केंद्रित किए रहता है। स्रोत भाषा से लक्ष्य भाषा में काव्य को लाने के लिए बढ़िया अनुवादक उन रूपों के प्रति आसक्ति नहीं रखता, जिनकी ताजगी खत्म हो गई है। काव्य-शक्ति को उजागर करने के लिए अभिव्यक्ति की विस्तृत प्रणालियों को पुनरुज्जीवित करने का प्रयास वह करता है।

काव्य-भाषा के पर्यायवाची शब्द अनुवादक की ज्ञान-राशि की कसौटी होते हैं। जो भाषा जितनी ही सशक्त होगी, उसमें पर्यायवाची शब्दों की उतनी ही अधिकता रहेगी। मजेदार बात इन शब्दों की यह है कि इनका वाच्यार्थ एक होता है किंतु व्यंग्यार्थ संदर्भ के अनुसार अलग-अलग ढंग से व्यंजित होता है। इसका कारण है कि ये शब्द अपनी

व्युत्पत्ति, स्वभाव, स्वरूप आदि में भिन्न-भिन्न अर्थ-संदर्भ रखते हैं। जैसे पंकज (पंक या कीचड़ से उत्पन्न), सरोज (सरोवर से उत्पन्न) आदि शब्द। पर कविता में इनका इतना महत्त्व होता है कि ये ही पर्याय वक्रता के मूलाधार हैं। मध्ययुगीन भरत की दृष्टिकूट काव्य इन काव्य-चमत्कारों की अद्‌भुत रंगशाला है। अनुवादक को इन पर्यायों के व्युत्पत्ति-संदर्भ, कथा-संदर्भ को ग्रहण करने की यथासांव कोशिश करनी चाहिए। जैसे कृष्ण के पर्याय मुरारी, हरि, गोपाल, मनमोहन, श्याम, यशोदानंदन, द्वारिकानाथ, गिरिधर, मुरली माधव, राधा-वल्लभ आदि शब्द हैं। मीरा की पंक्ति है -- ''मेरो तो गिरधर गोपाल, दूसरा न कोई।'' तो इस पंक्ति में 'गिरधर' कृष्ण का पर्याय मात्र न होकर एक विशेष रक्षा-बोधात्मक ब्रह्म का प्रतीक हश्र कथा को छिपाए हुए मिथक है। इसलिए पर्यायों को पकड़ने के लिए अनुवादक को उस भाषा विशेष की सांस्कृतिक जड़ों की जानकारी अनिवार्य होती है। इस जानकारी के अभाव में ठीक अनुवाद हो ही नहीं सकता।

काव्यानुवाद में पारिभाषिक शब्दों के विषय में क्या नीति अपनानी चाहिए? यह प्रश्न तरह-तरह से उठाया तथा सोचा जाता रहा है। ज्ञान-विज्ञान का नानाविध विस्तार हो जाने के कारण तमाम अनुशासनों के 'पारिभाषिक शब्द' कविता में धड़ल्ले से आ रहे हैं। आने भी चाहिए। पहले से ही दर्शन, इतिहास, गणित, ज्योतिष, वैद्यक आदि के अनेक शब्द हिंदी कविता में बेझिझक प्रयुक्त किए जा रहे हैं। जैसे -- 'कामायनी' की ये पंक्तियाँ :

कर रही लीलामय सानंद,
महाचित्ति सजग हुई-सी व्यक्त।
विश्व का उन्मीलन अभिराम,
इसी में सब होते अनुरक्त।।

यहाँ 'महाचित्ति', 'उन्मीलन' आदि शैवाद्वैत दर्शन के घोर पारिभाषिक शब्द हैं। इन शब्दों के पर्याय चुनने में बड़ी सावधानी की जरूरत है। थोड़े से प्रमाद में इनका अर्थ बदलकर अनर्थ का रूप ले लेता है। इस प्रकार के शब्दों के मामले में भाषा के मर्मज्ञों से राय लेकर ही अनुवाद करना चाहिए। थोड़ी-सी भूल पदस्खलन का कारण बन जाती है।

भारतीय तथा भारतेतर विचारकों का यह मत रहा है कि कविता के शब्दों में उलट-फेर नहीं किया जा सकता। कवि के समक्ष 'कोई' शब्द लेने की बात नहीं होती, 'एकमात्र' शब्द के चुनाव का मतलब होता है। उस 'एकमात्र' शब्द को बदल देने से कविता नहीं रह जाएगी, वह दूसरी कविता हो जाएगी। ऐसा भी हो सकता है कि कविता के शब्द बदलते ही काव्यात्मकता समाप्त हो जाए। जैसे बिहारी का यह दोहा :

मेरी भव बाधा हरौ, राधा-नागरि सोय।
जा तन की झाँई परै, स्याम हरित दुति होय।।

इस दोहे का पूरा काव्यात्मक चमत्कार 'झाँई परै', 'स्याम हरित दुति होय' पर टिका है। इन शब्दों के स्थान पर अन्य शब्दों को नहीं रखा जा सकता। कवि को जो कहना अभीष्ट है, उसके लिए यहाँ एक ही शब्द, एक ही क्रिया और एक ही विशेषण उपयुक्त है। इसमें बिहारी के भाव या विचार को व्यक्त करने में इन शब्दों के अतिरिक्त किन्हीं अन्य शब्दों से काम ही नहीं चल सकता। विशिष्टता को प्रकट करने में बिहारी ने एक भी फालतू शब्द का प्रयोग नहीं किया। अनेकार्थी अर्थ-व्यंजना वाले ऐसे शब्द अनुवादक का साथ कभी नहीं देते। उनका तो 'भावानुवाद' ही करना पड़ता है जिसमें 'बहुत कुछ छूट' जाता है और 'बहुत कुछ' अनुवादक को 'भरना' पड़ सकता है।

काव्यानुवाद में शब्दार्थ के प्रसंग-संकेत (Allusion) और साहचर्य (Association) का प्रश्न भी बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। रचना में पौराणिक, ऐतिहासिक, व्यक्ति, घटना, प्रसंग का उल्लेख 'प्रसंग-संकेत' होता है -- जैसे धर्मवीर भारती की 'अंधायुग' में प्रसंग-संकेत इस प्रकार आया है :

हम सबके मन में गहरा उतर गया है युग
अश्वत्थामा है संजय है अंधियारा है।

इन पंक्तियों में 'अश्वत्थामाा' और 'संजय' ये दोनों शब्द प्रसंग-संकेत रखते हैं। शब्दों के साथ जो भाव लिप्त है, या रहता है, वही साहचर्य कहलाता है। 'संजय' कहते ही भारतीय सांस्कारिक मन में एक विशेष प्रकार के दिव्य दृष्टि-संपन्न व्यक्ति का उदय हो जाता है। अंग्रेजी भाषा साहित्य में 'ब्लड' शब्द का आभिजात्य, काम-भावना आदि से अनजाने ही साहचर्य जुड़ता है। इस प्रकार 'प्रसंग-संकेत' तथा 'साहचर्य' का कविता के अनुवाद में बड़ा ध्यान अनुवादक को रखना चाहिए, क्योंकि इनकी जड़ें सांस्कृतिक परंपरा में बहुत दूर तक फैली होती हैं। इनसे अपरिचित अनुवादक इनका ठीक बोध ही नहीं कर पाएगा। प्रसंग-संकेत की इस कठिनाई के कारण भी इलियट की कविता 'वेस्टलैंड' का कोई भी अच्छा काव्यानुवाद नहीं हो सका है। मूल कविता की व्याख्या ही सौ या डेढ़ सौ पृष्ठों तक की जाती रही है।

काव्यानुवाद का एक कठिन पहलू यह भी है कि मूल कविता को लक्ष्य भाषा में लाते ही भाषा का नाद (साउंड), भाव (सेंस), संगीत (म्यूजिक), अर्थ (मीनिंग) आदि का ग्रंथ-बंधन टूट जाता है क्योंकि काव्य में अर्थ शब्द के अधीन रहता है। इसी अर्थ में कव्य को 'शब्द-विधान' भी कहा जाता रहा है।

अनुवाद की समस्या यही है कि उसे मूल के अधिकाधिक निकट होना चाहिए।

यहाँ अनुवाद का संबंध 'अनुकरण' से हो जाता है। भिन्न समय और देश का कवि 'मूल' को अनुवाद के लिए इसलिए अपनाता है कि उसके अपने समय तथा कृति के सृजन के समय की स्थितियों में कुछ समानता होती है और यह भी ध्यान रहता है कि अनुवाद के माध्यम से वह अपने समय को उपयुक्त कृति दे रहा है। पोप, होरेस की और जॉन्सन ज्यूवेनल के अनुवाद की ओर इसलिए आकृष्ट हुए हैं कि उन्हें लगा है कि जो कुछ होरेस और ज्यूवेनल ने कहा था, उसे एक बार फिर से कहने की आवश्यकता है। संसार-भर में प्राचीन क्लासिक्स का अनुवाद इसी दृष्टिकोण से होता रहा है। किंतु अनुवाद को मूल का 'छायाभास' मात्र नहीं होना चाहिए। अनुवादक को रचना के रूप की ओर समर्पित तो होना चाहिए किंतु यह समर्पण बहुत नियंत्रित ढंग का होना चाहिए। जिस कविता का अनुवाद उसे करना है, वह उसके लिए 'गवेषणा' की वस्तु हो, कवि की अनुभूति से उसका भाव-तादात्म्य हो। उसे रचना की बनावट, उसके अंतर्सामंजस्य तथा बाह्य संरचना पर पूरी तरह ध्यान देना चाहिए तथा उसकी मूल संवेदना और ज्ञानात्मक शक्ति को पकड़ने का प्रयास करना चाहिए।

कविता रूप, रस, स्पर्श, गंध और ध्वनि के मूर्त्त-अमूर्त्त बिंब जगाती है एवं मूर्त्त वस्तुओं में एक तारतम्य होता है। इस तारतम्य में स्पर्श सबसे स्थूल और रस सबसे सूक्ष्म है। बिंब में ऐंद्रियता की अनिवार्यता होती है और जिस कवि में ऐंद्रिय-बोध जितना सूक्ष्म होता है, वह उतने ही उस स्तर के सादृश्य-विधान उपस्थित करने में समर्थ होता है। मानस तथा अतिमानस के सादृश्य-विधान प्रायः बड़े जोखिम भरे होते हैं, उनके उपयोग में थोड़ी-सी चूक होने पर कवि स्वयं अपने स्तर से गिरने लगता है तथा इस प्रकार की कविताओं के अनुवाद में कठिनता रहती है। 'ओस की बूँद' की भाँति कविता अनुवादक के हाथ का स्पर्श करते ही समाप्त हो जाती है। इस प्रकार की कविताओं के अनुवाद जब कभी हुए हैं, पाठकों को निराश होना पड़ा है। अंग्रेजी कवि कीट्स के बहुत अच्छे अनुवाद इसीलिए नहीं हो सके हैं।

कविता में प्रयुक्त विशेषण और पर्याय गठनात्मक अंतर्योजना के अखंड अंग होते हैं और सच्चा काव्यार्थ उन्हीं में सीधी धार-सा बहता है। इनमें कृत्रिम संरचना की जटिलता नहीं होती। अपनी ऋजुता और भीतरी वक्रता इनमें रहती है, जैसे निराला जी की प्रख्यात कविता 'राम की शक्तिपूजा' को लिया जा सकता है, जिसमें ऋजुता के साथ भीतरी वक्रता विद्यमान है जो इसके विशेषणों और पर्यायों में मौजूद है। इसके प्रतीकों और मिथकों को, विवरणों और इतिवृत्तों को अनुवाद में ठीक से पकड़ा जा सकता है किंतु इस कविता के सर्वाधिक प्रभावकारी आघात विशेषणों के रूपों में न्यस्त हैं जिन्हें कोई विदेशी अनुवादक इनके अभिप्रायपरक संदर्भों को पकड़े बिना ग्रहण नहीं कर पाएगा। इसलिए भिन्न संस्कृति

वाले व्यक्ति के लिए इस कविता का अनुवाद करना लोहे के चने चबाने के समान है। जैसे -- 'राम की शक्तिपूजा' में 'कमल' का बार-बार प्रयोग देखिए :

(1) 'राजीवनयन द्रुतलक्ष्य'
(2) 'नमित मुख सांध्य-कमल'
(3) 'नत सरोज मुख श्याम देश'
(4) 'इंदीवर निंदित लोचन'
(5) 'कमल लोचन ध्यानलग्न'
(6) 'पलक-कमल ज्योतिर्दल'

इस प्रकार पूरी कविता में 'कमल' का अभिप्राय विशेष-विशेष संदर्भों में स्थित है। कभी एक सौ आठ कमलों से देवीपूजा का संदर्भ है जिसमें आँख 'इंदीवर' है और दूसरी ओर साधना को जागरूक रखने का स्वीकृत एवं समर्थ माध्यम है। लेकिन कविता में कवि इन शब्दों की आवृत्ति कर अर्थ को चक्राकार घुमाता है। इस तरह कवि शब्द-शब्द अर्थवृत्त बनाता चलता है। अतः अनुवादक को कविता के आवृत्तिमूलक पर्यायों तथा उनसे बने अर्थगुच्छों पर ध्यान देना होगा।

रूपकात्मक (Allegorical) तथा फंतासीपरक (Fantasy) कविताओं के शब्दों के घुमाव और उनमें निहित-विहित तनावों के व्यास कभी-कभी बड़ी कठिनता से बनते हैं। जैसे दांतों के बीच सूराख होने से पकड़ी हुई चीज फिसल जाती है, वैसे ही इस प्रकार की कविताएँ होती हैं, जिन्हें कितना भी कसकर पकड़ने की कोशिश करो, ये फिसल ही जाती हैं एवं इनके अर्थ की अनिश्चितता पाठक हो या अनुवादक, दोनों को द्वंद्व-ग्रस्त रखती है क्योंकि ये कविताएँ अर्थ की अस्पष्टता, अमूर्त्तता और कोहरिलता में बहती हैं। यह सत्य है कि इन कविताओं में एक बुनियादी यथार्थ होता है लेकिन ठोस अर्थ प्याज के छिलके की भाँति कई परतें उतारने के बाद मिलता है। जब कॉलरिज की कविता 'Kubla Khan' या मुक्तिबोध की कविता 'ब्रह्मराक्षस' का अनुवाद किया जाता है तो कहीं कुछ 'छूट जाता है' या 'कही कुछ जुड़ जाता है।' हर बार इनके अनुवाद में यही समस्या सामने आएगी। वास्तव में यह काव्यानुवाद की एक विवशता है कि इनका महीन ढाँचा अनूदित नहीं हो सकता क्योंकि इनमें एक खास ढंग की तिलस्मी कला काम कर रही है, अनुवाद करते ही वह तिलस्म टूट जाता है।

काव्यानुवाद की प्रधान समस्या काव्य-भाषा के अनुवाद की समस्या है क्योंकि कविता भाषा में ही होती है। जैसे तारों में बिजली बहती है वैसे ही कविता भाषा में बहती है। इसलिए संपूर्ण काव्यानुवाद एक प्रकार का भाषानुभव है। भाषा के शब्दों में देश और काल तथा इतिहास-भूगोल-दर्शन सभी निहित रहते हैं। शब्द जीवनानुभव है जो

अर्थ को भरता है और बहुत समय तक ढोता भी है। प्राचीन कविताओं का अनुवाद आज इसलिए कठिन पड़ता है कि उनकी भाषा बदलते ही देश और काल के साथ काव्यार्थ बदल जाता है। जब 'वाल्मीकि रामायण' और 'गीता' का अनुवाद किया जाता है, तो उनके भी शब्द-संदर्भ, प्रसंग-निर्देश खोजने पडते हैं -- 'धर्मक्षेत्रे कुरूक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः'। अब यहाँ संस्कृत के 'युयुत्सव' का संदर्भगत अर्थ का ढाँचा 'युद्ध के लिए उत्सुक' लिखते ही डगमगा जाता है। कविता में शब्द और शब्द के बीच में जो जगह रह जाती है, वास्तव में कविता का अर्थ वहीं जीवित होता है, जिसकी पूर्ति का अनुवादक कितना ही प्रयास क्यों न करे, शब्दक्रम बदलते ही पद-वाक्य योजना, स्वराघात, बलाघात, यति-गति सभी बदल जाते हैं। यदि कविता का काल-बोध टूट जाता है तो प्रतीक आदि वर्ण-संकरता धारण कर लेते है क्योंकि पुराने प्रतीकों पर नए प्रतीकों, अनुभवों, संवेगों और सृजनात्मक संयोजनों की पर्त चढ़ जाती है। अनुवादक नई संरचना, नई भाषा सब कुछ नया पैदा करता है, इसी अर्थ में अनुवाद 'पुनर्सृजन' कहा जाता है।

कविता की भाषा-प्रयोग-विधि साहित्य की अन्य विधाओं से अलग तरह की विधि है। इस दृष्टि से सामान्य भाषा की तुलना में काव्य-भाषा पृथक और विशिष्ट है। सामान्य भाषा के मानदंड काव्यभाषा पर न तो लागू हो सकते हैं और न होने चाहिए। शब्दों द्वारा समर्थित अनुभव कवि का निजी अनुभव होता हुआ भी निर्वैयक्तिक अनुभव होता है। सामान्य भाषा संकेत और संकेतित के बीच के स्थिर संबंधों को न तो तोड़ती है, न विचलित करती है। किंतु काव्य-भाषा संकेत और संकेतित के बीच के स्थिर संबंधों को लगातार तोड़ती है। ऐसा करने से एक नई अर्थ-गर्भिता और सृजनात्मक रूप का नया प्रवर्तन होता है। काव्य का जो प्राणभूत व्यंग्यार्थ है, वह शब्द-व्यापार की ही कला में है। इसलिए वाच्येतर अर्थ की खोज कविता के विविध संदर्भों की खोज है। इसी से कलानुभव कलानुभूति के रूप में में रूपांतरित होता है और जो वास्तविक अनुभव है वह बिंब ग्रहण और अर्थ-ग्रहण के अंतःसंबंध संघटन का रूप ग्रहण करता है। इसलिए अच्छी कविता को हम जितनी बार पढ़ते हैं उतनी ही बार उसके नए-नए अर्थ-स्तर खुलते और सूझते हैं। तात्पर्य यह है कि कविता के शब्दों में अर्थ की अनंत संभावनाएँ निहित रहती हैं। कविता का अर्थ-संदर्भ-व्यापार सीमित न होने के कारण अनुवादक को कठिनाई का सामना करना पड़ता है, क्योंकि काव्य-भाषा में बाहरी सूचना से अधिक ध्यान संदेश के गठन पर होता है।

कवि के संवेदनात्मक ज्ञान को उसकी ज्ञानात्मक संवेदना लगातार तनाव में रखती है। इसलिए ध्वनि और अर्थ के बीच, व्याकरण और शब्द-रचना के बीच, वाक्य और वाक्य-खंड के बीच, शब्द और उसके अवयव के बीच एक क्रमबद्धता में बंधा तनाव

रहता है। इसे हम चाहे ध्वनि नाम दें, चाहे वक्रता, चाहे रीति या गुण नाम दें या रस कह दें, एक विशिष्ट प्रकार की सौंदर्य-कला कविता की पूरी संरचना के संदर्भ में पंक्ति-पंक्ति से जुड़ी रहती है। कविता के संदर्भित काव्यार्थों को रक्षित रखने के लिए अनुवादक उसकी कलात्मक बनावट को पकड़ने का प्रयास करता है और ऐसा करने पर ही अनुवाद एक नया संस्करण या पुनर्रचना दृष्टिगत होने लगता है। उदाहरणार्थ एक जापानी कवि के निम्नांकित हाइकू का हिंदी के दो प्रसिद्ध कवियों द्वारा किया गया अनुवाद देखिए :

The old pond
A frog jumps in:
Plop!
(Zenin-English Literature and Oriental Classics, p. 207)

जापानी के इस प्रसिद्ध हाइकू का अनुवाद शमशेर बहादुर सिंह ने (हिंदी-काव्य पिछला दशक) में इस प्रकार किया :

एक पुराना तालाब
और उछलते मेंढक की आवाज
पानी के भीतर (बीच)?

इस अनुवाद में शब्दों के बिंबगत संदर्भ बिखर गए, क्योंकि स्रोत भाषा से लक्ष्य भाषा में लाते समय 'कुछ छूट गया' और 'कुछ बढ़ा दिया गया।'

अज्ञेय ने इसी 'हाइकू' का अनुवाद इस प्रकार किया है :

ताल पुराना
कूदा दादुर
गुडुप।

इस अनुवाद में शब्द-साम्य, अर्थ-साम्य और ध्वनि-साम्य -- तीनों का ध्यान रखा गया है। यह सब संभव इसलिए भी हो पाया है कि अज्ञेय शब्द की पकड़ के कवि हैं।

कवि शैली की कुछ पंक्तियाँ हैं :

MANY a green isle needs must be
In the deep wide sea of Misery,
Or the mariner worn and wan,
Never thus could voyage on

अज्ञेय जी ने इन पंक्तियों का अनुवाद किया :

कई हरे-भरे द्वीप अवश्य होंगे
व्यथा के गहरे ओर फैले सागर में
नहीं तो थका-हारा सामरिक
कभी ऐसे यात्रा करता न रह सकता।

यह अनुवाद मूल के अत्यधिक निकट है, उसे मूल की धुँधली छाया नहीं कहा जा सकता। मूल कविता में निहित सूक्ष्म-गहन अर्थ-व्यंजना को कवि ने काफी ठीक पकड़ा है और अपनी भाषा के मुहावरे में उन अर्थ-स्तरों को व्यंजित किया है। ऐसे अनुवादों से ही आशा बँधती है कि कविता का सफलता से अनुवाद हो सकता है।

स्वयं अज्ञेय जी की अनेक कविताओं का अन्य भाषाओं में अनुवाद हुआ हे। इनमें से एक अनुवाद (भाषा, पत्रिका-सितंबर 1972 में) 'साँप' कविता का गुजराती में रामचंद्र देसाई ने इस प्रकार किया :

हिंदी : साँप!
तुम सभ्य तो हुए नहीं,
नगर में बसना
भी तुम्हें नहीं आया।
एक बात पूछूँ -- ''उत्तर दोगे?''
तब कैसे सीखा डसना --
विष कहाँ पाया?

गुजराती : साँप
तुं सभ्य तो थयो नथी
नगरमां बसवानुं पण
फाप्युं नथी तने।
एक बार पुछूं -- ''उत्तर दईश?''
तो ने कई रीले शीख्यो डसवानुं
विष पाम्यो क्यांथी?

भारतीय भाषा में किया गया यह अनुवाद मूल भाषा के अर्थ-संदर्भ को पूरी तरह रक्षित रख पाया है।

माखनलाल चतुर्वेदी की कविता 'एक पुष्प की अभिलाषा' का हेमलता देसाई द्वारा गुजराती अनुवाद देखिए, जिसमें शब्द-क्रम बदल देने से कविता का तमाम प्रभाव नष्ट हो जाता है :

हिंदी : चाह नहीं, मैं सुरबाला के
गहनों में गूँथा जाऊँ।
चाह नहीं, प्रेमी माला में
बिंध प्यारी को ललचाऊँ।

गुजराती : 'सुरवालानी वेणीया
मने गुंथावानी चाह नथी

प्रेमी ओनी प्रेम पालमा
बंधावानी चाह नथी। ('भाषा')

यहाँ इस कविता में कही गई प्रत्येक बात को लक्ष्य भाषा में प्रस्तुत कर दिया गया है। किंतु कविता द्वारा रखे गए शब्द-क्रम में निहित लय तथा लहजे से उत्पन्न अर्थ-वक्रता अनुवाद में नहीं आ सकी है। उस कारण से कवि जिस मूल बात पर बल देना चाहता था वह अनुवाद में खो गई है। वैसे इस कविता में सूक्ष्म-गहन संरचना या अर्थ-व्यंजना थी पर अनुवादिका उसे पूरी तरह पकड़ नहीं सकी है। काव्यानुभूति से सही साक्षात्कार न कर पाने का यह सीधा परिणाम है।

काव्यानुवाद की समस्या अलंकारों से भी संबंधित समस्या है। अलंकार काव्य में चमत्कार के लिए ही नहीं होते, वे अभिव्यक्ति के विशेष रूप होते हैं, शैली होते हैं, कथनगत चमत्कार और संप्रेषणीयता के माध्यम होते हैं। इसलिए भाषा के कथन-ढंग में उनकी भूमिका महत्त्वपूर्ण होती है। शब्द पर आधारित अलंकारों का चमत्कार शब्द-विशेष पर टिका होता है, जिसका अनुवाद करना कठिन काम होता है या हो ही नहीं पाता है। बिहारी का दोहा देखिए :

'कनक कनक ते सौ गुनी मादकता अधिकाय'

इस पंक्ति का यमक-रक्षित रखते हुए अनुवाद नहीं हो सकता। ऐसी स्थिति में काव्यानुवाद न करके गद्यानुवाद ही करना चाहिए क्योंकि कनक के समान दो अर्थ दूसरी भाषा में मिलना आवश्यक नहीं है।

अर्थालंकारों के सादृश्य-विधान पर यदि अनुवादक अपना ध्यान केंद्रित करता है तो उसे अनुवाद में बड़ी समस्या का सामना नहीं करना पड़ता। यहाँ भी अनुवादक को ध्यान रखना होगा कि वह मात्र अनुकर्ता मात्र ही नहीं है, वरन् उसे एक सर्जक की मनोभूमिका अदा करनी चाहिए।

आज के संसार में जब सांस्कृतिक आदान-प्रदान की भूमिका बढ़ गई है तब तो काव्यानुवाद की भूमिका और अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाती है। कविता के अनुवादक को बहुत नियमों में बंधने की बजाय कविता के अर्थ-लय और अनुभूति से तादात्म्यीकृत होते हुए उसका अनुवाद करना चाहिए। इस कविता की प्रकृति को ध्यान में रखते हुए अनुवाद गद्य या पद्य में करना चाहिए। इस प्रकार काव्यानुवाद असंभव कला नहीं है। हाँ, यह तलवार की धार पर चलने वाली कठिन कला है।

❑

अशोक वाजपेयी

हम छाया तक नहीं

कोई कवि जीवन भर सिर्फ एक पंक्ति या दो पंक्तियों की कविताएँ लिख सकता है, यह कभी सोचा नहीं था। सातेक बरस पहले पेरिस में अपनी एक प्रिय दुकान से पुस्तकें खखूरते हुए प्रख्यात अमेरीकी कवि-अनुवादक डब्ल्यू.एस. मर्विन द्वारा अंग्रेजी में अनूदित एक पुस्तक मिली--'वॉयसेज'। मूल कवि थे अन्तोनियो पोर्किया, जिनका इससे पहले नाम नहीं सुना था। चूँकि मर्विन की बड़ी प्रतिष्ठा है, उन्होंने किसी अच्छे कवि को ही चुना होगा ऐसी आश्वस्ति मन में थी। पर उससे बड़ा आकर्षण पैदा हुआ जब अनूदित कविताएँ देखीं। इस द्विभाषिक संस्करण में हर पृष्ठ पर मूल या अंग्रेजी अनुवाद में चार या पाँच कविताएँ थीं। अधिकतर कुल एक पंक्ति की और कुछ दो की। मन गहरी उत्तेजना से भर गया। पहली नजर में जो कविता आई वह थी : "फूल बिना उम्मीद के होते हैं। क्योंकि उम्मीद आने वाला कल है और फूलों का कल नहीं होता।" फूल और उम्मीद के पारम्परिक संबंध को ये दो पंक्तियाँ एक बारगी रूपान्तरित कर देती हैं और फूलों को गहरी अस्तिपरक नाउम्मीदी से जोड़ देती है। दुकान के बगल में एक बार में बैठकर मैं यह पूरा संग्रह पढ़ गया। तभी यह भी तय किया कि इस कवि को हिन्दी में लाना चाहिए। वे अनुवाद पहलेपहल पिपरिया से निकलने वाली कविता के अनुवाद पर एकाग्र अद्‌भुत पत्रिका 'तनाव' ने 2003 में अपने 87वें अंक के रूप में प्रकाशित किए। इन कविताओं का ऐसा गहरा प्रभाव पड़ा था कि स्वयं मैंने एक-एक पंक्ति की कुछ कविताएँ लिखीं जो मेरे 'इबारत से गिरी मात्राएँ' शीर्षक में प्रकाशित हैं।

बरसों पहले कविमित्र कमलेश ने अपने एक निबन्ध और उसके शीर्षक में एक पद का इस्तेमाल किया थाः 'वागर्थ की अल्पता'। पोर्किया की सूक्ति जैसी लगती ये कविताएँ पढ़ते हुए यह पद याद आता रहा। इनमें वागर्थ की अल्पता बल्कि स्वल्पता

है। जरूरत से ज्यादा आत्मसंयम से लिखी गई इन पंक्तियों में अनुभव का अद्‌भुत संक्षेप, सघन संकेन्द्रण और वैचारिक शुद्धता है। ऐसे विचार हैं जो कहीं और से नहीं अनुभव के गर्भ से निकले हैं और जिन्हें किसी तरह के चालूपन से कलुषित न होने देने का जतन किया गया है। उनके आशय सर्वथा वेध्य हैं जैसे कि कवि भी और उन्हें इसकी रत्तीभर परवाह नहीं है कि लोग उन्हें किस कोटि या श्रेणी में रखेंगे। परवाह तो उन्हें इसकी भी नहीं लगती कि उनकी इन वागर्थ स्वल्प कविताओं का क्या हश्र होगा। अपने से और अपने किये-धरे से इस कदर बेपरवाह कवि कोई और हुआ है ऐसा आसानी से याद करना मुमकिन नहीं लगता। आधुनिकता में आत्मनिर्वासन, आत्म से पलायन, आत्म का दमन आदि अनेक प्रवृत्तियाँ सक्रिय रही हैं। पर अपने आत्म को ऐसा पारदर्शी बहुत कम बना सके हैं, कम से कम कविता में, "मैं स्वर्ग जाऊँगा, लेकिन अपना नरक ले जाऊँगाः अकेले नहीं जाऊँगा।"

नयी शताब्दी विशालता के आतंक से शुरू हुई हैः हमारे युद्ध, हमारे बाजार, हमारी आकांक्षाएँ, हमारी क्रूरताएँ, हमारी हिंसाएँ और क्रूरताएँ आदि सभी विशालायतन हैं। ऐसे आतंक में सब कुछ लगभग अनिवार्यतः बड़बोला हो गया लगता है। पोर्किया की कविताएँ अपनी अल्पता से इस आतंक का प्रतिरोध करने की एक नयी हिकमत बताती हैं हालाँकि ऐसा करना इस घोषित रूप से निरुद्देश्य इस कवि का कभी इरादा न रहा होगा। स्पैनिश भाषा और लातीनी अमरीका के एक बड़े कवि राबर्तो ख्वारोज को, जो कि पोर्किया के निकट आने वाले सम्भवतः एकमात्र बड़े साहित्यकार थे, लगा था कि पोर्किया को मन्दबुद्धि और ईर्ष्या के कारण उनके साहित्य को मान्यता न मिल पाने का कोई मलाल नहीं थाः "वे किसी भी चीज के लिए जल्दी में नहीं थे।" ख्वारोज यह भी बताते हैं कि जब हम उनके साथ होते थे तो उन्हें लगता था कि वे हर शब्द को, उनके असीम मनोयोग के चलते, गहराते हुए सुनते थे। पोर्किया के सुनने का ढंग उनके साथियों में गहराई उपजाता था। "जब वे बोलते थे तो लगता था कि वे दूसरी ओर से बोल रहे हैं जो कि फिर अत्यधिक निकट, इस ओर से निकटतर हो जाता था।" पोर्किया की कविताएँ पढ़ने के बाद ख्वारोज का यह कथन अप्रत्याशित नहीं लगता कि "हमें हमेशा लगता था कि हम किसी ऐसे की मौजूदगी में हैं जो एकान्त के लिए चुना गया है।" पोर्किया का एकान्त उन्हें दूसरों के साथ अधिक भरे-पूरेपन के साथ होने की इजाजत देता था और उनकी संगत में यह सीखा जा सकता था कि "एकान्त अलगाव का विलोम हो सकता है।"

1885 में इटली में पैदा हुए पोर्किया 1911 से 1968 में अपनी मृत्यु तक अर्जेंटीना में ही रहे और उन्होंने अपनी कविता स्पैनिश भाषा में लिखी। उनका सम्पूर्ण कृतित्व

कुछ लगभग 600 कविताओं का ही है। टोकनी बनाने से शुरू कर बन्दरगाह, प्रकाशनगृह में बरसों क्लर्की का काम कर अपना जीवनयापन करने वाले इस कवि का अधिकांश समय गरीबी और विपन्नता में बीता पर इस बारे में उन्होंने शायद ही कभी गिला-शिकवा किया हो। जो मकान उनके भाई ने दिया था वह बेचकर उन्हें छोटा मकान लेना पड़ा ताकि बचे हुए पैसों से कुछ दिन और गुजारा हो सके। लेकिन तब भी वे अपने सारे चित्र रखे रहे जो उनके चित्रकार मित्रों ने उन्हें भेंट किये थे (जिनमें से कई पिछली शती के सबसे महान अर्जेंटीनी चित्रकार थे)।

व्यक्ति और समाज का जो द्वन्द्व हिन्दी साहित्य-समाज में बहुत लोकप्रिय है, वह इस कविता के आगे अप्रासंगिक और ओछा लगता है। यह एक एकान्तिक की संघर्षगाथा का अनाटकीय सारसंक्षेप करती कविता है जिसे ऐसे किसी युग्म में बाँटना व्यर्थ और अनुचित होगा। उसमें मनुष्य की तकलीफ, दुख, नियति, बहुमार्गिता, अन्तर्विरोध, प्रेम, उम्मीद, विडम्बना आदि सब ऐसे गुंथे हैं कि उन्हें अलग-अलग कर देखना सम्भव नहीं रह जाता, न ही जरूरी। एक बेहद बड़बोले समय में ऐसी शान्त कविता अप्रत्याशित उपहार की तरह है जिसके लिए कम से कम मैं कृतज्ञता अनुभव करता हूँ: उसकी ईमानदारी, विनय और पारदर्शिता बेहद उजला और कुछ हमें भी उजला करता उपहार है।

(यात्रा बुक्स द्वारा हाल ही में प्रकाशित अन्तोनियो पोर्किया की अशोक वाजपेयी द्वारा रूपांतरित रचनाओं 'हम छाया तक नहीं' के सौजन्य से)

❑

डॉ. गंगाप्रसाद विमल

काव्यानुवाद

काव्यानुवाद एक ऐसा शब्द है जिसका उपयोग आजकल हम लोग बहुत ही सीमित अर्थ में, कविता मात्र के अनुवाद के रूप में करते हैं। काव्य अर्थात् साहित्य के सर्वांग के अनुवाद से हमारा प्रयोजन नहीं होता।

कविता का अनुवाद कवियों, काव्य-रसिकों, विद्वानों और अनुवादकों के बीच लंबे अर्से से विवाद का विषय बना हुआ है। कुछ लोग कविता के क्षेत्र में अनुवादक को घुसपैठिया मानते हैं तो कुछ लोग उसे 'परजीवी' कहते हैं क्योंकि सामान्य अनुवादकों की भाँति उसे मूल सृजनात्मक कृति का केवल भाषांतर करने वाला मानते हैं। इतालवी लोकोक्ति के मुताबिक तो 'अनुवादक एक गद्दार' है। कविता के अनुवादकों पर इतने आरोप लगाए गए हैं कि उन सबका संकलन एक दिलचस्प गाथा बन सकती है। विवाद के मूल कारणों में बद्धमूल धारणा यही है कि कविता की रचना अपने आप में एक अत्यंत रहस्यपूर्ण प्रक्रिया का परिणाम है। क्या अनुवादक उस अगोचर प्रक्रिया से ठीक उसी स्तर पर गुजरता है जिस स्तर पर रचनाकार गुजरा होगा? फलतः यह धारणा भी विकसित हुई है कि कविता का अनुवाद असंभव कार्य है। कविता के अनुवादक को निरुत्साहित करने की दिशा में भी बहुत कुछ कार्य हुआ है। फ्रांसीसी हलकों में आज भी कविता के अनुवाद को तिरस्कार की दृष्टि से देखने की परंपरा प्रचलित है।

काव्यानुवाद के क्षेत्र में विवाद और मतभेद का इतिहास शायद उतना ही पुराना है जितना पुराना स्वयं अनुवाद का कार्य है। आधिभौतिक आधारों पर तो कविता स्वयं ही किसी आदर्श कल्पना का शब्दानुवाद है। यह बहस छोड़ भी दी जाए तो इसमें संदेह नहीं कि प्राचीनतम काव्य संपदा को भाष्यों के द्वारा रूपांतरित किया जा रहा है। अतः अनुवाद का इतिहास केवल उन दो शताब्दियों की बहसों से शुरू नहीं होता जब भाषाओं के घनिष्ठ संपर्कों से अनुवाद की आवश्यकता का नया अध्याय आरंभ करते हुए कविता

के अनुवाद के बारे में कुछ संदेह सामने रखे। कविता के अनुवाद की परंपराएँ संस्कृतियों के इतिहास से जुड़ी हैं। इसीलिए कविता का अनुवाद केवल एक भाषा से दूसरी भाषा में भाषांतर या भाषिक स्थानांतरण नहीं है अपितु वह एक संस्कृति को दूसरी संस्कृति में प्रस्तुत करना है। यहीं से उन प्रश्नों का जन्म होता है जिसकी परिधि कुल मिलाकर इस बृहत प्रश्न में समाहित है कि क्या किसी संस्कृति का दूसरी संस्कृति में रूपायन संभव है? यदि एक सांस्कृतिक धारा को हम कल्पना में अर्धवृत मानकर चलें तो क्या दूसरा अर्धवृत पहले के समानुकूल हो सकता है? शायद ऐसा कल्पना में भी संभव नहीं है। किसी संस्कृति की पहचान उसके अपने आधारों द्वारा ही हो सकती है। दूसरी संस्कृति की समानुरूपता या तो उसे 'संकर' संस्कृति बना डालती है या पर-संस्कृतिकरण के द्वारा उसे मिश्रित संस्कृति के रूप में निर्मित कर डालती है। यहाँ ध्यान देने की जरूरत है कि समाहारात्मक संस्कृतियाँ वस्तुतः अपने बृहत मूल्य विधान में पर-संस्कृतियों के उस आधार को ही स्वीकार करती हैं जो कालांतर में छनकर मूल संस्कृति के ही समान रूप हो जाता है। अनुवाद के क्षेत्र में एक सांस्कृतिक इकाई की काव्य रचना दूसरी इकाई में तभी रूपांतरित हो सकती है जब कविता की 'वस्तु' और उसका 'रूप' सार्वभौमिक हो। इसलिए अधिकांश कविताओं में अनुवाद में समस्या यहीं आ खड़ी होती है कि कविता में सृजित उस मूल सांस्कृतिक इकाई की वस्तु क्या इतनी सार्वजनिक है कि वह दूसरी सांस्कृतिक इकाई में स्पष्ट रूप से अभिव्यक्ति पा ले। तब उस अनूदित सामग्री (जिसे हम कविता मानते हैं) और सामान्य कथन में कोई बड़ा अंतर नहीं है जिसका प्रयोग संप्रेषण के लिए हम नित्यप्रति करते हैं। कविता के बारे में, संसार भर में यह धारणा प्रचलित है कि वह सामान्य से हटकर 'असाधारण' अभिव्यक्ति है। सामान्य से सामान्य 'काव्योक्ति' में असाधारण की उपस्थिति का कोई न कोई प्रयत्न अवश्य मिलेगा -- चाहे वह कथन के 'वस्तु विधान' में असाधारण हो या कोई शैल्पिक चमत्कृति दे। कविता के बारे में प्रचलित इस विश्वास को ''भाषा के साथ खिलवाड़'' करने वाली व्यंग्य कविता ने भी सुरक्षित रखा और उस कविता ने भी जो 'असंगत' को अपना विषय और लक्ष्य मानती है। कविता की यह असाधारणता जहाँ किसी एक श्रेष्ठ कवि या कवित्व का निर्माण करती है वहीं परंपरा की लीक से हटने वाली अपरंपरा की परिपाटी भी चला देती है। इस तरह कविता ही है जो अपने पूर्व विधान को तोड़ती हुई भी अपनी भाषिक-स्थिति की उच्चता को स्थापित करती है। कवि अरविंद कविता के इस उच्चताबोधक कर्म के बहुत बड़े समर्थक थे। उन्होंने एक स्थान पर लिखा है -- For neither the intelligence, the imagination, nor ear are the true recipients of the poetic delight.

इससे यह प्रश्न उभरता है कि क्या कविता केवल शब्द से उत्पन्न होने वाले नाद का सौंदर्य है क्योंकि अधिकांश गीतात्मक कविताओं में हम 'शब्द विन्यास' के नाद सौंदर्य को ही कविता मानते हैं। जाहिर है कि एक भाषा की शाब्दिक नादमयता को दूसरी भाषा में उतारना संभव नहीं है। अतः यह तो स्पष्ट है कि कविता में शब्द की लयात्मकता संपूर्ण रूप में कविता नहीं है। लयात्मकता और कविता का संगीत दो भिन्न चीजें हैं। जो लोग मध्यकालीन कविता की 'गेयता' को संगीत मानते हैं उन्हें 'संगीत' के क.ख.ग. से स्वयं को दो चार कर लेना चाहिए। मसलन मीरा और कबीर के संगीत विधान में जमीन-आसमान का अंतर है -- ऐसा तथाकथित संगीत रसिक कहीं कहते नहीं पाए जाते। वे मीरा के 'राग विधान' के ऊपरी ढाँचे को संगीत मान लेते हैं। ऊपरी ढाँचे में दूसरी भाषा में भी संगीत की कुछ राग संज्ञाओं को रूपांतरित किया जा सकता है। 'हरे राम' की संज्ञा प्रधान भक्तिमय पंक्ति को जार्ज हैरिसन ने एक नए राग में रूपांतरित कर दिया। भक्ति की आवेगात्मकता जहाँ स्वरात्मक लय प्रधान विन्यास में संभव है वहीं उसे राग प्रधान किसी बेहद कारुणिक और छंद गेयता में सुरक्षित रखा जा सकता है अर्थात् राम में किसी एक आवेग की रूपांतरण प्रक्रिया संगीतात्मक अनुवाद है और यह कोई सिद्धहस्त संगीतविज्ञ ही कर सकता है। परंतु कविता में निबद्ध संगीत केवल लय की ही अंतर्धाराओं में प्रवाहित होता हो -- यह सच नहीं है। इस अर्थ में तो समग्र तुकांत कविता को, तमाम गीतों को संगीत प्रधान काव्य मानना पड़ेगा। गेयता शब्दों के विन्यास की एक प्रकृति है...उसे किसी भी आसान विनियोजन से संपन्न किया जा सकता है किंतु गेयता में कवित्व सुरक्षित रह सकेगा यह कहना आसान नहीं है। कबीर ने जनचित्त को जिस संगीत का अनुभावन दिया है -- उसे उदाहरण मानें तो कहना पड़ेगा कि भाव या विचार की आंतरिक आबद्धता अर्थ से भी परे जिस प्रतीति को स्पष्ट करती है वह उसका संगीत रूपाकार है। कविता के अनुवाद में हम शब्दों का अनुवाद आसानी से कर सकते हैं। आसानी से ही हम किसी गेय विन्यास को भी तुकांतवादी शाब्दिक अनुक्रम में रूपांतरित कर सकते हैं। परंतु जैसा अरविंद ने कहा है कान या दूसरे यंत्र इतना पा जाने पर भी कविता के उस आह्लाद को नहीं पा सकते। अर्थ की भित्तियों के भीतर कविता का मूल प्रयोजन छिपा रहता है जिसे हम उस अतिरिक्त संगीत के माध्यम से पकड़ते हैं जो कविता देना चाहती है।

कुछ उदाहरण लिए जाएँ। नीदरलैंड्स के कवि निआउफ की एक प्रसिद्ध कविता है ''द सोल्जर हू नेल्ड द क्राइस्ट''। संसार के बहुत से अनुवादकों ने इस कविता का अनुवाद किया है। धर्मवीर भारती ने 'देशांतर' में शायद पहली बार हिंदी में उसे प्रस्तुत

किया था। उसके बाद तीन दूसरे अनुवादकों ने उसका अनुवाद किया था। भारती के काव्यानुवाद में मुख्य आधार यीशु ही क्षमा के रूप में व्यक्त होता है; अँग्रेजी अनुवाद में यीशु की क्षमा ही ज्यादा उभरती है। परंतु दूसरे अनुवादों में कहीं 'सैनिक के मन की आत्मग्लानि' और कहीं यीशु की करुणा का भाव उभरता है। काव्य पंक्तियों में आवेग की जो लहर किसी एक अनुवादक ने अपने अर्थ के निकट पाई -- उसी का विस्तार जैसे यहाँ भिन्न अनुवादों में मिलता है। एक ईसाई के लिए यीशु का अर्थ बिलकुल भिन्न है, जैसे एक कृष्णभक्त के लिए लीलाकारी कृष्ण का। यहाँ भिन्न-भिन्न धार्मिक आस्थाओं के यह प्रसंग छोड़ भी दें तो भी अनुवाद में उभरने वाला मुख्यार्थ अरूप भाव संसार को रूप देने वाला तर्क बहुधा अनुवादक पर ही निर्भर करता है लेकिन यह कहकर अनुवादक को छूट नहीं दी जा सकती कि वह अराजक होकर अपने ही विश्वासों को थोप डाले। मूल कवि के भाव-संसार से परे जाकर कविता का अनुवाद करना अपराध है। यह हत्या से कम गंभीर अपराध नहीं माना जाना चाहिए क्योंकि एक संस्कृति का गलत प्रतिनिधित्व करने की तस्करीवृत्ति बहुत ही भयंकर होती है -- वह भयंकर परिणाम भी ला सकती है। इसमें संदेह नहीं कि कविता न केवल भाषानुवाद होती है और न ही भावानुवाद मात्र। भावानुवाद के रूप में अपने काव्य विवेक की दुहाई लेकर अनुवादक कवि को मूल कविता की भ्रष्ट व्याख्या करने की छूट भी नहीं दी जा सकती। निकोलस गिएन की इस्पहानी कविताओं की भूमि क्रांति के उपरांत नव-निर्माण के प्रयत्न में लगे अपने देश की भाव ऊष्मा है -- उसे किसी प्रतिक्रियावादी शासन तंत्र की स्वाधीनता कामना के संदर्भ में व्याख्यायित नहीं किया जा सकता। यह कहने का मेरा तात्पर्य केवल इतना है कि अनुवादक को कविता के 'मूल' स्वरूप के विभिन्न आयामों का परिज्ञान अनिवार्य है।

उपर्युक्त कथन में एक बात यह भी स्पष्ट हो जानी चाहिए कि कविता का अनुवाद कवि को ही करना चाहिए क्योंकि कविता की रचना-प्रक्रिया की कुछ जटिलताओं को केवल कोई कवि ही समझ सकता है। कोई प्रख्यात भाषाविद् 'भाषा' की आंतरिक बनावट अवश्य जानता होगा परंतु वह कविता के उस 'अगोचर' से भी परिचित होगा जो रचना-प्रक्रिया का गोपनीय है -- इस पर संदेह हो सकता है। मैं दुस्साहस के रूप में यह कहने की अनुमति भी चाहता हूँ कि मूल भाषा और लक्षित भाषा का पांडित्य उपलब्ध हो सके तो सोने में सुहागा; किंतु केवल पांडित्य से कविता का अनुवाद संभव है -- इससे मेरा मतभेद है। कविता समझने के लिए भाषा का जो ज्ञान अपेक्षित है शायद कभी-कभी उसके लिए एक जीवन भी कम है। परंतु एक सुकवि जो अपनी भाषा पर अधिकार रखता है -- वह किसी भी भाषा की कविता को किसी अन्य भाषा में पढ़कर उसी

रसपूर्ण स्थिति का पुनः सृजन कर सकता है -- कविता के मूल प्रयोजन को लक्षित कर अपनी भाषा में उसके मूल कथन को रूपांतरित कर सकता है परंतु यह अपेक्षा रखना कि वह पहले एक जीवन मूल भाषा में खर्च करे -- यह अनिवार्य वृत्ति नहीं माननी चाहिए।

इस बात पर विवाद नहीं हो सकता है कि भाषा का अज्ञान क्षम्य है, परंतु भाषा का ज्ञान ही अनुवाद की प्राथमिक शर्त हो -- यह कह कर हम दुनिया के प्रख्यात कवियों के अनुवाद को खारिज कर देते हैं।

अनुवाद की कुछ बहुत ही स्थूल समस्याएँ हैं जिनकी चर्चा आए दिन होती है। अनुवाद भारत के संदर्भ में एक अनिवार्य सांस्कृतिक आचरण है। यह कहने का अर्थ केवल यह है कि अनुवाद कविता के संदर्भ में भारत की प्राचीनतम परिपाटी है। अतः अनुवाद के इस लंबे इतिहास में समस्याओं के बहुत से आधारों का निराकरण भी हुआ है। समस्याएँ आती हैं। मुख्य रूप से दूसरी संस्कृतियों के संदर्भ में दो संस्कृतियों के बीच अनुवाद एक तरह की रचनात्मक मुठभेड़ है। परंतु कुछ कविताएँ सभी संस्कृतियों में एक-सी होती हैं -- उनमें अनुवाद की शायद ही कोई समस्या खड़ी होती होगी। क्रांति, स्वतंत्रता, प्यार और देश-प्रेम की कविताएँ अपने काव्य-विन्यास में सभी संस्कृतियों में एक किस्म के भावोच्छवास की अभिव्यक्तियाँ हैं। मेरा लक्ष्य कविता के अनुवाद में समस्याओं को उजागर करना उतना नहीं जितना यह स्पष्ट करना है कि इस असंभव, अद्वितीय और अयश के कार्य में जोखिम ही जोखिम हैं, और इन जोखिमों का सामना कोई सिरफिरा ही कर सकता है।

क्या सचमुच कविता का अनुवाद सिरफिरों का काम है? आप ही निर्णय करें। ❑

Dr. Ravi S. Varma

Translation of Poetry

Translation of a literary work is a difficult art because ideas can be translated but not the words and their associations. But the translation of such works is as old as original authorship and has a history as honourable and as complex as that of any other branch of literature. Translation of poetry is all the more elusive because a poem is an amalgamation of ideas, feelings, colour, expression and style. To Victor Hugo a translation in verse seems something absurd and impossible. Heine condemns it is straw plaiting sunbeams. But we must remember all translation is a compromise — the effort to be literal and an effort to be idiometic. It is a kind of illusion and that translation is the best in which the illusion is most complete and the idiom least suggestive of translation. The prime merit of a translation is faithfulness which is achieved by the wedding of words and thought. It need not be literal and exact but must attempt at capturing the spirit of the original. In the words of Tytler a good translation is one in which the merit of the original work is so completely transfused into another language, as distinctly apprehended and as strongly felt by a native of the country to which that language belongs, as it is by those who speak the language of the original work.

The Principles :

The principles of translation are heterogenous and no universally accepted principles exist because the persons competent and capable of formulating them have not seen eye to eye in this matter. However, Tytler's 'An Essay on the Principles of Translation' is the first work which systematically discusses the principles of translation of poetry. He enunciates the following three principles:

(i) The translation should give a complete transcript of the ideas of the original work;

Reader and head, Department of Humanities, M.R. Engineerig Collego, Jaipur-302017

(ii) The style and manner of writing should be of the same character with that of the original; and

(iii) The translation should have all the ease of original composition.

To be able to give a complete transcript of the ideas of the original work, the translator must have an equal command of the two languages, better if he is more proficient in the target language. A word in one language seldom has a precise equivalent in another one, therefore, the translator should endeavour to enter the spirit of the original rather than render word for word. In that case the result will be uncouth. He should also refrain from altering anything or changing for then he will be departing from the function of a translator. Ben Johnson's translation of Ovid's metamorphoses and Fanshaw's translation of Pastor Fido meticulously follow this principle. They read like the original. Praising the latter, Sir John Denham says:

> They but preserve the ashes, thou the flame
> True to his sense, but truer to his fame.

The second principle stresses the need for absorbing the style of the original because forgoing the style for the sake of exact rendering of the idea of the original is not acceptable to many. In poetry words, meter and style contribute to the perfection of the poetic emotion and it is difficult to render them in another language. It is why Dr. Johnson says that poetry can not be translated. Voltaire also holds the same view and asks, 'Can you translate music?' But poetry has been translated because those who cannot approach the original feel amply rewarded with a near substitute. The translator should carefully reconstruct the spirit of poetry in another language. He can take some liberty in conveying the sense but need not paraphrase it in prose because a prose translation of poetry is most absurd. It is better if the translator himself is a poet in his own language and endeavours not only to say what his poet has said, but *to* say it as he has, said it. Matthew Arnold has rightly said that the style is the expression of the nobility of the poet's character, as the matter is the expression of the richness of his mind. The translator, therefore, should aim to retain every peculiarity of the original, so far as he is able, with the greater care the more foreign it may happen to be so that it may never be forgotten that he is imitating and imitating in a different material, The translator's first duty is a historical one to be faithful. The translator should produce more or less the same effect and give the same delight which the reading of the work in original language would afford any reader familiar with the foreign language. And this peculiar effect of a poet resides in his manner and movement and not in his words taken separately. The translator, therefore, is expected to express the poetic transfusion of a poetic spirit and the ideas and images of the original from one language to another in a form perfectly adapted to the new social and

cultural contexts. The translation should correspond with the original in the strength of rhythmic structure, in force of expression, in musical modulation, and in mastery of language — the external character of the verse — as well as the rare interior qualities of imagination and of spiritual discernment.

Tytler's third principle says that the translation should have all the ease of original composition. It is a very difficult task, considering the constraints under which a translator has to work. He is not allowed to copy the touches of the original, yet is required by touches of his own, to produce a perfect resemblance. It is much like dancing on ropes with fattered legs. To accomplish this difficult task of fidelity with ease, he must adopt the very soul of his author which must speak through his own organs.

Emphasising the same point, Matthew Arnold advises the translator to establish a union with his original; and this union takes place when the mist that stands between the translator and the alien modes of thinking, speaking and feeling gives place to a pure transparency. If a translator fails to do this he is likely to present the original through a distorting medium or exhibit him in a garb that is unsuitable to his character. For the sake of maintaining ease and facility of the original Fitzgerald suggests that the translator must recast the original into his own likeness. The live dog is better then the dead lion.

The Problems :

All translation presents problems which the translator has to resolve satisfactorily if he wishes to pass muster; but the translation of poetry where the content and the form are inextricably blended is a veritable challenges which calls forth an exceptional calibre and talent.

Poetry arouses emotions and enjoys a place of prestige among the literary genres, so more creative genius is expected of a translator. The problems it present are multi-dimensional and multi-layered. They involve contact of two languages, the poetic sensibility of the translator, poetic excellence of the original and its creative transference. In this process the translator, unconsciously projects his own personality in the translated work. In a way he pours his own wine into the original wares. The translation reflects his genius, craft and personality. This can be seen in the three translations of Homer by Dryden. Pope and Cowper. *'Rubaiyats of Omar Khayyam'* have been rendered into Hindi by Keshav Prasad Pathak, Maithilisharan Gupta, Bachchan and Sumitranandan Pant but they widely differ in the choice of diction and the texture of the poem. Compare the following English and Hindi translations of one Basho's Japanese Hai-Ku:

(i) The ancient pond
A frog jumps in
The sound of the water (Donald Cone)

(ii) There is the old pond
Lo, into it jumps a frog
Hark, water's music (I. J. Dryn)

(iii) The old pond
A frog jumps in
The sound of the water (Blyth)

(iv) Breaking the silence
of an ancient pond
A frog jumps into water
A deep resonance (Nobrayuki yuase)

(It deviates too much from the original and is tantamount to its paraphrase.)

(a) ताल पुराना
कूदा दादुर
...गुडुप

—Agyeya

(Later on he replaced the third line by पानी का स्वर but the earlier version remains more effective)

(b) ताल पुराना निर्वाक --
जल थर-थर -- गहर
मेंढ़क की उवाक।

—Aditya Pratap Singh

(c) ओह, पुराना गड्ढा --
और पानी की आवाज
जबकि मेंढक उसमें उछाल मारता है।

—Dr. Bharat Singh Upadhyaya

(d) पुराना ताल
मेंढक कूदता है
पानी की आवाज।

—Satya Bhushan Verma

We cannot approach poetry objectively, the subjective element is bound to come and this affects the quality of the translation. As a connoisseur the translator decodes and interprets a poem, absorbs its message and then codifies it in his own language, in his own manner. Shelley feels that the original poem just supplies the seed (or the central idea) to the translator who invests it with a stem, branches, foliage and fruit from out of his own

creative imagination. Dryden calls it imitation. Here the translation becomes a recreation of the original. And as a creative artist the translator has to search for appropriate means to faithfully communicate the spirit of the original. For this he has to put himself in place of the original poet and vicariously undergo the same experience. His success depends on the degree of assimilation he achieves. He must create a poem based on the ideas of the original.

Poetic language presents another problem because it is marked by imagery, witticism, conceits, splendour, symbolic nuances, and is often suggestive and allegorical, It is difficult to preserve all these niceties of language in translation. The translator must have a keen critical insight and must make a thorough going comparative study of the two languages. To reproduce the imagery of the original, he carefully selects words which arouse the same reaction in the reader as the original. Sometimes he translates the imagery literally and at others expresses it as a simile. He may also convey the sense in the target language, if the above means do not came in handy. Jagdish Sarita's translation of Dr. Sudhesh's Hindi poem is nearer the original and yet preserves all the nuances of the language :

बाज़ कबूतर
और कबूतर बाज़ बने हैं
रातों रात
अब शिकार के नियम
अचानक बदल गए हैं।

Overnight
The hawks turned doves
And the doves hawks
Overnight
The rules of the game
Underwent matamorphosis.

—Jagdish Sarita

(Here the phrases have been used very artistically)

Translation, in a related language is far simpler: e.g.

वह चिड़िया
जो बनाती थी नीड़
प्रति वर्ष मेरे घर में
इस बार गई कहाँ?

—Ajeet Kumar

has been translated into Punjabi by Bina Gautam as :

औ चिड़ी
जेड़ी बनांदी सी घोंसला
हर साल मेरे घर विच
एस वारी गई कित्थे?

In many Europeon countries and in China this problem has been solved by the cooperation of a poet/translator and a linguist. The linguist explains the literal meaning, structure, rhythm and rhyme of the poem and also supplies necessary background details. Then the poet makes the translation in his language.

Figures of speech, rhythm and lyricism also present a problem. However, some translators have been endowed with such fine sensibility that they have beautifully copied them in their translations. Ram Chandra Shukla has translated Arnold's *Light of Asia* under the title 'Buddha Charitra' and has used the same figures of speach as the original and yet his translation reads as an original composition. Mahavir Prasad Dwivedi has used the same metre in his translation of Sanskrit works. Fitzgerald also has successfully maintained the rhythm and lyricism of the original using the same meter. In his Rubaiyat, the first, the second and the third lines rhyme together and all the four lines of the quatrain have an equal number of syllable. But these are rather exceptions. Generally the metrical translation makes a force of the original and a rhymed translation is often ridiculous. Very often the translator uses blank verse for his translation because here he can follow the structure, the rhythm and the pauses of the original without slavishly copying its metrical structure. In his English translation of *Gitanjali*, Tagore has used poetic prose instead of rhymed verse of the original Bengali.

Language is a culture-bound phenomenon. If the two languages have different cultural backgrounds, the translator has to yet another problem. A word exists in the cultural and historical perspective of the users and a whole tradition is associated with it. Culture lends special signification to words which can be discovered only by extensive reading and critical attention. It is very difficult to find an exact equivalent of a word in another language which has a different cultural background. Here the translator has to explain the cultural significance of such a word in a footnote. Religious customs and ceremonies, poetic fancies mythological allusion, archiltypal images and philosophical concepts also pose a similar problem. In his English translation of Anantamurty's Kannada novel *Sanskar*, Prof. Ramanujan has not used this word even once, but has translated it as 'culture', 'discipline', 'history' or 'rite' depending upon the context.

The translator has to face two more problems. How far is he free to add something to the original text by way of explanation? Should he initate

the obscurity or ambiguity of the original to be faithful to it? Regarding the first problem, Tytler categorically says that if "The super-added idea shall have the most necessary connection with the original thought and actually increase its force", the translator can do so. He also permits him to cut off any idea which is only an accessory and not a principal clause or sentence. Here a translator may exercise his judgement and assume the role of an original writer. As a rule nothing of real importance be omitted and the additions must be as insignificant as possible, and should in no way obstruct the continuity of the poem.

In the following quatrain, Fizgerald has omitted the expression 'Paradise where the glories reside and grape wine is good'; which appears in Khyyam's original poem and has added 'glories of this world', but this change does not diminish the value of the translation :

Some for the Glories of this world; and some
Sigh for the Prophet's Paradies to come
Ah, take the Cash, and let the Credit go
Nor heed the rumble of a distant Drum!

In another rubayat :

But helpless Pieces of the Game he plays
Upon this chequer-board of Nights and Days,
Hither and thither moves, and checks and slays
And one by one back in the closet lays.

He has beautiful used the imagery of a game of chess instead of game of puppets of the original.

In his translation of D.H. Lawrence's short poem 'The Breath of Life', Dinkar has added the following lines :

हरियाली से भरी कोई मर्म टहनी
जिस पर पावक का फूल खिला होता है।

They do not in any way obstruct the flow of the ideas but enhance the beauty of the Hindi translation.

As for the second problem, Tytler says, 'To imitate the obscurity or ambiguity of the original is a fault. When the meaning of an author is doubtful, and where more than one meaning can be given to the same, passage or expression, the translator is called upon to exercise his judgement and to select the meaning which is most consonant to the train of thought in the whole passage, or to the author's usual mode of thinking, and of expressing himself."

Style of a poet presents another problem in the translation of poetry. Indifference towards style is considered a lapse on the part of translator. Pope is guilty of this lapse in his translation of Homer. He has used English

heroic couplets insted of Homer's haxameters and his language is often hyperbolic. This prompted Bentely to marks, 'It is a pretty poem, Mr. Pope, but you must not call it Homer." If the translator deviates from the style of the original he may not only fail to capture the spirit of the original but may also render it too vague and obscure to understand. In the hands of an undiscerning translator the grand style of the original becomes heavy and formal, the elevated swells into bombast, the lively froths up into the petulent and the simple degenerates into childish and insipid. Copying the style of the original and keeping the spirit and sense intact in translation involves creative activity of the highest calibre supported by long practice.

Psychology play a much greater part in moulding a translator's attitude and consequently his translation. The translator should override the psychological pressure of the original and should not hesitate to excell him, if possible. Fitzgerald, who immortalised Omar Khayyam seems to be overawed by him when he says, all such lyrics require a better poet then I am, to set them in English'. National character and peculiarities of a nation's mental make-up unwittingly influence the work of the translator. Omar Khayyam was a metaphysician, an astronomer and mathematician and a moralist held in high esteem. He was an intellectual of high order and a nationlist who loved his culture and history. But Fitzgerald's translation of his Rybaiyats paint him as a hedonist and a debauch sunk in his cups.

Lastly, we would like to allude to the problem of translations made from secondary texts i.e. translations of translations. Most of the Hindi translations texts of European literature have been made through English. Naturally, this must have aggravated the losses, shifts and distoration which are so inevitable in translation. But we have no means of verifying how far they might have deviated from the original unless the translation are made direct from those languages.

We may point out a misconception from which most people suffer viz. that a poet can be a good translator of his own works but this is not always the case. In his English translation of *Gitanjali*, Tagore has replaced certain poems of the Bengali edition by the original English once because he finds them untranslatable.

Dr. Sarojini pritam has translated her own satirical poems from Hindi into English but feels that in translation the humour change into sneer and sense and satire both disappear e.g.

प्यार अंधा होता है इसलिए
नेत्रदान कीजिए।
Love is blind
Donate eyes
for the benefit of mankind.

Agyeya has also translated some of his poems from Hindi into English.

Dr. Bina Srivastava has compared his English translation of मैंने देखा, एक बूँद (I saw a Drop) with the original in Hindi and comments that the English translation falls short at the levels of sound, texture, choice of diction and symbolic nuances. The English equivalents blur the philosophical implications of the original Hindi poem. I quote below two Hindi translation of the following quatrain:

For long in her separation I did weep
And emptied out my eyes large and deep
The cozy company I used to keep
Was no more when I woke from sleep.

(a) वक्त के साथ हो गए सहरा
ये नयन थे सरोवरों जैसे
जो कभी मेरे साथ थे गुज़रे
दिन थे वे मोर के परों जैसे।

(b) तुम्हारे विरह में आँसू बहाते
सूख गईं ये गहरी आँखें
छूट गया मधु आँचल तुम्हारा
खुली जब नींद से भारी आँखें।

Version (a) is by the poet Suresh Singla himself and version (b) is by the writer of this paper. I leave up to you to judge the merit of the two versions.

Conclusion

In this paper I have discussed some principles and problems of translation of poetry. I have also suggested solutions of these problems but we must remember that it is not the words but their associations, their echoes that make a poem. The elegance and splendour of the poetic language is bound to be lost in the process of translation. Denham rightly says that 'poetry is of so subtle a spirit, that in pouring out of one language into another, it will all evaporate'. Translation of poetry is indeed a very complex activity and to penetrate the original to its depths from all points of view is an imperative necessity for the translator. He has to absorb not only its content but also its form, and has to feel and live in all its specific references. He must also have a flair or inspiration for interpreting it in another language. The translation is a parallel recreation of the original or a literary resurrection as Ezra Pound calls it.

But we would like to stress that translation is one of the most significant channels and forms through which inter-literary process finds expression. A good translation takes us a very long way and often help great works to be created.

❑

डॉ. भोलानाथ तिवारी

कविताओं का अनुवाद

प्रश्न यह है कि क्या कविता का अनुवाद हो सकता है? इसकी सर्वप्रथम प्रतिक्रिया यह होती है कि क्या कविता का अनुवाद होता है। यदि कविता का अनुवाद होता है, हुआ है, होता आया है और होता रह सकता है तो कविता का अनुवाद हो सकता है। जो नहीं हो सकता, वह हो ही नहीं सकता और जो हुआ है वह निश्चित रूप से हो सकता है। और, कविताओं के एवं कविता-पुस्तकों के अनुवाद हुए हैं। अतः यह बात तर्कसम्मत हुई कि कविता का अनुवाद हो सकता है।

तब दूसरा प्रश्न यह उठता है कि कविता का अनुवाद किस तरह का हुआ है, कहाँ तक हुआ है, और कहाँ तक सफल हुआ है। इस प्रश्न पर जरा फिर उसी ढंग से विचार कीजिए। अंग्रेजी कवि फिट्ज्जेराल्ड ने उमर खैयाम की रूबाइयों के अनुवाद किए और वह इतना सफल एवं लोकप्रिय हुआ कि उमर खैयाम को चार चाँद लग गए। विश्व ने अधिकतर इसी अनुवाद के माध्यम से उमर को पहचाना। मैथ्यू ऑर्नल्ड ने सोहराब और रुस्तम की कथा पर काव्य लिखा, पं. रामचंद्र शुक्ल ने 'लाइट ऑफ एशिया' का 'बुद्ध चरित' के नाम से अनुवाद किया, कवि श्री मैथिलीशरण गुप्त ने माइकेल मधुसूदन दत्त की काव्य पुस्तक का 'मेघनाद वध' के रूप में अनुवाद किया, महादेवी ने आर्षमंत्रों के अनुवाद किए, आदि। ये काव्यानुवाद हैं और इनकी सफलता असंदिग्ध है।

अस्तु, प्रश्न केवल 'किस तरह' का और 'कहाँ तक' का रह जाता है। इस संबंध में जो बात मैं सबसे पहले कहना चाहता हूँ वह यह है कि अनुवाद यदि नहीं हो सकता है तो वह गद्य का भी नहीं हो सकता और पद्य या कविता का भी नहीं हो सकता। जहाँ तक मैं समझ सका हूँ, अनुवाद सदैव भाव और अर्थ का ही होता है -- शब्द का तो नहीं ही होता। वाक्यों के स्वरूप और वाक्यों की शैली का भी नहीं

होता। इसमें भावों, विचारों एवं अर्थों के बिंब ही प्रतिबिंबित किए जाते हैं। मैं अभी गद्य की ही बात कर रहा हूँ। स्कूली अनुवादों को छोड़ दें, तो जहाँ से शब्द विशेष के साथ विशिष्ट छवियाँ या प्रतिच्छायाएँ लगनी प्रारंभ हुईं वहीं अनुवाद शब्दानुवाद के जड़ स्वरूप से हटने लगता है। यह स्थिति विभक्तियों, क्रिया-पदों, लोकोक्तियों और मुहावरों के अनुवाद में भी आती है। 'ही वाज़ टेकन बाई सरप्राइज' या 'दि डेक्वायट्स ओवॅर्पावर्ड दि नाइट वाचमैन' का अनुवाद करें। 'टेकेन बाई सरप्राइज', 'ओवॅर्पावर्ड' और 'नाइट वाचमैन' का शब्दानुवाद न होकर, भावानुवाद या अर्थानुवाद ही होगा। 'माइ हेड इज ईटिंग सरकिल' की हास्यास्पदता के पीछे यह गंभीर तत्त्व है। विज्ञान की एक पुस्तक के अनुवाद के समय कई बार उसके मूल लेखक ने मुझसे 'शेड ऑफ मीनिंग' के आधार पर शब्द बदलवा दिए। 'डिस्कवरी' का अनुवाद 'कहानी' किया गया है। और वह भी पं. जवाहरलाल नेहरू के समर्थन एवं सुझाव पर। इस प्रकार जब गद्यानुवाद की यह अवस्था है तब पद्यानुवाद या कविता के अनुवाद में भाषा तो गौण हो ही जाएगी।

काव्यकला के दो पक्ष हैं -- कला-पक्ष और भाव-पक्ष। कलापक्ष का संबंध वर्ण, वर्णमैत्री, वृत्ति, शब्द, शब्दालंकार, छंद आदि से होता है। यह एक सत्य है कि इन सबका अनुवाद नहीं हो सकेगा। अंग्रेजी या फारसी-अरबी उतने छंद कहाँ से लाएँगी, जितने संस्कृत में हैं या हिंदी में हैं और फिर यह व्यवस्था कैसे हो सकेगी कि अमुक रस या भाव के अमुक छंद ही उचित हों। हमारे संगीत का स्वरूप और उनके म्यूजिक की साज-सज्जाएँ सांस्कृतिक कारणों से परस्पर भिन्न हैं। अस्तु, सूर के पद ''बरसै मेहा मंद मंद, कुसुँभी चीर अंग पै भीजै निरखि हँसे नंद नंद'' का अनुवाद अंग्रेजी में इस पद के राग मल्हार में ही करवाना चाहें तो कैसे हो सकेगा। इसी प्रकार ''बद्दलन बुंदन बिलोकौ बगुलान बाग बंगलानबेलिन बहार बरखा की है'' का इसी रिदम और इसी अनुप्रास के सौंदर्य से अनुवाद कैसे हो सकेगा! इसी प्रकार ''देवः पतिर्विदुषि! नैषध राजगत्या'' का अनुवाद करते समय कोई अन्य भाषा संधि एवं शब्दशक्ति से उद्‌भूत वह क्षमता अपने अनुवाद की भाषा के शब्दों में कहाँ से ला सकेगी जिसके अनुसार 'नैषधराजगत्या' का अर्थ नल, इंद्र, अग्नि, यम और वरुण हो जाता है। अनुवाद स्थूल या मूर्त सौंदर्य का नहीं हो सकता।

इस संबंध में ध्यान देने की बात और है। आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में से किसी एक भाषा की कविता का इसी वर्ग की किसी दूसरी भाषा में अनुवाद करते समय यह बाह्य या मूर्त्त या स्थूल सौंदर्य किसी सीमा तक तो लाया भी जा सकता है किंतु जब द्रविड़ भाषाओं की कविताओं का किसी आर्य भाषा में अनुवाद करने लगेंगे तब इतना भी नहीं हो सकेगा और जब चीनी या जापानी आदि की कविता अनूदित

करने लगेंगे तब तो बिलकुल ही न हो सकेगा। कारण यह है कि संस्कृत मध्यकालीन या आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं के संस्कारों की भाषा है; द्रविड़ भाषाओं की मित्र अतएव पारस्परिक संबंधों वाली भाषा है किंतु अन्य परिवार वाली भाषाओं से तो उसका कोई भी संबंध नहीं। परिणामतः संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश की कविताओं के हिंदी-अनुवाद में यह बाह्य बहुत कुछ लाया जा सकता है। देखिए :

1. संस्कृत : ललित लवंग लता परिशीलन कोमल मलय शरीरे
मधुकर निकर करंवित कोकिल कूजित कुँज कुटीरे
विहरति हरिरिह सरस वसंते
नृत्यति जुवति जनेन समं सखि विरहि जनस्य दुरंते।

हिंदी अनुवाद : छाया सरस बसंत विपिन में, करते श्याम विहार
युवति जनों के संग रास रच करते श्याम विहार
ललित लवंग लताएँ छूकर बहता मलय शरीर
अलि संकुल पिक के कूजन से मुखरित कुंज कुटीर
विरहि जनों के हित दुरंत इस ऋतुपति का संचार
करते श्याम विहार।

× × × ×

2. प्राकृत : जावण कोस विकास पावइ ईदसी मालई कलिआ
मअरंद पाण लोहिल्ल अमर तावच्चिअ मलेसि

संस्कृत अनुवाद : यावन्न कोष विकासं प्राप्नोतीष मालती कालिका
मकरंद पान लोभयुक्त भ्रमर तावदेव मर्दयसि।

× × × ×

3. अपभ्रंश : भल्ला हुआ जौ मारिआ बहिणि महारा कंतु

हिंदी अनुवाद : भला हुओ जो मारिया बहिन हमारा कंत

× × × ×

इन अनुवादों में शब्द प्रायः वे ही हैं। कहीं-कहीं तो केवल ध्वनि परिवर्तन मात्र से काम चल जाता है।

4. मराठी : आला आषाढ़ श्रावण
आल्या पावसांच्या सरी

हिंदी : आया आषाढ़ सावन
आई पावस की झड़ी

× × × ×

5. बंगला : आमार तूणीरे आछे शत शत मरणेर शर

हिंदी : मेरे तूणीर में है मरण के शत शत तीर।

जब उन भाषाओं की कविताओं का अनुवाद करना होगा जिनका हमसे इस प्रकार का कोई संबंध नहीं, तब काव्यानुवाद में बाह्य रूप की छाया तक न मिल पाएगी। भाव पक्ष का अनुवाद, जिसमें अर्थ से लेकर कल्पना के बिंब एवं चित्र तक सभी आ जाते हैं, अवश्य हो सकेगा। आवश्यकता तो मूल से अभेद स्थापन की है -- तादात्म्य की अनुभूति की है। यह तादात्म्य देश-काल के व्यवधान को पार कर जाता है एवं विशुद्ध अनुभूति-लोक में ले जाता है। ऐसे अनुवाद में एक कवि की अनुभूति दूसरे कवि की अनुभूति-वाटिका में विहार करती हुई एवं वहाँ के रस में पगती हुई, सौंदर्य में डूबती हुई और प्रेम रस में छक-छक कर आत्मविभोर होती हुई ब्रह्मा के कमंडल से निःसृत देवापगा जैसी सरसती है। यह अनुवाद कुछ-कुछ उसी प्रकार का होता है जैसे वामन के चरणों को पखारने वाला ब्रह्म-द्रव्य। यह जन भाव या अनुभूति माना जा सकता है। प्रथम कवि ब्रह्मा-सा है, अनुवादक शिव एवं भागीरथ-सा। कमंडल और जूटा-जूट, पाताल, मृत्युलोक, स्वर्गलोक भाषा या छंद समझिए। ऐसे ही और सब किंतु कविता-गंगा के गंगापन में कोई अंतर नहीं पड़ता।

तात्पर्य यह है कि संसार के विभिन्न भाषा परिवारों में से किसी एक भाषा परिवार की एक भाषा की कविता का दूसरी भाषा में (सांस्कृतिक अनुरूपता के अनुसार) भावपक्ष और कलापक्ष दोनों ही दृष्टिकोणों से काव्यानुवाद संभव है; और जो भाषा-भाषी सांस्कृतिक (सामाजिक, राष्ट्रीय, दार्शनिक, धार्मिक, कलात्मक आदि) दृष्टि से एक-दूसरे से भिन्न हैं उनकी भाषा की कविताओं के काव्यानुवाद का तात्पर्य एवं स्वरूप होगा काव्य की आत्मा अर्थात् भावानुभूतियों की नवीन अभिव्यंजना या नए रूप में अवतरण। इस नवीनता या विभिन्नता में मूल के सादृश्य का यथासंभव प्रयास किया जा सकता है और दुष्कर होते हुए भी असंभव नहीं है। अनुवाद का अर्थ उसी तरह की, उसी रूप की या वैसी ही पुनरवतारणा नहीं बल्कि 'शब्द कल्पद्रुम' के अनुसार 'उक्तस्य पुनर्कथनं' या 'पुनरुक्ति' है और मोनियर विलियम्स के अनुसार 'सेइंग आफ्टर आर अगेन, रिपीटिंग बाई वे आफ एक्स्प्लेनेशन' होता है जिसमें 'कारोवोरेशन' और 'इलस्ट्रेशन' निहित होता है।

❑

प्रो. पी. आदेश्वर राव

तेलुगु की प्राचीन कविता का हिंदी काव्यानुवाद

देश-कालगत भिन्नता के अनुरूप मानवीय अनुभूतियों, भावनाओं तथा विचारों में भी भिन्नता आ जाती है। साहित्य-क्षेत्र भी इसका अपवाद नहीं है। वैचारिक एवं सांस्कृतिक भिन्नता को अभिव्यक्त करने के कारण साहित्य की अनुभूति एवं अभिव्यक्ति में भी यह भिन्नता देखी जा सकती है। कवि की अनुभूतियाँ भाषा के माध्यम से मूर्त हो उठती हैं। किंतु अन्य भाषा-भाषियों तक वह अपनी अनुभूतियों को संप्रेषित नहीं कर पाता। यहाँ भाषा, कवि और पाठक के बीच अबोधता की दीवार खड़ी कर देती है। भाषा की इस दीवार को गिरा देना ही अनुवाद का कार्य है। अनुवाद में भाषागत एवं कालगत सीमाओं को लाँघने की असीम क्षमता है। यह क्षमता अनुवादक की योग्यता तथा उसके भाषा-सामर्थ्य पर निर्भर रहती है। सफल अनुवाद के लिए मूल भाषा और अनुवाद की भाषा -- दोनों में अनुवादक की क्षमता अनिवार्य है। अनुवादक का निश्चित रूप से दोनों भाषाओं पर समान अधिकार होना चाहिए और यह अधिकार उसके वर्षों के श्रम और अभ्यास से ही संभव है। काव्यानुवाद अपने में एक स्वतंत्र कला है। मूल काव्य का अनुवाद छंदोबद्ध हो तो वह कार्य और भी दुस्तर है। काव्यानुवाद में प्रतिभा एवं दायित्व का होना अनिवार्य है क्योंकि काव्यानुवाद मूल काव्य का पुनःसृजन है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि एक भाषा के काव्य-माधुर्य, उद्वेग एवं आंतरिक उल्लास को तथा कवि के रचना-कौशल को दूसरी भाषा में कुशलतापूर्वक व्यक्त करने की यह प्रक्रिया कृति-विशेष का पुनर्निर्माण है। एक सफल काव्यानुवाद की सबसे सरल परीक्षा यह है कि वह काव्यानुवाद होते हुए भी मौलिक काव्य-रचना के सौष्ठव, सौंदर्य एवं उदात्त तत्व से समन्वित हो। अनुवाद कला का एक पक्ष यह भी है कि श्रेष्ठ काव्यानुवाद केवल सीधा अनुवाद नहीं होता, अपितु वह मूल कृति की आत्मा का सफल प्रत्यक्षीकरण होता है। इसके लिए यह आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक शब्द के लिए समान शब्द

ढूँढा जाए। केवल शब्दानुवाद ही गद्य के क्षेत्र में तो चल भी सकता है परंतु काव्यानुवाद में नहीं। काव्यानुवाद के लिए यह आवश्यक है कि अनुवाद भावानुसार हो। काव्यानुवाद का सबसे महत्वपूर्ण पक्ष यह है कि अनुवादक को कविता की आत्मा को आत्मसात कर उसकी विशुद्ध कल्पना एवं अनुभूति के साथ तादात्म्य एवं सामंजस्य स्थापित करना आवश्यक होता है। तभी काव्यानुवाद मूल कृति का स्पंदनशील प्रतिरूप बनता है। इस दृष्टि से काव्यानुवादक एक स्वतंत्र स्रष्टा है। कभी-कभी काव्यानुवाद मूल की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली और मनोहारी बन जाता है। यह तभी संभव है जब अनुवादक प्रतिभावान, अनुभूति-प्रवण और रचना-कौशल से संपन्न हो।

गुण एवं मात्रा की दृष्टि से तेलुगु की प्राचीन कविताओं के हिंदी में अनुवाद संबंधी उपलब्धियाँ विशेष उल्लेखनीय हैं। इस तथ्य को दृष्टि में रखकर प्रस्तुत लेख में सिद्धांत एवं प्रयोग के संदर्भ में इन काव्यानुवादों पर विचार प्रस्तुत किया जा रहा है। तेलुगु की कतिपय प्रतिष्ठित प्राचीन काव्य-कृतियों का सफल हिंदी काव्यानुवाद प्रस्तुत किया गया है। इन अनूदित कृतियों को सिद्धांत एवं प्रयोग के संदर्भ में जिन तीन वर्गों में विभक्त किया जा सकता है, वे हैं -- (1) तेलुगु के प्राचीन प्रबंध काव्यों का हिंदी काव्यानुवाद; (2) तेलुगु के प्राचीन पदों एवं गेय मुक्तकों का हिंदी काव्यानुवाद; और (3) तेलुगु के प्राचीन नीतिपरक मुक्तकों का हिंदी काव्यानुवाद। लेख की सीमा को दृष्टि में रखते हुए यहाँ इन वर्गों के प्रतिनिधि काव्यानुवादों का ही उल्लेख करना उचित प्रतीत होता है।

1. तेलुगु के प्राचीन प्रबंध काव्यों का हिंदी काव्यानुवाद

अनूदित प्रबंध काव्यों में तेलुगु के भक्त कवि पोतना के भागवत के चार प्रसंगों का काव्यानुवाद श्री वारणासि राममूर्ति रेणु ने 'भागवत् परिमल' शीर्षक कृति में किया है। इन पंक्तियों के लेखक ने भी उक्त भागवत के चार प्रसंगों का काव्यानुवाद 'चतुष्पथ' के नाम से किया है। श्री वड्डिपर्ति चलपतिराव की अनूदित काव्य-कृति 'प्रवर' तेलुगु के महान कवि पेद्दना के 'मनुचरित्र' प्रबंध काव्य का हिंदी रूपांतर है।

आंध्र प्रदेश में पोतना कृत 'आंध्र महाभागवतम्' अत्यंत लोकप्रिय रचना है। यद्यपि यह कृति संस्कृत के 'श्रीमद्भागवत्' का तेलुगु रूपांतर है, फिर भी पोतना की प्रतिभा और भक्ति की तीव्रता ने इसमें मौलिक रचना का-सा स्वाद भर दिया है। इसके हिंदी काव्यानुवाद में अनुवादक वारणासि राममूर्ति रेणु ने वस्तु एवं रस के अनुकूल शैली-विन्यास किया है। उनका यह काव्यानुवाद मूल के अत्यंत निकट है। उन्होंने कई स्थानों पर मूल में प्रयुक्त शब्दावली का अत्यधिक प्रयोग किया है जिसमें वस्तु के साथ मूल भाषा की भी झांकी मिलती है। पोतना की उदात्त भावभूमि की रक्षा करने के लिए ऐसा करना

अनिवार्य हो गया है। 'रेणु' जी की अनुवाद-क्षमता से अवगत होने के लिए एकाध उदाहरण पर्याप्त है। भागवत् के 'वामन चरित' में राजा बलि द्वारा वामन को तीन चरणों का दान देने संबंधी अपना वचन निभाने और वामन द्वारा अपने विराट रूप धारण करने का प्रसंग है। रेणु जी ने वामन के विराट रूप के विकास का गतिशील बिंब काव्यानुवाद में इस प्रकार प्रकट किया है :

''इस प्रकार भूमिदान, स्वीकृत कर तब राजन्!
इतना सा बौना वह डेढ़ हाथ का बौना!
इतना बन, इतना बढ़ उतना चढ़, नभ पथ पर
घन-मंडल के ऊपर, प्रभापुंज को ढकेल
पीछे अपने, शशि का लंघन कर लाघव से,
ध्रुव पद सर्वोन्नत का अतिक्रमण कर शर-सा,
महर्लोक पर चढ़, बढ़ सत्यलोक से दृततर,
ब्रह्माण्ड-कटाह फोड़, सीमाएँ सभी तोड़,
बढ़ता ही चला गया! चढ़ता ही चला गया!
तदनु, परीक्षित! सुन लें --
रविबिंब बना पहले प्रभु का सित योग्य छत्र,
तदनंतर शिरोरत्न, कर्णफूल, कंठरत्न
कांचन केयूर कांति-मान भव्य कर कंकण,
कमनीय कटि प्रदेश पर घंटा छवि पावन,
ठिगने से बौने का फिर नुपूर जाल बना!
बना वही सूर्य बिंब जग में सर्वत्र व्याप्त
ब्रह्मचारि का अद्भुत पादपीठ प्रभादीप्त!
त्रिगुणात्मक विष्णुदेव, धर विराट विश्व रूप
बने त्रिविक्रम तो, भू, नभ, दिव, दिशि, दिशाछिद्र,
सागर, चल जीवजंतु बने एक मात्र आप!
भूमि गोल से कढ़कर, भुवर्लोक पर चढ़कर,
सुवर्लोक से बढ़कर, महर्लोक, जनोलोक,
तपोलोक, सत्यलोक सबसे बढ़ चढ़ ऊपर
सब के हो, परे, पार, फैले नीरंध्र निविड
अंतराल में, विशाल देह लिए अति कराल।''

रेणु जी का यह काव्यानुवाद महाकवि पोतना की मूल रचना के समान प्रभावशाली बन पड़ा है। मात्रिक छंदों के प्रयोग के कारण काव्य-प्रवाह विराट गत्यात्मक बिंब तथा अद्‌भुत रस की सृष्टि में समर्थ हो गया है।

इन पंक्तियों के लेखक ने भी अनुवाद की इसी प्रणाली को अपनाकर मात्रिक छंदों में ही पोतनाकृत भागवत के चार प्रसंगों का काव्यानुवाद प्रस्तुत किया है जिनमें से यहाँ 'सुदामा चरित' तथा 'रुक्मिणी विवाह' की कुछ पंक्तियाँ उद्धृत की जा रही हैं। बाल सखा सुदामा के आगमन पर श्री कृष्ण ने जो स्नेह एवं आदर उन्हें प्रदान किया, उसका वर्णन इन पंक्तियों में अंकित किया गया है :

''तब कृष्ण विप्र के पास गए हर्षातिरेक में
और किया आलिंगन पाकर स्नेह बंधु में
शैशव की स्मृतियों में खोया हरि ने सत्वर
उसे समादर बिठा लिया निज शयन तल्प पर।

इस तरह बिठाकर भूसुर को हरि ने अमित स्नेह से
धोए उनके चरण-युगल तब अतुलित भक्ति भाव से
घनसार और मृगमद मिश्रित कनक कलश के जल से
और किया अभिषेक शीर्ष का पद्‌गत सलिल विमल से।

ताल-वृंत हिला-डुलाकर हरी थकावट हरि ने
मलयानिल तब बहा निकल कर मोद विप्र में भरने
बंधूक कलित वर धूपों से भूसुर की पूजा कर के
मणि दीपों की आरती उतारी हरि ने उमंग भर के।।''

'रुक्मिणी विवाह' के प्रसंग में पोतना ने रुक्मिणी के तारुण्य का श्रीकृष्ण की कामना के अनुरूप विकसित होने के गतिशील चित्र का अंकन किया है, जिसका हिंदी कव्यानुवाद इस प्रकार किया गया है :

''देवकी-तनय के मन में ज्यों-त्यों कामना लहराती थी
त्यों-त्यों देह-लता उस बाला की झूम-झूम इठलाती थी,
ज्यों कमलनाथ का चित्त-कमल सुरभित-विकसित हो जाता था
त्यों कन्या के मुख-नीरज पर आलोक वेग से बढ़ता था,
मधुरिपु के उर के काम-ताप से युवती के उरोज उभरे,
उधर श्याम का धैर्य क्षीण हो पतला होकर सिमट गया जब

इधर वाम की कटि पतली हो छवि अपनी दिखलाती थी तब
यदुनन्दन का ममता-बंधन जब अधिक तीव्र हो जाता था
तब बाला का वेणी-बंधन नयनाभिराम-सा लगता था
कमल नयन में मोद भरा तो तरुणी में तारुण्य भरा था।''

इस काव्यानुवाद में पोतना की क्लिष्ट अभिव्यक्ति को उनकी शब्दावली और शैली में ही व्यक्त करने की चेष्टा की गई है, मूल काव्य की वस्तु एवं रस को सुरक्षित करने का प्रयास किया है।

महाकवि पेद्दना के 'मनुचरित्र' का हिंदी काव्यानुवाद श्री वड्डिपर्ति चलपतिराव ने अत्यंत सुंदर रूप से किया है। उन्होंने रसानुकूल छंदों का प्रयोग करते हुए मूल काव्य की पुनः सृष्टि करने का सफल प्रयास किया है। 'प्रवर' (मनुचरित्र) का आरंभ अरुणास्पद नगर-वर्णन और उसमें निवास करने वाले भूसुरोत्तम प्रवर के वर्णन के साथ इस प्रकार होता है :

''पुर-विभव-छवि में चार चाँद लगा दिए
द्विजवर प्रवर ने पुण्य-भाग्य जगा दिए
शिव तरुण-सा वह, तनु-विलास अनूप था
मकरांक और शशांक का-सा रूप था।
था शेष-भोगी अपर भाषा-मर्म में
रत विविध-निर्मल कर्म, वैदिक-धर्म में
स्मर बाण कुंठित वज्र सम-शम-वर्म में
था ब्रह्मकुल भूषण, स्वयं वपु-भर्म में?''

यहाँ पर काव्यानुवाद की भाषा कहीं कामायनीकार की, कहीं साकेतकार की, कहीं मानसकार की याद दिलाती है।

2. तेलुगु के प्राचीन पदों एवं गेय मुक्तकों का हिंदी काव्यानुवाद

इस वर्ग के अंतर्गत डॉ. इलपावुलूरि पांडुरंगराव और डॉ. सी. रामुलु द्वारा तेलुगु के भक्त कवियों के पदों के हिंदी काव्य-रूपांतर को लिया जा सकता है। डॉ. पांडुरंगराव ने तेलुगु के भक्त कवि त्यागराज के पदों का अनुवाद 'त्यागराज के पद' शीर्षक के अंतर्गत तथा डॉ. सी. एच. रामुलु ने तेलुगु के प्रमुख पदकार अन्नमाचार्य के पदों का अनुवाद 'अन्नमाचार्य के संकीर्तन' शीर्षक के अंतर्गत किया है।

तेलुगु के काव्य-साहित्य को त्यागराज और अन्नमाचार्य जैसे भक्तों ने अपने पदों से समृद्ध बनाया है। डॉ. इ. पांडुरंगराव ने त्यागराज के कई पदों का अत्यंत प्रभावशाली

एवं रसात्मक काव्यानुवाद प्रस्तुत किया है। हिंदी के मात्रिक छंदों पर असाधारण अधिकार के कारण उन्होंने इस अनुवाद के द्वारा त्यागराज के पदों की पुनःसृष्टि की है। पदों की प्रवाहमयता, स्निग्धता एवं प्रभावोत्पादकता के दर्शन हर अनूदित पद में होते हैं। उनके एक ऐसे पद को यहाँ उद्धृत किया जा रहा है जिसमें भगवान के प्रति भक्त का उपालंभ भरा हुआ है :

''माँग लिया जिस जिसने तेरे पास प्रभो क्या पाया?
जग संसृति का तिमिर मिटाने भास्कर बन कर आया।।
जनक-नंदिनी प्राण प्रिया ने वन-विहार वर माँगा।
पर पूरा निर्वासन पाया, पाया मूल्य महँगा।।
असुर भगिनी शूर्पणखा ने तन माँगा मन देकर।
नाक कटी उसकी, वही भागी भाई के घर रोकर।।
नारद के मन में भी उपजी इच्छा एक अनोखी।
पाई उसने नारी की छवि और साठ सुत साखी।।
दुर्वासा ने खाना माँगा अपच रोग से भागा।
सुत चाहा वसुदेव सती ने नंद बना बड़ भागा।।
ब्रज बालाएँ भोली भाली न्योछावर कर तन मन।
घर से, कुल से, पति के मन से अलग हो गईं सिर धुन।।
पता चला अब कोई तेरा रीति-रिवाज़ नहीं है।
जब जिस पर जैसा दिल तेरा उसका भाग्य खुला है।।
इसी भरोसे रहता हूँ मैं कभी खुले दिल तेरा।
त्यागराज प्रभु की सम्मति से खिले सुमन यह तेरा।।''

कहने की कोई आवश्यकता नहीं कि पांडुरंगराव के काव्यानुवाद में मूल पद के रस का संवर्द्धन किया है।

डॉ. सी.एच. रामुलु के 'श्री अन्नमाचार्य के संकीर्तन' शीर्षक पद्यानुवाद में भक्त और पदकार अन्नमाचार्य के कई गीतों की छटा उभर आई है। यह भी काव्यानुवाद के क्षेत्र में स्तुत्य प्रयास है। एक पद का काव्यानुवाद द्रष्टव्य है :

''कामिनी सुरुचिर काम यजन रचाती
देवता प्रीति को प्रेम भेंट चढ़ाती।

सुरति मधुर तम्बूल रसपान कराती,
नलिन नयना चषक सोम रस पिलाती।

सुमधुर कल गीत श्रवण सुखद सुनाती
शुभद वेदमंत्र सामगान रचाती!

विरह ताप जनित प्रबल अग्नि जुटाती
होमाग्नि में निज प्रेम ताप तपाती।
सुरति समरत जनित श्रमजल समाती,
अवभृध कर तन मन पुनीत, लजाती।

रुचिर कुचयुग दंतक्षत केलि रमाती
शोभित पषु बंधन निज रूप बँधाती।
वेंकटेश के अंक पीठ सुख लुटाती,
धन दिव्य भोग में निज को समाती।।''

3. तेलुगु के प्राचीन नीतिपरक मुक्तकों का हिंदी काव्यानुवाद

तेलुगु के प्राचीन एवं मध्यकालीन काव्य में मुक्तक साहित्य की भरमार है। तेलुगु में सौ से अधिक मुक्तकों को शतक कहा गया है। इन शतकों में नीति पर अधिक बल दिया गया है। तेलुगु सहित्य में 'वेमना शतक' (यद्यपि वेमना के नीतिपरक छंद तीन हज़ार से अधिक हैं।) और 'सुमती शतक' की लोकप्रियता सर्वाधिक है। प्रत्येक तेलुगु भाषा-भाषी की जिह्वा पर उनके छंद थिरकते रहते हैं। तेलुगु के नीति मुक्तकों के हिंदी काव्यानुवादों में उल्लेखनीय हैं -- श्री दुव्वूरि रामकृष्णमूर्ति का 'संत वेमना', डॉ. सूर्यनारायण भानु का 'वेमना की वाणी' और माधवराव रेगुलपाटि का 'वेमना सूक्ति-सुधा।' इन अनुवादकों ने तेलुगु के प्रसिद्ध संत कवि वेमना के नीति मुक्तकों के अनुवाद से हिंदी काव्य-साहित्य को समृद्ध किया है। श्री सुंकर चेंगय्या ने तेलुगु के प्रसिद्ध नीतिशतक 'सुमतीशतक' का काव्यानुवाद 'सुमती की सूक्तियाँ' शीर्षक कृति के रूप में प्रस्तुत किया है।

दुव्वूरि रामकृष्णमूर्ति ने वेमना के छंदों का अनुवाद दोहा छंद में किया है। इससे भाव-व्यक्तीकरण में उन्हें बड़ी सफलता मिली है। इसका मुख्य कारण यह है कि हिंदी में अधिकांश नीतिपरक काव्य दोहों में ही रचा गया है। वेमना के कुछ छंदों का काव्यानुवाद इस प्रकार है :

''कुल के इक गुणवान से, कुल शोभित हो जाय।
ज्यों इक चंदन विटप से, वन सुरभित हो जाय।।
× × × ×
उत्तम भी खल संग में, करत है निज हानि।
ताड़ तले पय ही पिये, फिर भी मिलती हानि।।
× × × ×

देखो लौन कपूर का, रूप एक रुचि भिन्न।
इसी ढंग नर कोटि में; पुण्य पुरुष तो भिन्न।।
× × × ×
डिंभ वचन खल का सदा, धीर सुजन का बोल।
कंचन कांसा-सा कभी, क्यों दे ऊँचा बोल।।''

बाद में वेमना के दो और काव्यानुवाद प्रकाशित हुए हैं। डॉ. माधवराव रेगुलपाटि ने अपने ग्रंथ 'वेमन सूक्ति सुधा' में वेमना के दो सौ छंदों का काव्यानुवाद प्रस्तुत किया है जो अत्यंत श्लाघ्य है। डॉ. माधवराव ने प्रत्येक छंद का अनुवाद चार पंक्तियों में किया है जैसे मूल में वेमना ने 'आटवेलदि' और 'तेटगीति' छंदों में सूक्तियाँ लिखीं तो उनका काव्यानुवाद दो दोहा छंदों को मिलाकर माधवराव ने किया है। उनके कुछ अनूदित छंद द्रष्टव्य हैं :

''साधन कर के राग को संवार सकते ठीक
खाते-खाते नीम भी हो जाता है पाक
साधन से इस अवनि पर सब हो जाते ठीक
विश्वदाभिराम! सुनरे वेमा! ज्ञान निधान।।

दोष बताने के मनुज करोड़-करोड़ लोग
इस अवनि पर जन-जन के अनेक होते दाग
बतलाते हैं अन्य के, भूले खुद के दाग
विश्वदाभिराम सुनरे वेमा! ज्ञान निधान!

पिंडों को तैयार कर, पितरों को कर याद
कौओं के लिए कौर सब देते भर कर गोद
कौए को निज पितर-सा कैसे जगजन मान
विश्वदाभिराम! सुनरे वेमा! ज्ञान निधान!''

माधवराव के काव्यानुवाद में स्पष्टता, प्रवाहमयता और मूल के प्रति निष्ठा शब्द-शब्द पर मिलती है। डॉ. सूर्यनारायण भानु ने भी 'वेमना की वाणी' का प्रकाशन कराया। उन्होंने सोलह मात्राओं वाले मात्रिक छंदों (अधिकतर चौपाइयों) का प्रयोग वेमना के छंदों के अनुवाद के लिए किया है। कुछ उदाहरणों से काव्यानुवाद का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है :

''पत्नी छोड़ परायी-पीछे
पड़ता है तो पागल जीने

फसल छोड़ जो पकी खेत की
खेत में बचे दाने बीने।
विश्वद अभिराम! सुनो वेमना!!

अटका रोड़ा चप्पल में जो,
कान भिनकती मक्खी पल-पल,
रेनु नयन का काँट पैर का
झगड़ा घर का करते विह्वल!
विश्वद अभिराम! सुनो वेमना!!''

डॉ. भानु ने भी अपने अनुवादों में वेमना की वाणी को मुखरित करने का सफल प्रयास किया है। यहाँ इतना ही कहा जा सकता है कि वेमना के छंदों के आरंभिक दोनों अनुवाद इसलिए उत्तम बन पड़े हैं कि उनमें हिंदी भाषा के मुक्तकों के लिए सहज रूप में प्रयुक्त होने वाले दोहा छंद का प्रयोग किया गया है।

वेमना की सूक्तियों के अतिरिक्त 'सुमती की सूक्तियों' का भी हिंदी काव्यानुवाद हुआ है। श्री सुंकर चेंगय्या ने भी दोहा छंद में ही यह अनुवाद-कार्य किया है। उनका यह प्रयास अत्यंत सफल सिद्ध हुआ है। कुछ अनूदित सूक्तियाँ द्रष्टव्य हैं :

बंधु काम का जो न हो भजे न रीझै दैव
रण में चले न अश्व जो सुमती तजो सदैव।
× × × ×
सुमति कमाऊ पुरुष से दबती है स्त्री, काश!
बंद कमाई हुई, तो वह कहती जिंदा लाश।।
× × × ×
संगति से है तुच्छ की सुमती, हानि अपार
खटमल-संगी खाट को सहना पड़ता मार।।
× × × ×
सुमति-विषैला सर्पमुख बिच्छू का डंक मात्र।
खेल का निशान एक है विषमय है सब गात्र!!
× × × ×
सुमति कोप ही शतृ है, क्षमा त्राण है आप।
दया बंधु, संतोष हो स्वर्ग, नरक संताप।।''

यहाँ पर ध्यान देने की बात यह है कि काव्यानुवाद के अवसर पर सभी अनुवादकों

ने हिंदी भाषा की प्रकृति के अनुरूप अधिकतर मात्रिक छंदों का ही प्रयोग किया है, जिस कारण इनके अनुवाद अत्यंत सफल सिद्ध हुए हैं। इन अनुवादकों ने काव्यानुवाद के शिल्प पक्ष को भावाभिव्यंजना का प्रमुख आधार माना है। उन्होंने अनुवाद में मूल पाठ की वस्तु, रस एवं शैली को भी हिंदी भाषा की प्रकृति के अनुरूप प्रस्तुत कर उसके उदात्त पक्ष की रक्षा की है। ये अनुवादक स्रोत भाषा तेलुगु की संपूर्ण अर्थच्छवियों को लक्ष्य भाषा हिंदी में ले आने में सफल हुए हैं। इन्होंने मूल कविता में व्यंजित सांस्कृतिक पक्ष के औदात्य को उसकी समग्रता के साथ अंकित किया है। इन्होंने अनुवाद में शब्द-चयन एवं छंद-चयन के संदर्भ में विशेष सतर्कता बरती है।

निष्कर्ष के तौर पर अंत में यही कहा जा सकता है कि तेलुगु की प्राचीन कविता के हिंदी काव्यानुवादों में हमें अनुवाद संबंधी सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक पक्षों का जो निर्वाह होता नज़र आता है उससे अनुवादकों की कुशलता प्रमाणित ही हुई है। आशा ही नहीं, विश्वास भी है कि भविष्य में तेलुगु के महान प्राचीन काव्यों के काव्यानुवाद अधिक मात्रा में किए जाएँगे और हिंदी भाषा भारतीय कविता की संवाहिका बनेगी। ❑

अशोक चक्रधर

कविता की छाया में

कपिल जी की कविताओं के छायानुवाद की पृष्ठभूमि बताना चाहता हूँ। कैसे शुरुआत हुई, कैसे आगे तक बात बनी!

मैं अपनी संस्था 'जयजयवंती' की ओर से इंडिया हैबिटेट सेंटर में हर महीने एक गोष्ठी का आयोजन किया करता था। केंद्रीय विषय रखता था 'हिंदी का भविष्य और भविष्य की हिंदी'। उसमें कामना रहती थी कि हिंदी को कंप्यूटर और प्रौद्योगिकी से जोड़ा जाए और साहित्यकारों के अंदर एक जागृति उत्पन्न की जाए ताकि वे भविष्य की ओर देखते हुए इस नए उपकरण को अंगीकार करें। टेक्नोलॉजी के प्रति उदासीनता और अरुचि न दिखाएँ। दोस्ताना बढ़ाएँ।

प्रारंभिक एक-दो गोष्ठियों के बाद लगा कि जब तक सरकार का और नेताओं का ध्यान इस ओर नहीं जाता, तब तक हम अपनी मुहिम तक आसानी से नहीं पहुँच सकते। 'प्रवासी संसार' के संपादक राकेश पांडे ने यह व्यवस्था संभाली। हमने चाहा कि विषय के विद्वानों के साथ उन जागरूक राजनेताओं को भी आमंत्रित करें जो हिंदी के भविष्य के लिए एक भावनात्मक लगाव रखते हैं।

श्री कपिल सिब्बल से मेरा परिचय तीन दशक पहले से था। कविता के प्रति उनका लगाव बहुत पुराना है। उनको तेईसवीं 'जयजयवंती संगोष्ठी' में निमंत्रित किया। उन्होंने उदारतापूर्वक आना स्वीकार भी कर लिया। 'जयजयवंती संगोष्ठी' में हम प्रायः रोचक कविताओं के साथ कंप्यूटर द्वारा भौंचक करने वाले तथ्यों से भी परिचित कराते थे। जब कपिल जी की बोलने की बारी आई, मैं स्वयं भौंचक रह गया। उन्होंने कहा कि सब मुझसे उम्मीद कर रहे होंगे कि भाषण होगा, लेकिन यहाँ मैंने कविताएँ सुनीं, मैं फिलहाल कोई भाषण नहीं दूँगा, कविता सुनाऊँगा। कपिल जी ने कहा कि मैं हिंदी में तो नहीं, अंग्रेजी में लिखता हूँ। उन्होंने यह भी बताया कि वे अपनी सारी कविताएँ

मोबाइल पर ही लिखते हैं। एक कविता उनके मोबाइल में हिंदी की भी है। वे तकनीक का उपयोग, साहित्य, संस्कृति, कला और कविता के लिए कर रहे हैं, ये कितनी अच्छी बात है। बहरहाल, उन्होंने अंग्रेजी की एक कविता सुनाई जो मर्मस्पर्शी थी। कविता में ममता का आख्यान था।

कविता की भाषा निश्चित रूप से गद्य की भाषा से भिन्न होती है और उसमें गतार्थों को ज्यों का त्यों तत्काल समझ पाना प्रायः संभव नहीं होता। मैं स्वयं बताऊँ, मेरी अंग्रेजी बहुत बुरी नहीं है, पर अच्छी भी नहीं है। वह कविता मैंने सुनी, कई सारी भावाभिव्यक्तियाँ मेरी समझ में नहीं आई, लेकिन मैं देख रहा था कि सभागार में सब इस तरह से तालियाँ बजा रहे थे, जैसे सभी कविता समझ रहे हों। मैं अपने अधिकांश हिंदीवादी श्रोताओं की मानसिकता पढ़ पा रहा था। स्वयं भी तो कई बार वही कर रहा था, जो वे कर रहे थे। हमारे श्रोताओं के लिए कविता को अनुवाद की आवश्यकता थी। मेरा मन हुआ कि अभी अगर मुझे मौका दिया जाए तो इस कविता का अनुवाद मैं लोगों को सुना दूँ तो ज्यादा लोगों तक पहुँच पाएगी।

जाहिर सी बात है जो बातें मेरी समझ में नहीं आई थीं उनके लिए मुझे शब्दकोश की या अंग्रेजी कविता की समझ रखने वाले साथी की जरूरत तो थी। दूसरी बात यह कि कविता कभी भी एक बार सुनाने में संपूर्ण अर्थ नहीं देती है। मैं कविता का विद्यार्थी हूँ। मुक्तिबोध की कविताओं पर मैंने सघन कार्य किया है। मुझे मुक्तिबोध की कोई भी कविता कभी भी पहले पाठ में समझ में नहीं आई। जब तक उसे पाँच-दस पाठ नहीं कर लिए तब तक कविता की अर्थछवियां पल्ले नहीं पड़ीं। कविता में जो मीनिंग शेड्स छिपे होते हैं, परत दर परत उन्हें जानने के लिए हमें उसे कई बार पढ़ना पड़ता है।

संगोष्ठी में वह कविता मैंने डिजिटल रिकॉर्ड कर ली थी। मैंने उसे बाद में फिर सुना उसका अनुवाद भी किया। अपने विद्यार्थी और जामिया के साथी डॉ. विवेक दुबे की मदद भी ली। 'ममता का आख्यान' उस कविता का शीर्षक रखा। और मुझे खुशी है कि जब मैंने कविता का अनुवाद कपिल जी को सुनाया तो वे प्रसन्न हुए। उन्हें लगा कि अनुवाद उनकी कविता के बहुत निकट है। उस दिन उन्होंने 'किस-किस की जय हो' शीर्षक से एक कविता सुनाई जो उन्होंने अपने मोबाइल पर रोमन लिपि में हिंदी में ही लिखी थी। फिर मुझे उनकी अंग्रेजी कविताओं की पुस्तक 'आई विटनेस' देखने को मिली। मैंने उनसे कहा कि अगर वे चाहें तो मैं इनके अनुवाद का प्रयास कर सकता हूँ। नेकी और पूछ-पूछ। मैं अपनी यात्राओं में उस पुस्तक को साथ रखकर घूमने लगा। जहाँ मौका लगा मैंने कविताएँ पढ़ीं। छोटी-सी एक डिजिटल डिक्शनरी अपने

साथ रखी हुई थी। कुछ समय विवेक दुबे के साथ भी बैठा। कविताएँ अनुवाद के रास्ते चलने लगीं और परत दर परत खुलने लगीं।

मैंने पाया कि विषयों का जो वैविध्य 'आई विटनेस' नाम की पुस्तक में था, अद्‌भुत था। एक ओर जीवन समाज से जुड़ी हुई कविताएँ, दूसरी ओर कुदरत का विनाश करने वाली शक्तियों को चेतावनी देने वाली तीखी भाषा की, तीसरी ओर घर-परिवार के लोगों के प्रति उनकी भावनाएँ और स्मृतियों का खजाना, चौथी ओर हास्य-व्यंग्य बोध से संपन्न चुटकियाँ और पाँचवीं ओर उनकी बहुत संवेदनशील मार्मिक क्षणों की हृदय-गाथाएँ। मैंने उनका अनुवाद करना प्रारंभ किया।

शब्दशः गद्य में अनुवाद करना कोई कठिन कार्य नहीं होता, लेकिन कविता में कविता का अनुवाद कविता लिखने से ज्यादा दुरूह कार्य है। वह भी खासकर तब जब मूल कविताएँ तुक छंदबद्ध हों। कपिल जी ने अपनी कविताओं में तुक मिलाने का आग्रह सदैव रखा है। अंग्रेजी में मिलाई गई तुकों को हिंदी में पुनः तुकांत शैली में लिखना, निश्चित रूप से एक चुनौती भरा कार्य था। अब उसमें थोड़ी सी छूट लेना लाजिम था।

मैंने शब्द-वाक्य-विन्यास के कुछ इधर उधर होने की कपिल जी से छूट माँगी। उन्होंने कहा कि पूरी छूट है, जो कविता मैंने सुनी है, मैं उससे संतुष्ट हूँ।

फिर क्या था, मैंने इन कविताओं पर कवियाना शुरू किया। बिना कवि हुए अनुवाद मुमकिन नहीं था। गद्यानुवाद बिना लेखक हुए भी किए जा सकते हैं। इन कविताओं का अनुवाद करते समय मेरे कवि ने खूब अंगड़ाइयाँ लीं। शब्दों की मोहक खोज। भावनाओं की ध्वनियों को शब्द ध्वनियों में रूपायतित करना एक चुनौती तो था। तुकांतों के निर्वाह करते हुए एक काव्यात्मक लय के साथ कविताएँ एक-एक करके बनने लगीं।

अब सवाल यह है कि इस अनुवाद को क्या कहा जाए। प्रायः जब हम शब्दशः अनुवाद नहीं करते हैं तो उसे भावानुवाद कहा जाता है। मुझे भावानुवाद से ज्यादा अच्छा शब्द छायानुवाद लगा, क्योंकि भाव का अनुवाद ज्यों का त्यों शायद नहीं हो सकता, उसके लिए आपको अलग मुहावरा, अलग शब्दावली, अलग नहीं तो समांतर विन्यास चुनना पड़ेगा। भाव की रक्षा हो सकती है लेकिन उस शैली की, उस विशिष्ट आकृति की, कविता के रूप की रक्षा भाव शायद न कर पाए। छाया जिस भी व्यक्ति की पड़े, वह लंबी या छोटी तो हो सकती है, लेकिन आप ये बता सकते हैं कि ये छाया इसी व्यक्ति की है। हिंदी भाषा की प्रकृति में कई बार हम भाषा की समाहार शक्ति के अनुसार विषयवस्तु को कम शब्दों में भी व्यक्त कर सकते हैं और कई बार उस भाव को व्यक्त करने में थोड़े अधिक शब्द भी खर्च किए जा सकते हैं। यानी कि जो बात

अंग्रेजी में कम शब्दों में कही गई उसके लिए कुछ ज्यादा शब्द प्रयोग में लाए जाएँ। तब उस भाव की रक्षा हो और शैली विशेष पर भी आँच न आए।

तो ये कविताएँ कपिल जी की कविता कृतियों की छायाएँ हैं। किसी व्यक्ति की छाया अगर उस समय देखी जाए जब सूर्य सिर पर हो तो एक गोल घेरे से ज्यादा कुछ बनता नहीं है। सूर्योदय और सूर्यास्त के समय छायाएँ लंबी होती हैं। मैं इतनी छूट पाठकों से भी चाहूँगा कि इन कविताओं का छायानुवाद देखते समय वे भी सोचें कि सूर्यास्त के समय की छाया है या सूर्योदय के समय की, या ठीक उस समय की छाया है जब सूरज पैंतालीस डिग्री पर होता है और छाया का आकार आकृति के बराबर बनाता है। कविताएँ आपके सामने हैं, मैंने प्राणपण से प्रयास किया है कि मूल आकृति आपको छाया में दिखाई दे और आप रूबरू हो सकें कपिल जी और उनकी कविता से।

(पेंगुइन-यात्रा बुक्स द्वारा प्रकाशित कपिल सिब्बल की कविताओं का अशोक चक्रधर द्वारा छायानुवाद 'किस-किस की जय हो' के सौजन्य से)

❑

संतोष खन्ना

काव्यानुवाद : सिद्धांत एवं व्यवहार-विमर्श

अनुवाद चाहे काव्य का हो या कथा साहित्य का अथवा सूचना साहित्य का, उसकी अनुवादनीयता संबंधी प्रश्नों से अब काफी कोहरा छंट चुका है। आज से लगभग ढाई हजार वर्ष पहले प्लेटो ने कवियों को समाज के लिए हानिकारक कहकर उन्हें शहर से निष्कासित करने का आदेश दिया था। उनकी स्थापना थी कि कवि का कृतित्व वास्तविकता अथवा सत्य से तीन गुणा परे होता है और कवि पागल होता है। उन्हीं के शिष्य आचार्य अरस्तू ने कवि पर लगाए आरोपों का उत्तर देते हुए कहा था कि गुरुदेव प्लेटो सही कहते हैं कि कवि पागल होता है किंतु उसका पागलपन 'दैवी पागलपन' (divine madness) होता है जो त्याज्य नहीं अपितु वरेण्य एवं वंदनीय है। तब से विश्व की सभी नदियों में बहुत-सा जल प्रवाहित हो चुका है। 21वीं शती में आज किसी को स्पष्टीकरण देने की जरूरत नहीं है कि साहित्य और समाज का संबंध क्या है और रचना कर्म क्या है?

रचनात्मक साहित्य की महत्ता पर जब प्रश्न-चिह्न लगने बंद हो गए तो अनुवाद की संभावना और उपयोगिता पर प्रश्न-चिह्न लगने प्रारंभ हो गए। किसी ने अनुवादक को प्रवंचक (Traitor) कहा तो किसी ने उसकी तुलना एक ऐसी औरत से की जो यदि सुंदर हो तो बेवफा होती है और यदि वफादार है तो सुंदर नहीं होती (Translations are like women – homely when they are faithful and unfaithful when they are lovely)। कोई अनुवाद को 'कालीन का उल्था' (upside down of a carpet) और कोई उसे स्वादहीन स्ट्रॉबेरी (Translation of a literary work is as tasteless as a stewed strawberry) कहने लगा। कुछ लोगों का यह भी मत था कि केवल विचारों का अनुवाद किया जा सकता है, शब्दों और उससे जुड़े भावों का अनुवाद नहीं। (Ideas can be translated but not the words and their associations)।

इन सबके बावजूद अनुवाद की धारा रुकी नहीं है। अनुवादक को उसका देय मिला हो या न मिला हो, प्राचीन कालजयी कृतियों को जीवित रखने और सर्वजनीन एवं सर्वकालिक बनाने का श्रेय उन्हें ही जाता है। यह अनुवाद विधा है जिसके माध्यम से आज हम प्लेटो, अरस्तू, होमर तथा अन्य अनेक वैश्विक विभूतियों से परिचित हो रहे हैं। अनुवाद के माध्यम से मनुष्य अपनी प्राचीन संस्कृति से परिचित हो रहा है। यह अनुवाद ही था जिसके माध्यम से विश्व की प्राचीनतम धरोहर अर्थात् समृद्ध संस्कृत साहित्य से पश्चिमी जगत परिचित हो चमत्कृत हो उठा था। विश्व के सर्वाधिक श्रेष्ठ वेद वाङ्मय ने अनुवाद के माध्यम से अंग्रेजी तथा अन्य वैश्विक भाषाओं में अवतरित हो समूचे भूमंडल के जीवन को नई दिशा और नए आयाम प्रदान किए।

अनुवाद को इस बात का श्रेय भी जाता है कि इसके माध्यम से मूल कृतियों की भी रक्षा हो सकी है।

काव्यानुवाद : कितना दुरूह? कितना सुगम?

प्रायः यह कहा जाता है कि सृजनात्मक साहित्य में काव्यानुवाद सबसे अधिक दुष्कर कार्य है और कथा साहित्य का अनुवाद अपेक्षाकृत सुगम कार्य है। काव्य या कविता में कवि की अनुभूति की सघनता और गहनता का अनुवाद वस्तुतः कठिन कार्य है। कुछ विद्वानों का तो यहाँ तक मत है कि काव्य का अनुवाद हो ही नहीं सकता। (Poetry is untranslatable)। शॉवरमैन अनुवाद को मौलिक रचना के साथ छेड़छाड़ (Translation is meddling with inspiration) मानते हुए अनुवाद को 'पाप' की संज्ञा (Translation is a sin) देते हैं। हुम्बोल्ट सभी प्रकार के अनुवाद को एक ऐसी समस्या मानते हैं जिसका कोई समाधान ही नहीं है -- ''All translation seems to me simply an attempt to solve an unsolvable problem.'' वस्तुतः काव्यानुवाद नट का रस्सी पर चलने के समान है अर्थात् काव्यानुवाद एक प्रकार के अतिरिक्त तप और तपस्या की माँग करता है।

महायोगी एवं महाकवि अरविंद मानते हैं कि कविता साहित्य की सर्वोत्तम अभिव्यक्ति है और सच्ची कविता हमेशा चेतना के किसी सूक्ष्म स्तर से पैदा होती है -- ''सच्ची कविता तो तब होती है जब आत्मा की ज्योति, आनंद, जीवन की विस्तृत प्राणशक्ति और बहुलता एक साथ हो।'' अरविंद के अनुसार कविता का अर्थ उसके वाहक शब्दों से कहीं अधिक सशक्त, गंभीर और विस्तृत होता है जिसकी व्याख्या साधारण भाषा द्वारा संभव नहीं है। उसकी लय और छंदों में शब्दों से भी अधिक स्वाभाविक शक्ति होती है और ऊपरी चेतना प्राप्त करने के लिए कवि को सच्ची तपस्या और साधना करनी होती है।

जब कविता का स्वरूप इतना उदात्त (sublime) हो तो ऐसी कविता के अनुवाद के लिए अनुवादक की भी एक उदात्त दृष्टि होनी चाहिए। तभी वह कविता में गहरे पैठ कर कविता के अनुभूत सत्य और आनंद को लक्ष्य भाषा में अभिव्यक्त कर सकता है। एक उदाहरण देखें :

''लाली मेरे लाल की, जित देखूँ तित लाल।
लाली देखन मैं गई, मैं भी हो गई लाल॥''

इसका एक अनुवाद प्रस्तुत है :

''Grace Grace everywhere of my Dear God,
When I tried to perceive through,
Me became That All.''

यह अनुवाद मूल पंक्तियों में व्याप्त अभिव्यंजना को लक्ष्य भाषा में किस सीमा तक व्यक्त कर पाया है, इसमें भिन्न-भिन्न मत हो सकते हैं क्योंकि अलंकार और अनुप्रास से सुसज्जित इस दोहे का अर्थ और अभिव्यंजना स्वयं में बेजोड़ और चमत्कार उत्पन्न करने वाला है। फिर कविता में अर्थ के कई स्तर हैं और उसकी अभिव्यंजना भी भिन्न-भिन्न हो सकती है।

कहा जा सकता है कि काव्यानुवाद एक विशेष रसात्मक अनुभूति, एक विशेष संस्कार, एक विशेष चिंतन-मनन और एक विशेष प्रकार की साधना की माँग करता है। उसी प्रकार, रचनात्मक साहित्य की विधाओं के अनुवाद में भी एक विशेष प्रकार की मानसिकता और मनोविज्ञान की अपेक्षा रहती है। श्री अरविंद के अनुसार कविता में सबसे बड़ी गति तब आती है जब मन चुपचाप हो और आदर्श तत्त्व मस्तिष्क के ऊपर बाहर सहस्र कमल के भी ऊपर स्वयं अपने साम्राज्य में काम करता हो तभी शाश्वत सत्य काव्य-सत्य को अभिव्यक्ति मिलती है। जो क्षमता शेक्सपियर, होमर, वाल्मीकि, तुलसी आदि की कविता में है; वह अगर हो, तो कविता का प्रवाह अवरुद्ध नहीं होता। काव्यानुवाद पर भी यही बात लागू होती है।

काव्यानुवाद के लिए अनुवादक को न केवल दोनों भाषाओं में निष्णात होना होता है; अपितु उसे संवेदनशील होने के साथ-साथ दोनों भाषाओं के सांस्कृतिक संदर्भों का ज्ञान भी अनिवार्य होता है। यही नहीं, उसे दोनों भाषाओं में प्रयुक्त होने वाले वाक्य-विन्यास, ध्वनि-विन्यास, छंदों, प्रतीकों, बिंबों और अलंकारों का भी समुचित ज्ञान होना चाहिए। इन सबसे अधिक, कविता का अनुवाद करते समय यह भी ध्यान रखना होगा कि मूल कविता में समाहित काव्य तत्त्व का अनुवाद में अंतरण हो। वास्तव में, कविता में शब्दों का इस तरह चयन किया जाता है कि साधारण शब्द भी चमत्कारी बन जाते हैं। यही

नहीं, उन शब्दों की नाद-योजना और संगीत कविता को हृदयग्राही बनाता है। इनके अभाव में कविता, कविता नहीं रहती, वह रसहीन रचना बनकर रह जाती है। उमर खैयाम की रूबाइयों का जीवंत अनुवाद करने वाले कवि एडवर्ड फिट्जेराल्ड ने कहा था, ''भुस भरी चील से एक जीवंत गोरैया अच्छी होती है।'' अतः काव्यानुवाद में मूल का नाद सौंदर्य एवं रसात्मक अभिव्यक्ति लाना वस्तुतः कठिन कार्य है।

सूरदास ने भगवान कृष्ण की सुंदर बाल-लीलाओं का वर्णन करते हुए अनेक पदों का सृजन किया था। उनकी एक मनोहारी वात्सल्यपूर्ण कविता है जिसमें बाल कृष्ण यशोदा से अपने बड़े भाई बलदेव की शिकायत करते हैं। इस कविता का आरंभिक अंश यहाँ प्रस्तुत है :

मैया मोहि दाऊ बहुत खिझायौ।
मोसौ कहत मोल को लीनो, तू जसमति कब जायौ?
कहा करो इहि रिस के मारे, खेलन हौं नहीं जात,
पुनि-पुनि कहत कौन है माता, कौ है तेरो तात?

इस कविता का अंग्रेजी अनुवाद देखने को मिला, जो इस प्रकार है :

"Mother, big brother Daau
Teases me a lot
He says that I have been bought,
When did Jasmati given birth to me?
I do not go out to play
Again and again, he says to me
Who is your mother and who is your father?

मूल कविता में शब्द-विन्यास, ध्वनि योजना, संगीत का माधुर्य एवं चमत्कार हृदय को अनायास ही रस प्लावित कर जाता है। प्रस्तुत अंग्रेजी अनुवाद में सबसे बड़ी बात यह है कि यह इस भावभीनी मूल कविता का यंत्रवत किया गया अनुवाद है। इसमें मूल कविता का काव्य तत्व बिलकुल ही अंतरित नहीं हो पाया है जिससे यह मूल पद का अर्थ देकर भी आकर्षणविहीन पंक्तियाँ ही लगती हैं।

उपर्युक्त काव्यांश में 'दाऊ' शब्द का इस्तेमाल किया गया है जोकि रिश्ते-नाते संबंधी एक सांस्कृतिक शब्द है। इसमें अनुवादक ने 'Big Brother Daau' का प्रयोग किया है। यहाँ भारत में सभी जानते हैं कि यहां 'दाऊ' का अर्थ कृष्ण के बड़े भाई बलराम से है। किंतु अनुवाद में उन्हें बड़ा भाई न कहकर 'Big Brother' कहा गया है। क्या वह डील-डौल में कृष्ण से बहुत भारी भरकम थे? इसके अलावा, 'कहा करो इहि रिस के मारे' पंक्ति का अनुवाद किया ही नहीं गया है। इस पंक्ति से कविता का चमत्कार बढ़ा है। इस अनुवाद से यह पता चलता है कि कविता के अनुवाद में

काव्य तत्त्व का सृजन कितना कठिन कार्य है। किंतु इसका यह अर्थ भी नहीं है कि कविता का अनुवाद हो ही नहीं सकता। अंग्रेजी के रोमांटिक काल की अनेकानेक कविताओं का हिंदी कवियों ने सुंदर अनुवाद किए हैं। नीचे अंग्रेजी के प्रसिद्ध कवि कीट्स की एक कविता का अंश उसके अनुवाद के साथ दिया जा रहा है :

"With every morn their love grew tenderer,
With every eve deeper and tenderer still;
He might not in house, field or garden stir,
But her full shape would all his seeing fill,"

अनुवाद :

''हर प्रभात के साथ प्रेम उनका होता था कोमलतर
हर संध्या के साथ, और गंभीर और भी कोमल
चाहे घर में या कि खेत, उपवन में ही वह रहा विहर
प्रिया-मूर्ति ही उसके नयन के समक्ष रहती है प्रतिपल।''

इस अनुवाद में कविता का भाव एवं आशय पूर्णतया अंतरित हो गया है। साथ ही काव्य सौंदर्य की छटा भी देखते ही बनती है। अंग्रेजी कवि शैली की एक कविता की विश्वविख्यात दो पंक्तियाँ स्वयं में एक दर्शन की द्योतक हैं :

"Our Sweetest Songs are those
that tell of saddest thought."

मैंने इसका हिंदी में इस प्रकार अनुवाद किया है जो मुझे लगता है कि बेहतर बन पड़ा है :

''हमारे मधुरतम गीत वहीं होंगे
हमारी करुण व्यथा को स्वर देंगे।''

इस अनुवाद में मूल के कथ्यगत भाव एवं विचार सुंदर ढंग से मात्रिक छंद में पिराए गए हैं। विश्लेषण करने पर यह कहा जा सकता है मूल कविता का पूरा का पूरा अर्थ अनूदित अंश में आ गया है। ऐसे अनुवाद को ही पुनःसृजन कहा जा सकता है। इसमें रचना की संरचनात्मक विशेषता का अंतरण किया गया है। इसमें उल्लेखनीय यह भी है कि अंग्रेजी के इन ग्यारह शब्दों को हिंदी के ग्यारह शब्दों में ही समाहित किया गया है।

अंग्रेजी की 'Tree' नामक कविता में प्रकृति संबंधी सामान्य भावों को व्यक्त करते हुए सहज एवं सरल भाषा का प्रयोग किया गया है किंतु इसका भी शब्दानुवाद न कर उसे भावानुवाद के माध्यम से संगीतमय पद्य में उकेरा गया है :

"I went upto an enchanting tree
And whispered into its long-long ears

Why are you so huge and tall
Since when you have been here."

इसका हिंदी अनुवाद मैंने इस प्रकार किया है :

''मैंने एक बरगद को थपथपाया
उसके लंबे कानों में गुनगुनाया
क्यों हो तुम इतने बृहद् एवं विशाल
कब से हरियाली का कर रहे कमाल?''

इस काव्यानुवाद के संदर्भ में, विश्लेषण के रूप में दो शब्द कहना चाहती हूँ। मूल अंश में एक विशाल एवं ऊँचे पेड़ का वर्णन है। इसलिए इसके हिंदी अनुवाद में 'enchanting' का शब्दानुवाद न कर पेड़ के समग्र चित्र को ध्यान में रखकर 'बरगद' का इस्तेमाल किया गया है, और 'whispered' के लिए 'फुसफुसाना' न कर 'गुनगुनाया' किया गया है। इसी प्रकार 'since when you have been here' का सीधा अनुवाद न कर उसे काव्यात्मकता की खुशबू में ढाल कर 'कब से हरियाली का कर रहे कमाल' किया गया है जिससे नाद-सौंदर्य के साथ उसमें चमत्कार का भाव भी उपजा है। कहने का अभिप्राय यह है कि अनुवाद के लिए सर्वप्रथम रचना के समग्र भाव को आत्मसात् करना चाहिए।

काव्यानुवाद इसलिए भी कठिन होता है कि कविता का स्वरूप अमूर्त होने के साथ-साथ तरल भी होता है। कविता में शब्द का केवल अर्थ ही नहीं होता, उसका अर्थांतर भी होता है। ''शब्द की अपनी ध्वनि होती है, अपना संगीत होता है, अपना विशिष्ट संस्कार, परिवेश और इतिवृत्त होता है। दूसरे शब्दों में काव्य में शब्द का माहात्म्य केवल उसके अर्थ तत्व के कारण नहीं, ध्वनि, अर्थ, भाव और रस के कारण भी होता है... कविता का अर्थ स्वयं कविता है।'' (नगीन चंद सहगल)। कविता का अनुवाद कितना ही दुष्कर क्यों न हो, विश्व में और भारत में काव्यानुवाद सतत होता रहा है। भारत में अंग्रेजी कवियों की कृतियों के काफी अनुवाद हुए हैं। रोमांटिक काल के प्रसिद्ध कवियों -- पी.बी. शैली, वर्ड्सवर्थ और जॉन कीट्स -- की अनेक कविताओं के यतेंद्र कुमार ने अनुवाद किए हैं और उन्होंने अपनी अनुवाद साधना से इन कवियों के कृतित्व से हिंदी जगत को परिचित कराया है। डॉ. हरिवंश राय बच्चन ने डब्ल्यू.बी. यीट्स की 101 कविताओं का अनुवाद करके यह सिद्ध कर दिया है कि संवेदनशील अनुवादक कविता की मूल सत्ता से टकराकर उसका लक्ष्य भाषा में संप्रेषण कर सकता है।

ड्राइडन के अनुसार काव्यानुवाद के लिए अनुवादक में दोनों भाषाओं पर अधिकार के साथ कवि प्रतिभा भी होनी चाहिए। अनुवादक में कवि प्रतिभा का अर्थ है कि

उसे कविता के विचार और अभिव्यक्ति के बारे में गहन जानकारी हो। स्वयं ड्राइडन के शब्दों में : ''जिस व्यक्ति में कवि प्रतिभा के साथ-साथ मूल लेखक की भाषा और अपनी भाषा पर अधिकार नहीं है वह कविता का अनुवाद नहीं कर सकता। हमें कवि की भाषा का ही नहीं, उसके विचार और अभिव्यक्ति के हर मोड़ की जानकारी हो क्योंकि इन विशेषताओं से ही उसके व्यक्तित्व की पहचान बनती है जिसके आधार पर उसे अन्य लेखकों से अलग किया जा सकता है। यहाँ तक पहुँच जाने के बाद हम अपने अंदर देखें, अपनी प्रतिभा को उसके अनुरूप बनाएँ, उसके विचार को -- यदि हमारी भाषा बर्दाश्त कर सके -- या तो वहीं मोड़ दे अन्यथा उसका परिधान बदल दे और उसके सार को परिवर्तित या नष्ट न होने दें।'' (''ड्राइडन के आलोचना सिद्धांत'' डॉ. कृष्णदत्त शर्मा)

डॉ. हरिवंश राय बच्चन स्वयं उच्च कोटि के कवि तो थे ही, वह सर्वश्रेष्ठ अनुवादक भी सिद्ध हुए। बच्चन जी ने यीट्स के काव्य पर आयरलैंड में रहकर शोध किया था और वह इस आयरिश कवि के न केवल काव्य से अपितु वहाँ के परिवेश से भी परिचित थे। स्वयं काव्यानुवादक के शब्दों में ''यीट्स खोजते रहे दर्शन और उन्हें प्राप्त होती रही कविता। यीट्स की इस शोध की सबसे बड़ी उपलब्धि थी, कविता की दृष्टि से, प्रतीकों की समझदारी, उनमें नए-नए प्रतीकों को निर्मित करने की शक्ति...। आधुनिक समय में यीट्स प्रतीकात्मक अभिव्यक्तियों के शायद सबसे बड़े और सूक्ष्म कलाकार हैं। प्रतीकों को चुनने, उन्हें साहित्य, कला और संस्कृति की परंपरा से जोड़ने, उनमें अर्थों की गहराई भरने और उन्हें नए-नए संदर्भों में संयुक्त करने में यीट्स ने जो काव्य-कला की मर्मज्ञता प्रदर्शित की है वह आज विद्वानों के लिए अनुसंधान का विषय है।'' (मरकत द्वीप के स्वर)

बच्चन जी ने यीट्स की प्रेम-प्रधान अनेक कविताओं का अनुवाद किया है। 'The Lake Isle of Innisfree' कविता का एक अंश प्रस्तुत है :

I will arise and go now, and go to Innisfree,
And a small cabin build there, of clay and wattlesmade;
Nine bean rows will I have there, a hive for the honey bee,
And live alone in the bee loud glade.

इस अंश का उनका अनुवाद देखिए :

''अभी यहाँ से उठकर चलकर इनिसफिरी को जाऊँगा
मिट्टी सरकंडों की छोटी कुटिया एक बनाऊँगा
तरु पर एक शहद का छत्ता, मटर सतर नौ माटी में
यहाँ करूँगा वास अकेले, मधुकर गुंजित घाटी में।''

इस अंश में मूल कविता में अभिव्यक्त विचार और रससिक्त काव्य तत्त्व संपूर्ण वैभव के साथ अंतरित हुआ है। यदि कोई अनुवादक स्रोत भाषा की कृति का गहन अध्ययन कर उसे पूरी तरह से आत्मसात् कर लेता है और उसके काव्य पक्ष के साथ-साथ उसके कला पक्ष का भी अध्ययन कर उसे हृदयंगम करता है जो अनुवाद किया जाता है वह वस्तुतः अच्छा अनुवाद बन जाता है। ऐसे ही अनुवाद में मूल कृति का पूरा प्रतिबिंब उभर कर सामने आता है। यीट्स अंग्रेजी के महान कवि हैं जिन्हें अपने काव्य अवदान के लिए 1993 में नोबल पुरस्कार भी प्राप्त हुआ था। बच्चन जी ने यीट्स की 101 कविताओं का 'मरकत द्वीप के स्वर' के नाम से काव्यानुवाद किया है। इसके परिशिष्ट में बच्चन जी यीट्स के बारे में लिखते हैं -- ''यीट्स की कविता का सबसे बड़ा गुण है प्रजा, जिससे हमारा तात्पर्य है विचारों और भावनाओं के स्थायी मूल्य से, जीवन के हर्ष-विषाद, प्रेम-घृणा आदि द्वंद्वों को साहस, निर्भीकता और मानव की पौरुषपूर्ण गरिमा के स्वीकार करने से और अंततः उस निरपेक्षता, संयम, संतुलन और गार्भीय से, जो जीवन के भोक्ता को नहीं, जीवन के दृष्टा को प्राप्त होता है। यीट्स की कविता के इन्हीं गुणों ने उसे सार्वभौमिकता प्रदान की है कि संसार में सब जगह, जहाँ भाषा का व्यवधान नहीं है, उसके प्रेमी और प्रशंसक हैं।''

यीट्स की कुछ कविताओं का मैंने भी अनुवाद किया है, जिनमें से दो कविताएँ 'अनुवाद' पत्रिका में प्रकाशित हो चुकी हैं। उनमें से एक कविता 'The Second Coming' को यहाँ उद्धृत करते हुए उसका अनुवाद भी दिया जा रहा है :

The Second Coming

Turning and turning in the widening gyre
The falcon cannot hear the falconer;
Things fall apart; the centre cannot hold;
Mere anarchy is loosed upon the world,
The blood-dimmed tide is loosed, and everywhere
The ceremony of innocence is drowned;
The best lack all conviction, while the worst
Are full of passionate intensity.

Surely some revelation is at hand;
Surely the Second Coming is at hand.
The Second Coming! Hardly are those words out
When a vast image out of Spiritus Mundi
Troubles my sight: a waste of desert sand;
A shape with lion body and the head of a man,

A gaze blank and pitiless as the sun,
Is moving its slow thighs, while all about it
Wind shadows of the indignant desert birds.
The darkness drops again but now I know
That twenty centuries of stony sleep
Were vexed to nightmare by a rocking cradle,
And what rough beast, its hour come round at last,
Slouches towards Bethlehem to be born?

हिंदी अनुवाद :

होगा पुनः अवतार

''विस्तृत होते नभ घूर्णन में घूम रहा,
सुन न सके श्येन श्येनिक स्वर
छिन्न भिन्न सब, रहा नहीं नियंत्रण केंद्र का,
उत्पात मचाती भूतल पर अराजकता,
रक्त-सना ज्वार चढ़ अनियंत्रित
कर गया संस्कृति को पद-मर्दित।
प्रबुद्ध आस्थाहीन, मतिमूढ़ भाव प्रवीण।
निश्चय ही होगी अब अवतरित कोई दैवी शक्ति
अब निश्चय ही होगा पुनः अवतार।

'होगा पुनः अवतार',
निकले ही थे शब्द मुख से
उद्विग्न कर गया एक दृश्य
आविर्भूत हो 'आत्मा सदन' से
विशालकाय एक प्रतिछाया
लिए सिंह देह, सिर मानव का
कहीं मरुस्थल की रेती में
सूर्य-सी क्रूर शून्य दृष्टि से
बढ़ रहा वह नरसिंह
धीरे-धीरे सुस्ताता।

मरु तल में घूम रही

क्रोधाकुल पक्षियों की छाया
अंधकार फिर उतर आया
किंतु अब मैं जान गया हूँ
निश्चय ही पहचान गया हूँ
बीस शतियों की पाषाणी निद्रा --
दुःस्वप्न बनेगी झूलते पलने से,
अंततः अब समय आया है
बढ़ रहा नरसिंह धीरे-धीरे
बेतलहम की ओर पुनः जन्म लेने।''

भारतीय सांस्कृतिक मूल्यों से यीट्स विशेष रूप से प्रभावित थे। वह अपने यौवनकाल में भारत की थियोसोफिकल सोसाइटी के एक प्रमुख सदस्य मोहिनी चटर्जी के संपर्क में आए, प्रौढ़काल में कविवर रविंद्रनाथ टैगोर और वृद्धावस्था में पुरोहित स्वामी के संपर्क में आए। पुस्तकों के द्वारा भी भारतीय दर्शन और काव्य से उनका घनिष्ठ परिचय था। इस सबका उनके अपने काव्य पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। 'The Second Coming' कविता में जिस विचार और दर्शन को अभिव्यक्ति दी गई है वह वस्तुतः भारतीय दर्शन से प्रभावित है।

'The Second Coming' कविता में प्रयुक्त प्रतीक और बिंब इस बात को इंगित करते हैं कि कैसे अहिंसा और अराजकता की स्थिति है जिसमें कहीं किसी का नियंत्रण नहीं है। ऐसी स्थिति में सज्जन व्यक्तियों का वर्चस्व नहीं रहा। केवल दुष्ट लोग उत्पात मचा रहे हैं। ऐसे में अर्थात् जैसे घोर अंधकार के बाद प्रभात का आगमन होता है और जैसे जब पृथ्वी घोर पापों और दुष्टों से भर जाती है तो भगवान किसी न किसी रूप में अवतार लेकर पापियों का नाश करते हैं और धरा का उद्धार करते हैं।

प्रस्तुत कविता में जिस संभावित अवतार की कल्पना की गई है, वह है -- 'A shape with a lion body and the head of a man' जिसका मैंने अनुवाद किया है, 'लिए सिंह देह, सिर मानव का' 'नरसिंह'। भारत की पौराणिक कथाओं में भक्त प्रह्लाद की कथा आती है जिसमें अपने भक्त की रक्षा करने के लिए भगवान विष्णु ने 'नरसिंह' अवतार लिया था और पापी राजा हिरण्याकश्यप का नाश किया था।

वास्तव में इस कविता में पश्चिमी दर्शन और भारतीय दर्शन का समन्वय किया गया है। जो अवतार होगा उसकी प्रतिछाया 'आत्मा सदन' (Spiritus Mundi) से आविर्भूत हो रही है।

इस प्रतिछाया में प्रदर्शित 'क्रूर दृष्टि' पापियों के नाश के लिए है। नरसिंह अवतार

द्वारा पापियों के नाश की संभावना को देखते हुए क्रोधाकुल पक्षी अभी से आकाश में मंडराने लगे हैं जबकि प्रतिछाया बेतलहम की ओर बढ़ गई है। बेतलहम में ही ईसा मसीह का जन्म हुआ था। प्रतीकों और बिंबों से समृद्ध यह कविता स्वयं में विश्व-परित्राण की कामना के लिए एक अनूठा दस्तावेज है। अनुवाद करते समय यह प्रयास किया गया है कि प्रतीकों और बिंबों को पूरी तरह हिंदी में उतार लिया जाए।

जैसा कि पहले उल्लेख किया गया है यतेंद्र कुमार ने अंग्रेजी रोमांटिक काल के प्रसिद्ध कवि विलियम वर्ड्सवर्थ, शैली और कीट्स की काव्यकृतियों और कविताओं के सुंदर अनुवाद किए हैं। उनके अनुवादों में मूल कविता के कथ्य के साथ-साथ भाषा और कला पक्ष भी सुंदर रूप में अवतरित हुआ है। शैली की प्रसिद्ध कविता 'Ode to a Skylark' का यतेंद्र जी का अनुवाद बहुत सुंदर बन पड़ा है। इस विश्व प्रसिद्ध कविता का निम्नलिखित अंश देखिए :

"Hail to thee, blithe spirit!
Bird thou never wert-
That from Heaven or near it
Pourest they full heart
In profuse strains of unpremeditated art.
Higher still and higher
From the earth thou springest,
Like a cloud of fire;
The blue deep thou wingest,
And singing still dost soar, and
soaring ever singest."

कवि शैली गगन में परवेज लगाते इस पक्षी को देखता है और उसे सुंदर गीतों का गायक बताता है, जो उड़ता भी रहता है और गाता भी रहता है। वह मानो गाने के लिए ही ऊँचे और ऊँचे उड़ान भरता जाता है जो मानस की अध्यात्म की ओर फलाँगने का प्रतीक भी है। सहज-सरल भाषा में प्रमुदित भावों के प्रवाह को समृद्ध प्रतीकों के माध्यम से अभिव्यक्ति दी गई है। यतेंद्र जी ने इस कविता में अनुस्यूत काव्य और संगीत, छंद और प्रतीकों को अनुवाद में समग्र चेतना और कौशल से ढाला है। उपर्युक्त अंश का अनुवाद देखिएः

''प्रमुदित प्राण! तुझे अभिवादन।
कभी न था तू खग निश्चय।
नभ के या इसके समीप से,
परस रहा संपूर्ण हृदय।
पूर्व-चिंतन-हीन कलामय, गीतावलि से भर अतिशय।

ऊँचे और बहुत ऊँचे चढ़,
धरती से कुदान भर कर
अनल मेघवत्, अबालील तू
चढ़ता नीलिम पंखों पर
उड़ने को चढ़ता तू गाता, गाता जब चढ़ता जाता।''

इसी प्रकार, वर्ड्सवर्थ की कविता। 'Immortality ode' का एक सुंदर अंश दिया जा रहा है जिसका अनुवाद भी यतेंद्र कुमार ने किया हैः

"Heaven lies about us in our infancy!
Shades of the prison-house begin to close
Upon the growing boy,"

× × × ×

''बसता स्वर्ग हमारे चारों ओर, हमारी शैशव वय में
कारागृह की छायाएँ लगती है घिरने
ज्यों-ज्यों वह किशोर्य-वय में लगता बढ़ने।''

उपर्युक्त उदाहरण काव्यानुवाद के सुंदर नमूने हैं। इन कविताओं में मौलिकता का उन्मेष हुआ है। यदि किसी पाठक को यह न पता हो कि यह किन्हीं कविताओं के अनुवाद हैं तो वह इन्हें मौलिक कविताएँ मान सकता है। कहने का अभिप्राय यह है कि काव्यानुवाद दुष्कर होते हुए भी संभावना और 'संभव' की कसौटी पर खरा उतर सकता है, बशर्ते उसे पूरी लग्न और निष्ठा से किया जाए।

हिंदी काव्य और काव्य-कृतियों के भी अंग्रेजी में अनुवाद किए गए हैं और किए जा रहे हैं। रामचरितमानस का कई अंग्रेजी विद्वानों ने अनुवाद किया है तो 'कामायनी' महाकाव्य के भी अब तक कई अनुवाद हो चुके हैं। किंतु प्रश्न यही उठता है कि हिंदी कविता का कितना काव्य तत्त्व और कला तत्त्व अंतरित हो पाया है? इस पर अभी अधिक विचार नहीं हुआ है। कुछ वर्ष पहले अटल बिहारी वाजपेयी की 21 कविताओं का अंग्रेजी अनुवाद पवन वर्मा ने किया था। इस पुस्तक में अनुवादक के वक्तव्य में श्री अटल बिहारी वाजपेयी के काव्य और इस अनुवाद के बारे में पवन वर्मा ने निम्नलिखित मत व्यक्त किया है :

'Rhyme and metre are important to the poet and he employs images and symbols peculiar to traditional Hindi Literature. Much of this is impossible to capture in modern English. My attempt has been to make the translations work as poems in themselves, while retaining the meaning and the essential music of the orginals. To achieve this, in a few places I have taken liberty to 'transcreate'.

अटल जी की कविताओं में सच्ची एवं प्रामाणिक अनुभूतियों का चित्रण हुआ है, फिर चाहे वह राष्ट्र-प्रेम की उदात्त स्वर लहरी हो, परतंत्रता या देश विभाजन के कारण आंतरिक पीड़ा की अभिव्यक्ति हो, वे उसे ईमानदारी से स्वर देते हैं। उनमें मानवता कूट-कूट कर भरी है तभी वह अपनी एक कविता 'ऊँचाई' में कहते हैं :

''ज़रूरी यह है कि
ऊँचाई के साथ विस्तार भी हो
ठूँठ-सा खड़ा न रहे जिससे मनुष्य
औरों से घुले-मिले
किसी को साथ ले
किसी के संग चले।''

इस कविता की अंतिम पंक्तियाँ प्रार्थना के रूप में हैं :

''हे प्रभु!
मुझे इतनी ऊँचाई कभी मत देना
गैरों को गले न लगा सकूँ
इतनी रूखाई कभी मत देना।''

पवन वर्मा ने अटल जी की कविताओं का अनुवाद करते समय लगभग पंक्ति-दर-पंक्ति अनुवाद किया है :

"What matters is this :
that there be expanse with height
So that a man
is not fixed and dead as a stump
But blends in and belongs with others,
Winning some to his cause,
falling in steps with others.
... ...
My Lord!
Never place Me So Hgh
That I Cannot Embrace
Those Who Are Not My Own."

जैसा कि स्पष्ट है कविता साहित्य की विशिष्ट रचनात्मक एवं संवेदना-परक चेतना से संपन्न होती है, अतः उसका किसी दूसरी संस्कारगत भाषा में अनुवाद सुगम नहीं होता। वह अनुवाद मूल की पुनर्रचना (transcreation) होता है जिसमें मूल का कथ्य और विचार, संस्कार और चेतना अभिव्यक्त होकर भी उसमें कुछ भेद तो आ ही जाता है।

❑

डॉ. नगीन चंद सहगल

काव्यानुवाद : कठिनाइयाँ एवं संभावनाएँ

संपूर्ण वाङ्मय को स्थूल रूप से दो भागों में विभक्त किया जा सकता है -- ज्ञानप्रधान साहित्य अथवा 'शास्त्र' और रसप्रधान साहित्य अथवा 'काव्य'। 'शास्त्र' और 'काव्य' का अंतर संक्षेप में यह कहकर प्रकट किया जा सकता है कि मूलतः तथ्यात्मक होने के कारण शास्त्र में शास्त्रकार का अनुभव शब्दबद्ध होता है और भावात्मक होने के कारण काव्य में काव्यकार की अनुभूति मुखरित होती है। शास्त्र मुख्यतः मस्तिष्कजन्य होता है और काव्य हृदय-प्रसूत। अतएव शास्त्र पाठक को उद्‌बोधित करता है और काव्य आनंदित।

'शास्त्र' और 'काव्य' का यह अंतर स्पष्ट करने के लिए एक उदाहरण अप्रासंगिक न होगा। अपने-अपने अनुभव-अनुभूति के बल पर एक ही वर्ण्य-विषय -- बादल -- का वर्णन शास्त्रकार भी करता है और काव्यकार भी। शास्त्रकार बादल का परिचय इस प्रकार देगा -- ''बादल जल-बिंदुओं का वह समूह है जो समुद्र, झील एवं नदियों के पानी से वाष्पन द्वारा उत्पन्न भाप के संघनन के कारण वायुमंडल में काफी ऊँचाई पर बन जाता है।''

इस परिभाषा से हमें पता लग जाता है कि बादल क्या होता है, उसे बनाने वाले तत्त्व कौन-से हैं और वह अपना बादल-रूप किस प्रक्रिया द्वारा ग्रहण करता है। संक्षेप में बादल विषयक ज्ञान के लिए जो जानकारी अभीष्ट है, वह हमें उक्त परिभाषा द्वारा प्राप्त हो जाती है। शास्त्रकार की सफलता की कसौटी भी यही है।

किंतु काव्यकार केवल तथ्य का आलेखक नहीं होता। वह तथ्य को भाव का परिधान प्रदान करता है। अतः शास्त्रकार द्वारा प्रस्तुत बादल की भाव परिभाषा कवि-कंठ से इस रूप में प्रस्फुटित होती है :

धरती का जल सूख-सूखकर उड़ जाता है।
नभ में जाकर वह 'जलद' पदवी पाता है।।

यहाँ भी प्रक्रिया वही है जिसका उल्लेख शास्त्रकार किया करता है। कवि की उक्ति में 'वाष्पन' के स्थान पर 'सूख-सूखकर उड़ना है', 'समुद्र, झील एवं नदियों के पानी' के स्थान पर 'धरती का जल' है और 'वायुमंडल की काफी ऊँचाई' 'नभ' द्वारा अभिव्यक्त कर दी गई है। किंतु यहाँ इस स्थूल तथ्य से अधिक भी कुछ है और यही 'कुछ' उस उक्ति का प्राणतत्त्व है, काव्यकार की देन है, उसकी कृति का रस है।

वह प्राणतत्त्व क्या है? बादल के प्रस्तुत चित्र द्वारा कवि मानो मानव-जीवन में साधना अथवा तपस्या का महत्त्व प्रतिपादित कर रहा है। सूर्य की प्रखर रश्मियों के ताप से सूख-सूख कर ऊपर उठने पर ही 'धरती' का जल 'आकाश' -- उच्चतम स्थिति तक पहुँचता है। इतना ही नहीं स्वयं 'जलद' बन जाता है। साधना द्वारा मनुष्य उच्चतम स्थिति तक पहुँच सकता है। कवि बादल का परिचय देने के बहाने यह संदेश भी दे रहा है। हमें पूर्ण सफलता के लक्ष्य तक पहुँचाने वाली अनेक सीढ़ियाँ हैं और श्रममूलक प्रयास ही स्थाई प्रगति अथवा गौरवपूर्ण सफलता का मूलाधार है।

काव्य-पथ पर अगला कदम उठाने पर बादल का एक नया चित्र हमारे सामने आता है :

हम सागर के धवल हास हैं,
जल के धूम, गगन की धूल,
अनिल-फेन, उषा के पल्लव,
वारि-वसन वसुधा के मूल
नभ में अवनि, अवनि में अंबर
सलिल-भस्म, मारुत के फूल
हम ही जल में थल, थल में जल
दिन के तम, पावक के तूल --

शास्त्रकार के शब्द-उपकरण -- सागर, जल, धूम, गगन, अनिल आदि -- यहाँ भी विद्यमान है, किंतु समग्र चित्र सर्वथा स्वतंत्र और नवीन है। काव्य की यह नवीनता ही उसे शास्त्र से अलग करती है और यही विशेषता काव्य के अनुवाद में, शास्त्र के अनुवाद से भिन्न, कुछ विशिष्ट कठिनाइयाँ उत्पन्न कर देती है।

तथ्य प्रधान होने के कारण शास्त्र के अनुवाद की अधिकतर समस्याओं का समाधान दो बातों के आधार पर हो जाता है -- 1. प्रस्तुत विषय का; और 2. संबंधित दोनों भाषाओं का सम्यक् ज्ञान। काव्यानुवाद के क्षेत्र में समस्याएँ इतनी सरल नहीं। सामान्यतः सामने आने वाली अनेक कठिनाइयों के अतिरिक्त काव्य के दोनों मुख्य रूपों -- गद्य तथा पद्य और उन दोनों की विविध विधाओं -- प्रबंध काव्य, गीतिकाव्य, उपन्यास, कहानी, नाटक आदि के अनुवाद की अपनी-अपनी समस्याएँ हैं जिनका सामना प्रत्येक अनुवादक

को करना पड़ता है। सामान्यतः कहा जा सकता है कि पद्यात्मक साहित्य अथवा कविता की अपेक्षा गद्यात्मक साहित्य का अनुवाद सहज होता है। इस दृष्टि से पद्यानुवाद को काव्यानुवाद की कसौटी भी जाना जा सकता है।

वस्तुतः पद्यानुवाद की कठिनाइयाँ इतनी अधिक एवं प्रत्यक्ष हैं कि उन्होंने यदि एक ओर इस कार्य को अत्यधिक महत्त्वपूर्ण बना दिया है, तो दूसरी ओर इसे अत्यंत विवादास्पद भी बना दिया है। फलतः अनेक चिंतकों ने स्पष्ट शब्दों में घोषित कर दिया है कि उत्कृष्ट स्तर वाले साहित्यिक पुरा-ग्रंथों का अनुवाद मूल की कला और सौंदर्य को उपयुक्त रूप में अक्षुण्ण रखते हुए एक भाषा से दूसरी भाषा में कर सकना असंभव है। इस संबंध में प्रायः अनेक महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाए जाते हैं -- क्या किन्हीं दो शब्दों का अर्थ पूर्णतः समान होता या हो सकता है? किसी कविता में अभिव्यक्त विचार को एक भाषा से दूसरी भाषा में रूपांतरित-मात्र कर देने से क्या अनुवादक का कार्य पूरा हो जाता है? स्वयं विचारों को उन शब्दों से कहाँ तक पृथक् किया जा सकता है जिनमें वे पिरोए हुए होते हैं? आदि, आदि।

इस प्रकार के प्रश्नों के आधार पर प्रायः यह कहा जाता है कि गद्य-साहित्य का अनुवाद भले ही संभव हो, किंतु कविता का अनुवाद तो सर्वथा असंभव बात है। अनुवाद्यता की दृष्टि से गद्य और पद्य के अंतर का कारण यह माना जा सकता है कि गद्य में भाषा का प्रयोग कुछ इस प्रकार किया जाता है कि उसमें निहित विचारों, घटनाओं आदि को उससे अलग करके उन्हें दूसरी भाषाओं में व्यक्त किया जा सकता है, किंतु कविता में शब्द का उसकी अर्थवत्ता के साथ ऐसा अभिन्न संबंध होता है -- शब्द और अर्थ इतने एकाकार होते हैं कि उन्हें पृथक् नहीं किया जा सकता।

इस विचारधारा के समर्थन में कुछ अन्य तर्क संक्षेप में इस प्रकार प्रस्तुत किए जा सकते हैं :

काव्य-कला अंततः उन शब्दों पर निर्भर रहती है, जिनके द्वारा उसकी अभिव्यक्ति होती है और यहाँ शब्द केवल अर्थ का भारवाहक नहीं होता, उसकी अपने-आप में भी कुछ सत्ता-महत्ता होती है, उसकी अपनी ध्वनि होती है, अपना संगीत होता है, अपना विशिष्ट संस्कार, परिवेश, इतिहास और रूप-वैभव होता है। दूसरे शब्दों में, काव्य में शब्द का महात्म्य केवल उसके अर्थतत्त्व के कारण नहीं ध्वनि, संगीत, अर्थ, भाव और रस -- सभी तत्त्वों के कारण होता है। उदाहरणार्थ ''अलि भौर गूंजन लगे होन लगे दल पात'' के स्थान पर ''सखी भ्रमर गुंजित हुए गिर नर्गर पात पड़ंत'' लिख देने से उस उक्ति के सामान्य अर्थ की प्रतीति भले ही हो जाती हो, काव्य के वास्तविक प्रयोजन -- रसनिष्पत्ति -- की सिद्धि उसी अनुपात में नहीं हो पाती। इसीलिए प्रायः

कहा जाता है कि कविता का अर्थ उसमें प्रयुक्त शब्दों के अर्थों का योग-मात्र नहीं होता, कविता का अर्थ स्वयं कविता है। ऐसी स्थिति में किसी एक भाषा के किन्हीं दो शब्दों अथवा किन्हीं दो भाषाओं के दो पर्यायवाची शब्दों को पूर्ण पर्याय नहीं माना जा सकता -- ठीक उसी प्रकार, जैसे किसी एक वृक्ष के दो पत्तों को पूर्ण प्रतिरूप सिद्ध नहीं किया जा सकता। पूर्ण पर्यायों के बिना अनुवाद कैसे हो सकता है?

काव्यानुवाद के संबंध में अभिव्यक्त इस सैद्धांतिक असंभाव्यता की उपस्थिति में भी विश्व के सभी भागों और सभी भाषाओं में काव्यानुवाद का कार्य अनवरत रूप से होता रहा है। इतना ही नहीं, काव्यानुवादकों का महत्त्व दिन-प्रतिदिन अधिकाधिक अनुभव किया जाने लगा है। केवल पुस्तकालयों में ही अनुवादों को मूल कृतियों के समकक्ष स्थान नहीं प्रदान किया जाने लगा है, विश्व के प्रायः सभी देशों के प्रसारण-कार्यक्रमों आदि में भी अनुवादों तथा रूपांतरों आदि को अत्यधिक महत्त्व दिया जाने लगा है। वस्तुतः अब तो विभिन्न भाषाओं में काव्यानुवाद का परिमाण इतना अधिक हो चुका है कि उसके आधार पर काव्यानुवाद-परंपरा का एक वृहद् इतिहास लिखा जा सकता है तथा एक सर्वांगपूर्ण अनुवादशास्त्र की रचना भी संभव हो गई है।

इस परस्पर विरोधी स्थिति का कारण क्या है? यदि काव्यानुवाद असंभव है, तो विभिन्न देशों तथा भाषाओं में उसकी सुदीर्घ तथा अनवरत परंपरा आज भी अविच्छिन्न क्यों है और यदि काव्यानुवाद निरंतर साहित्य के अध्येयताओं को उल्लसित-आनंदित करते रहे हैं तो काव्यानुवाद-कार्य असंभव अथवा निरर्थक कैसे मान लिया जाए? वास्तव में इस विरोधाभास का मूल कारण यह है कि साहित्य-जगत के कुछ नीम-हकीमों ने 'स्वस्थ' काव्यानुवाद के कुछ विशेष लक्षण निर्धारित कर लिए हैं और उन्हीं लक्षणों अथवा पूर्वाग्रहों के आधार पर काव्यानुवाद को शव अथवा शिव घोषित करने की भ्रामक परिपाटी चल रही है। इस प्रकार के कुछ पूर्वग्रह निम्नलिखित हैं :

1. शब्द विषयक आग्रह : कोई भी अनुवाद सामने आने पर ये महानुभाव सबसे पहले मूल से उसका मिलान करके यह पता लगाते हैं कि मूल के किस-किस शब्द अथवा वाक्यांश को अनुवाद में छोड़ दिया गया है और अनुवाद का कौन-कौन सा शब्द अनुवादक ने अपनी ओर से जोड़ा है। यदि ऐसे कुछ शब्द मिल भी जाते हैं तो उनकी दृष्टि से अनुवाद 'पापकर्म' बन जाता है और अनुवादक 'प्रवंचक'।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है काव्य में शब्द शास्त्र की भांति केवल अर्थ का भारवाही नहीं होता, वह तो अर्थवान होने के साथ-साथ उससे कहीं अधिक एक अमूर्त भाव का प्रतीक होता है। इतना ही नहीं, यहाँ तो शब्द रस परिपाक का प्रधान साधन भी होता है। ऐसी दशा में यह संभव नहीं है कि किसी एक भाषा के शब्द-विशेष द्वारा अभिव्यक्त बात किसी दूसरी भाषा के शब्द-विशेष द्वारा यथावत् कही जा सके।

इसीलिए काव्यानुवाद मूल शब्द में निहित अर्थ, भाव, संगीत अथवा रसगत सौंदर्य को आत्मसात् करके उसे अनुवाद की भाषा में किसी एक अथवा अनेक शब्दों द्वारा अभिव्यक्त करता है। विलियम शेक्सपीयर कृत 'मैकबेथ' में लेडी मैकबेथ की चिकित्सा करने में असमर्थ डॉक्टर की उक्ति है :

"More needs she the divine than the physician."

इस पंक्ति के दो हिंदी-अनुवाद उपलब्ध हैं :

(अ) 'उन्हें तो किसी महात्मा या संत की आवश्यकता है, डॉक्टर उन्हें ठीक नहीं कर सकता।'

(आ) 'मैं तो खाली तन का रोग मिटा सकता हूँ,
इन्हें चाहिए मन की मैल छुड़ाने वाला।'

स्पष्ट है कि शब्दानुवाद की दृष्टि से प्रथम अनुवाद चाहे जितना भी सफल क्यों न हो, काव्यानुवाद की दृष्टि से द्वितीय अनुवाद ही सफल है।

2. छंद विषयक आग्रह : अनुवाद-कला के कुछ पारखी यह घोषणा करने लगे हैं कि छंदोबद्ध रचना का अनुवाद अनिवार्यतः छंदोबद्ध (सतुकांत) ही होना चाहिए। इतना ही नहीं, अनुवाद का छंद मूल के अनुरूप भी होना अनिवार्य है।

इस संबंध में वस्तुस्थिति यह है कि आधुनिक काव्य मर्मज्ञ छंद को काव्य का ही अनिवार्य अंग मानने में संकोच करने लगे हैं। ऐसी दशा में छंदोबद्ध रचना के अनुवाद के लिए छंद की अनिवार्यता का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। मूलतः गीतों के रूप में रचित रवींद्रनाथ ठाकुर की अमर-कृति 'गीतांजलि' का अंग्रेजी-अनुवाद गद्य में है और उसी अनुवाद के आधार पर कवींद्र की कृति नोबेल पुरस्कार की अधिकारिणी मानी गई।

3. शैली विषयक आग्रह : शब्दों अथवा छंदों तक ही सीमित न रहकर उपर्युक्त वर्ग के विचारक यह आग्रह भी करते हैं कि अनुवाद में मूल कृति की शैलीगत विशेषताओं का भी पूर्णतः समावेश होना चाहिए। अतः वे अनुवाद में उनका अभाव होने पर अनुवाद-कार्य का महत्त्व ही अस्वीकार कर देते हैं।

काव्य-कृतियों की शैली विषय-भेद में ही नहीं, कवि-भेद से भी भिन्न होती है। इसीलिए प्रायः उत्कृष्ट कृतियों में ऐसी अनेक व्यक्तिगत विशेषताओं का समावेश हो जाता है जिनका यथार्थ प्रतिरूप अन्य भाषा में तो क्या, स्वयं मूल की भाषा में भी किसी अन्य व्यक्ति द्वारा प्रस्तुत किया जा सकना सदा संभव नहीं होता। अनुवादक सदैव उन सभी विशिष्टताओं को अपने अनुवाद में प्रस्तुत कर दिखाने का न तो दावा करता है और न ऐसा कर ही सकता है। तथापि वह इस प्रकार की विशेषताओं के भाषांतर में अथवा रूपांतर में अपनी ओर से कोई कसर नहीं उठा रखता। इसका प्रमाण रामचरितमानस के निम्न अवतरण के अंग्रेजी अनुवाद से प्राप्त हो जाता है :

कंकन किंकिन नूपुर धुनि सुनि, कहत लखन सन रामु हृदय गुनि।
मानहुँ मदन दुंदुभि दीन्ही, मनसा बिस्ब विजय कहुँ कीन्ही।।

× × × ×

"At the sound of the tinkling of anklet and bangle, said Rama to Lakshman, as thoughts, 'gan to mingle, 'I hear sounds that seem' its the Love-God who comes, with world-conquering cymbals and beating of drums'".

वास्तव में उपर्युक्त आग्रहों का मूलाधार यह है कि अनुवाद को प्रायः मूल कृति का स्थानापन्न मान लिया जाता है और उससे वे सभी आशाएँ की जाने लगती हैं जो मूल कृति के पाठक मूल कृति से करते हैं। काव्यानुवाद के संबंध में इससे अधिक भ्रामक स्थिति कदाचित् असंभव है। काव्यानुवाद मूल काव्य का विकल्प न होकर, उसका प्रतीक अथवा प्रतिनिधि होता है; काव्यानुवाद मूल काव्यकार का प्रतिद्वंद्वी न होकर, अनुगायक होता है। अनुगायक की सहज स्थिति से परे हटकर जब अनुवादक अपने को मूल लेखक के पद पर और अपनी कृति को मूल कृति के विकल्प के रूप में प्रस्तुत करने का उपक्रम करता है, तो उसका वह प्रयास स्वतंत्र साहित्य-सृजन के नाते कितना भी मूल्यवान क्यों न हो, अनुवाद की दृष्टि से नितांत निकृष्ट कार्य ही रहता है। ऐसा अनुवादक मूल कृति की हत्या का अपराधी है। फिटज़ेराल्ड द्वारा रचित उमर खैयाम की रुबाइयाँ इसका प्रमाण है। सच्चे अनुवादक का लक्ष्य मूल कृतिकार का स्थान लेकर वहाँ अपने को प्रतिष्ठित कर देना नहीं होता, उसकी भावराशि को अन्य भाषा-शैली के परिधान में प्रस्तुत करके मूल कृति तथा कृतिकार को अन्य भाषा-भाषियों के हृदयासन पर प्रतिष्ठित करना होता है। अनुवादक की यही मूक साधना अनेक दृष्टिकोणों से उसके कार्य को साहित्य-सृजन के क्षेत्र में अद्वितीयता प्रदान कर देती है।

अतः काव्यानुवाद की वास्तविक कसौटी यही है कि अनुवादक मूल कृतिकार और उसकी कृति की आत्मा के साथ अन्य भाषा-भाषी पाठकों का सहज संबंध कितनी सफलतापूर्वक जोड़ पाया है -- काव्य के रस का आस्वाद उन्हें कितना अधिक करवा पाया है। अनुवादक-भेद से इस सफलता की मात्रा में भेद होना स्वाभाविक है, क्योंकि अनुवाद की सफलता अनुवादक की शक्ति-सीमाओं पर निर्भर रहती है।

कदाचित् इसीलिए किसी भाषा में किसी वैज्ञानिक कृति का एक अनुवाद पर्याप्त सिद्ध हो सकता है, किंतु किसी काव्य-कृति का एक ही अंतिम तथा सर्वांगपूर्ण अनुवाद न तो संभव होता है, न अभीष्ट। एक के उपरांत दूसरा अनुवादक सफलता के उच्चतर प्रतिमान स्थापित करता है और इस समस्त प्रक्रिया में अनुवादक वही आनंद प्राप्त करता है, वही महान कार्य संपन्न करता है और उसी मुक्त प्रशस्ति का अधिकारी होता है जिसका साहित्य-सृजन की गौरवपूर्ण प्रक्रिया के साथ अटूट संबंध है।

❑

Dr. Lalit Mohan Bahuguna

Poesis Through the Prism of Translation

(An empirical analysis of a poem and its translation)

"The most convincing criterion of the quality of a work is the fact that it can only be translated with difficulty, for if it passes readily into another language then it must have no particular essence or at least not one of the rarest." (Justice 0' Brien in Nida, 1964, p. 163.)

This comment puts a premium on degree of difficulty in translating a piece of text presumably a literary piece; untranslatability becomes the hallmark of the quality of art (literary) and since poem is regarded by litrary critics as well as linguists the highest form of verbal art, by this token, we may consider it, most difficult of all literary genres. But all that passes for poetry can not be regarded as highest form of verbal art. There are poems that can be translated without difficulty and there are some which are tough to translate. Sometimes the former are considered good poems and the latter had ones. The question arises how to measure a good poetry? What are the features that make a good poetry? Literary critics have different views about the criteria of high quality poetry. For those who take literature as reflection of reality would consider portrayal of real life as highest form of art. Others for whom literature is but a window through which one can peep into the dark dungeons of mind would reg and untying of Freudian knot of the author or poet the top quality literature or poem. There are Marxist aesthetician of the hygone era, for whom depiction of class struggle and awakening of the proletariat are the chief features of verbal art. Apart from these, there are scholars who try to explicate the literariness or aesthetic content from the text itself. For them, it is the novel unfamiliar expression 'deviated' from the 'norm' that constitutes art. So what is expressed in common place language is not poem or a literary work. For them a 'deviated form' becomes the source of artistic flavour. And poetry for them is 'organized violence comitted on ordinary speech'. This approach to study the nature

of literary art through fallacions, has yet some relevance as it takes up issues that are directly related with the material which makes a poem, the text itself. But their excessive emphasis on objectivity and scientificity in analysing the text of a poem or any other literary genre appears misplaced. Because all art is subjective and need not be explained in terms of scientificity and objectivity. Moreover too much effort in defamiliarising common language just to make it artistic reduces a poet or the literary artist to the position of a manipulator.

An art form be it a poem, a novel, a drama, a musical composition or a picture, it is basically a complex symbol, it is a 'gestalt' in nature not atomic. A poem is a unit, a single unit, individual words or expression in it may be deviated from the norm that produces aesthetic effect (if at all). The poem as a whole creates a symbol, a 'semblance of life'. It can be in a very ordinary common language devoid of any novelty. Novelty of form may be one of the individual factors that contribute to some extent in general import of a poem but it is not the factor. By formalist projection poem appears to be strikingly uncommon existing wonder sometimes because of unpredictable expressions (collocations).

Another discipline, which comes closer to lingustic study of literature (styliltics) is Semiotics; while stylistics is confined to the study of literature, and study of features that separate literary from non-literary, Semiotics deals with signs, significance and ideas which give rise to other signs, thus it encompasses the whole gamut of semiosis in which poetry is just one tiny sphere.

In one respect there is a similarity of approach between Prague School Linguists (studying literary text) and Semiotists. Both focus their attention on text leaving everything else out - yet while the former try to bring out literariness by invoking 'ungrammaticality' in a given text (i.e. deviated form) showing little awareness of the intrinsic nature of art, the later have fullfledged theory of literary art which resembles with the aesthetic theory of art (literary). For a Semiotist there is a constant dialectic between 'text' and 'reader'. A reader tries to get the significance of 'poem' through 'indirection'. This indirection is caused by 'displacement' of meaning, a shift from one meaning to another by the use of figures, metaphors, metonymy and pun etc., also through 'distortion' of meaning by use of contradiction, ambiguity and even nonsense. 'Textual apace' is created by organising linguistic items to produce a new meaning i.e. symmetry, rhyme etc. But Semiotics does not set any standard of a good quality poetry nor does aesthetics. Both consider 'unity' as characteristic feature of a poem. But Semiotics put forward poetic significance, achieved through semantic indirection, aesthetics regard transformation of ordinary language symbols into poetic symbols thus ordinary

experience transforming into aesthetic experience.

From aesthetic point of view, there is no such thing as "deviant form' as the source of poesis. For them the first and foremost characteristic of a poem is 'poesis' which is not the product of a 'deviant form', but of a 'poignant' situation. It is not the music of a language but the situation, which is a source of poesis. Tagore's 'Geetanjali' is full of music, rhythm and cadence which compounds the poetic effect of the situation but its translation in simple English prose did not divest it of its beauty. The theme of these poems have a universal appeal, it touches the human heart beyond limits of race, geography and nationality, not because of its word-play, deviated forms or puns. There are a variety of situation in life, some are crude, some are fine, some are ludicrous, others sublime, it is poet's orientation towards life, which prompts him to choose his theme. He has a choice. Sometimes his personal neurosis plays a part in selecting a 'motif' with this background. Before passing a verdict on the quality of translation, let us evaluate the original poem first on the principles of Semiotics and then its aesthetic significance.

In the light of semiotic analysis a heuristic reading of the poem is made. The first interpretation is purely linguistic bereft of any 'indirection'. It is a sort of narration :

(a) The poet or narrator is waiting to become (something). A magician fascinates everybody. He is showing his tricks. On his palm unusual things happen. Everybody is spell-bound.

(b) In the second point the narrator is reflecting on the situation. Those who do not wait for years, on their palms mustard grows. They fill their human form with divinity through magical charm.

(c) From their mirrors happiness cascades and the narrator stares in their eyes. His happiness is tossing and turning in imagination, the time is not changing, the narrator is also waiting (for change).

In the second reading that is 'hermeneutic', symbols are identified. So 'इंतजार करना', 'जादूगर', 'विमोहित करना', 'उसकी हथेली' Vs 'उनकी हथेली', 'सब कुछ घटना', 'आदमी की खाल', 'जादुई तिलिस्म', 'देवत्व भरना', 'सुख झरना', 'उनका आइना', 'आँखों का तकना', करवट बदलना'।

इंतजार करना -- to wait symbolises -- waiting to achieve something, suggesting success in life.

जादूगर -- magician is a all powerful trickster, who favours his henchmen, who do not have to wait for many years to get success in their lives.

उसकी हथेली -- the palm of the magician. Miracles take place on his palm. So हथेली symbolises his command or control over

the situation. A magician demonstrates his trick on his palm.

विमोहित करना -- to cast spells over (some one). To fascinate or charm the onlookers. Nobody can detect his tricks although it is a well known fact that the magician deceives the eyes of onlookers.

उसकी हथेली पर सब कुछ घटना -- To happen everything on his palm. He seems to be the master of all games. He can do miracles on his palm; he is very powerful. Magician symbolises the present day godfathers who can make or mar the futures of many. They can do anything through their manipulations.

आदमी की खाल -- The very word खाल (hide) is normally used for animals. In this expression it suggests nothing but utter contempt for the unwortheis who are the beneficeries of favours from crafty godfathers. The expression 'आदमी की खाल' suggests extreme contempt for 'upstarters' who can not wait (for success).

जादुई तिलिस्म -- magic tricks, symbolises manipulation which go undetected by ordinary guileless persons.

सुख झरना -- Cascading of happiness from the eyes of those who attain success through machinations of the magician. The glow of happiness in the eyes of those who got easy success in their lives.

आइना -- mirror. It reflects the happiness of those who have got success in life with the favour of the magician.

The original Hindi poem is a complaint by the narrator (or poet) against those who have achieved success by clever manipulation of their godfathers (magician) and they got it without merit and perseverance. It is hard to disregard this interpretation. The poet complains about no change in his fortunes. He has yet to taste the pleasures of success, which is reflected in the eyes of those who have been rewarded undeservingly. This is a very common place experience often expressed and discussed among people in the present social context. In my reckoning this is too mundane a theme, to weave a poem around it. It is so matter of fact.

Finished Text

प्रतीक्षा	**Talisman**
मैं करता हूँ	I am
इंतज़ार	waiting here
होने का	to become
जादूगर	a magician
क्षण भर	with frentic movements
करता है विमोहित	they cast spells
केवल घटता है	then great things happen
सब कुछ	on a palm,
उसकी हथेली पर,	
उनकी हथेली पर,	On a palm
उगती है सरसों	water comes out of a stone
बरसों से	The impossible happens
जो नहीं करते इंतजार	Those who do not wait
वे चुपचाप	For years
आदमी की खाल में	quietly pour divinity
जादुई तिलिस्म से	into human skin
भरते हैं देवत्व	with magical incantation
झरता है सुख	And I behold
उनके आइनों में	in their mirrors
तकती हैं मेरी आँखें	an outpourings of happiness
मेरे सुख अभी	At this stage
कल्पना में	my joys lie restlessly
करवट बदलते हैं	It is not only time
वक़्त ही करवट नहीं बदल रहा	that is restless to change
करता हूँ इंतज़ार मैं भी।	I too am waiting.

'Talisman' (Ed.) E. Raj Bisaria

Text analysis of the Finished text

1. I[1] am waiting to become *a magician.*[2]
2. *They*[3]*?* spells with frentic movements, then great thing. happen on a(*[2]*)? palm.
3. On a(*[2]*)? palm water comes out of a stone.
4. The impossible happens.
5. *Those*[3] who do not wait for years, quietly pour divinity into human skin with magical incantation.
6. And *I*[1] behold in *their*[3] *mirrors* an outpouring of happiness.
7. At this stage *my*[1] joys lie restlessly in imagination.
8. It is not only time that is restless for change *I*[1] too am waiting.

The translation when arranged in the normal prose order, shows ambiguity of electric relations. Whom does the word 'they' refer to in line no. 2? Similarly whom does the word 'a' refer to in line 2 and 3?

There are only three entities in this text '*I*'[1] (the narrator/poet), *'the magician'*[2] and some unknown *persons*[3] who do not have to wait and in whose human form divinity is poured.

According to the text *'they'* (line 2) must refer to either '1' or *'a magician'* (line I).

There are two possibilities either line I is not the part of the text or '*they'* has a cataphoric tie with *'those'* (line *5).* But then *'those'* does not stand for *'magician'* but for those who do Dot wait quietly.

Interpretation of the poem (Published translated text)

The narrator (or the poet 1) is waiting to become a magician. *They* (magicians as a class) cast spell with *their* frentic movement, and great things happen such as coming of water on their palm, happenings that are quite impossible. *Those* (magician) who do not wait for years quietly pour divinity into human skin with magical incantation. And in their mirrors, the poet beholds an outpouring of their happiness. At this stage poet's (narrator's) joys lie restless in imagination. Not only time is restless for change but the poet is also waiting for change.

The Engish translation though attempted to be idiomatic is basically a bad text. By bad text, I mean that it has no proper 'phoric ties'. In other words, sentences in the poem do not show proper cohesion. It not clear, to whom does 'they', 'those', 'their' refer? In the English text there are three human entities Involved 1st, the poet or narrator, the seond is the magician and the third unnamed 'they'. It is quite ambiguous, no terms of semiotic analysis distortions and ambiguities are the features of a poem and they add to the literary meaning but this licence is granted only to the original

author, i.e. the him/herself and not to the translator. In this case it is the translator and not the poet who has brought uncohesiveness to the poem. The translator is not entitled even to a benefit of doubt as inept handling of text in translation can not be excused on the grounds of poetic or literary licence of using 'distortion'. 'Distortion' if at all we take as synonymous with neologism is the privilege of a poet and not of a translator.

In order to find the difference in meaning between the original and translation, systematic comparision is necessary.

1. *S.L. Text.* The narrator (the poet?) is waiting to become…… (something is implied) not necessarily a magician.
   T.L. text. The narrator is waiting *to* become a magician.
2. *S.L. Text.* The magician comes who enthralls everybody in a moment and everything happens on his palm.
   T.L. *Text.* There is no textual connection between 'a magician' and 'then' besides an besides an additional phrase is appended in the translation that is 'with frentic movements' which is a source of ambiguity as it can be a modifier of a 'a magician' or a qualifier of 'they'.
3. *S.L. Text.* In Hindi text, it is the palm of the magician on which everything happens.
   T.L. Text. In translation, it is *a* palm, unknown, on which great things happen, which has no corelation with 'a magician'.
4. *S. L. Text.* Mustard grows on the palms of those who do not wait for years. In the original text there are two palms, one of the magician and another of those who can not wait for years.
   T.L. Text. In English text there is only one palm but whose palm it is, is not clear because of deictic anomaly in the T.L. text.
5. *S.L. Text.* Hindi text can be in interpreted in two ways about those who do not wait :
   (a) Those who can not wait for years, fill divinity In human forms (bodies) by their magical powers.
   (b) Those who do not wait for years get divinity thrust into theirhuman forms by the magical powers of the magician.
   (b) interpretation seems more plausible.
   T.L. Text. Those who do not wait for years quietly pour divinity into human skin with magical incantation. The identity of 'those' is not clear from the translated text. Does 'they' represent a class of magicians or someone other than the magician.
6. *S.L. Text.* In Hindi 'Mustard does not grow on a palm', suggests undue haste. Its English equivalent is 'Rome was not built in a day.' A proverb normally in negative, is hardly used In affermative in common usage

but poetry being relatively free from the rules of structure, may allow this usage.

T.L. Text. 'Water comes out of a stone' changes the meanings. It does not suggest hasti, it at the most suggests improbability.This strengthened by the addition 'the impossible happens'. The image is changed so is the sense.

7. *S.L. Text* The narrator's eyes stare at the mirror, which reflects the happiness of those who do not wait for years. And he compares his happiness with their's. His happiness is still tossing and turning in imagination. He resents the time and his fortune as both are static, without any change.

T.L. Text. The narrator beholds in the mirror outpourings of happiness and his joy become restless. He is also waiting for a change alongwith the time.

I have tried to pinpoint the differences in S.L. and T.L. text. S.L. text is cohesive and makes sense literally and metaphorically. It is one type of poetry where demarcation between mundane and aesthetic experience has blurred. The crystallization of subjective experience into pure poetic one, where personal complaints and grudges cease to exist, is unfortunately missing. However, the use of metaphor and images, alongwith other formal features like 'homologous' (portional) as in

(a) उसकी हथेली पर
उनकी हथेली पर

(b) उगती है सरसों
बरसों से

T.L. text lacks in cohesion because of anomalous use of dicey mainly. There is no question of compensation for the loss of formal features in translation when discourse of the text is lacking. In the choice of equivalent in idiom, the highlighted feature is not translated but its general effect is rendered. 'हथेली पर सरसों उगना' highlights 'instantly' while 'water coming out of stone' impossibility.

The following three translations are being given to see what others perceive in the S.L. text. These are in this order :

(i) Dr. Ganga Prasad Vimal the poet himself.

(ii) Dr. Indu Prakash Pandey, Department of Indology, Goethe University, Frankfurt, Germany.

(iii) Ms. Elizabeth Ford, an English Diplomate wife and a former student of Central Hindi Institute. New Delhi.

1. Dr. Ganga Prasad Vimal's Version

I keep waiting
to see
something happen
Magician
in a moment
bewilderd us
only things happen
on his palm
Everything
on their palm
in a moment
grows mustard
those who do not wait
long years
they silently
fill heavenly muse
within the skin of man
through the magical incantation
In their mirrors
showers plentifull of joy
my eyes do view that
Whereas my joys are still in imagination
changing sides
whereas the time is not changing
I simply wait

The poet or the narrator keeps on waiting to happen something miraculous. The following lines have clear mention of a magician endowed with special powers. The second stanza is devoted to unnamed entities on whose palm mustard grows. How can they fill heavenly muse within the skin of man 'with magical incantation' is not clear. Are they the part of the magician or because they can not wait so they became magician is quite unclear. The third stanza is fairly clear. In my analysis while the identity of those who cannot wait, is suggested in the S.L. text, in T.L. text it is confused and signals of suggestion are missing.

2. Dr. Indu Prakash Pandey's Translation (Germany)

I am
waiting to become a magician
For a moment he
holds us spell bound

Everything
only happens
on his palm
An(d) as if
mustard grows
on their palms i.e -
Impossible happens
to them
who don't wait
for years—
quietly they fill
the human skin
with magical tricks
with divinity
An outpouring of joy
behold my eyes
in their mirrors
while my joy
still turns sides
Only the time
is not turning sides—
Well, I, too, am waiting.

Dr. Pandey's translation has a more cohesive text. There is no ambiguity about the magician. He uses 'he' and 'his' for 'the' magician. But for 'them' who do not wait, his interpretation, that 'they' fill the human 'skin with magical tricks' is confusing. Because only the magician has the power to do impossible things, such as to his rendering shows that they 'who do not wait' quietly fill the human skin with divinity obviously 'they' (those who watch the magician to cast his spell) have not been differentiated with the magician and this has caused anomalous situation in terms of the logic of the text.

3. Elizabeth Ford (U.K.)

Expectation

I am waiting for
The magician of change
Who fascinates
For a full moment
Who holds
Everything possible
In the palm of his hand

In those palms of his
Dust may flower
Those who do not spend
Years in waiting
Though mortal
They silently
Fulfill the magic spell
Render it divine
Joy cascades
On their reflections
My eyes are transfixed
My happiness now
Tosses restlessly—
In imagination
But time has not stood, still
And I am still waiting.

It is interesting to note how a poetic text with its satirical note is transformed into a text which has all the elements of high quality poetry, though in terms of faithfulness to the original, it is far removed. In the original poem the magician epitomises all negative qualities like jugglery, machinatrous' trickstry and maneuvering but in Elizabeth's rendering, he evokes all pleasant associations. She transforms him into a hanbinger of change, suggesting hope. The original poem is a veiled complaint, bitter in tone and linged with a sense of frustration. The translation is altogether a different poem more poetic than the original. A poetic statement is not a statement of fact and its purpose is not to 'inform' but to 'move'. A text, which is loosely knit, may distort the meaning, but then, there is no one meaning which can be called 'the meaning'. In poetry, a translator not familiar with the social context may translate an imagery from his or her own life orientation and own cultural experience. So the best way to avoid this or that sort of interpretation of symbols, is to translate as close as possible to the original S.L. Text. Images should be translated literally. Idioms, if equivalents are available may be translated in idiom's, otherwise sense translation in non-metaphorical language will suffice. To support my thesis I am proposing literal translations of the poem.

Literal

I wait
to be....
(A) magician

spell bounds (everybody)
in a moment
everything happens
just on his palms.
Those who do not wait
quietly for years
mustard does grow on their palms
and they
by some magical charm
get divinity filled
into their human form
joys rain from their mirrors
(and) my eyes stare at them
my joys are still in imagination
Time is not changing
I am still waiting
I wait
to become

(A) magician
in a moment
spell bounds...
everything occurs on his palm.

2. Those, who do not wait quietly
do build Rome in a day
(by *the help of the magician)*
(Who) thrusts divinity into *(their)* human form
by his magical incantation.

3. Joy rains from their mirrors
my eyes stare at them,
my joys lie restless in imagination,
it is the time that is not changing
but I am still waiting.

❑

प्रो. तिप्पेस्वामी

कन्नड़ काव्यानुवाद : मूल्यांकनपरक सर्वेक्षण

हिंदी भारत के विशाल जनसमूह द्वारा समझी जाने वाली, बोली जाने वाली और अभिव्यक्ति की भाषा है। अखिल भारतीय स्तर पर संपर्क भाषा के रूप में हिंदी को राष्ट्रभाषा और राजभाषा का सम्मान प्राप्त हुआ है। हालाँकि राजनैतिक स्तर पर और प्रांतीय भाषाओं के संदर्भ में कई प्रकार के वाद-विवाद भले ही उठे हों मगर भारत जैसे बृहत राष्ट्र के विभिन्न प्रदेशों की वैविध्यपूर्ण संस्कृति, चिंतन और सृजनात्मक संपदा को निकट लाने और उन्हें एक मंच पर प्रस्तुत करने का एक सशक्त माध्यम है हिंदी। इस देश की सभी भाषाओं को सीखना जबकि व्यावहारिक दृष्टि से असंभव है, हिंदी ही ऐसा एकमात्र माध्यम है जिसके जरिए हर भारतीय समूचे भारत की संस्कृति और साहित्य से साक्षात्कार कर सकता है। हिंदी में किसी भी भाषा की कृति का अनुवाद होकर आ जाए तो समझना चाहिए उसकी परिधि का विस्तार हो गया। इसी तरह अपनी मातृभाषा के अलावा कोई भी हिंदी सीखेगा तो उसका संबंध आसानी से इतर भाषा-भाषियों से जुड़ जाता है। दूसरे शब्दों में, भारत की किसी भी भाषा का साहित्य अनूदित होकर हिंदी में प्रकाशित हो जाएगा तो उसका संवाद पूरे भारत से संभव होता है। इस दृष्टि से हिंदी जोड़ने वाली भाषा है; भावात्मक एकता की संवाहक भाषा है। वास्तव में हिंदी के बिना हर भाषा प्रदेश एक द्वीप बनकर रह जाता है, मुख्य धारा से कट जाता है।

आज के संदर्भ में अनुवाद एक वरदान है। अनुवादक संस्कृति का वाहक है। विश्व के विभिन्न भागों में कला, साहित्य, विज्ञान, प्रौद्योगिकी जैसे क्षेत्रों में जो विकास हो रहा है, उसमें अनुवादकों का भी महत्वपूर्ण योगदान है। अनुवादक भाषायी अंतर को कम करता है। आपसी सद्भाव को बढ़ाता है। अपरिचित को परिचित बनाता है। यही कारण है कि अनुवादक का महत्व असंदिग्ध है।

हम सब भारतीय हैं; एक देश के रहने वाले हैं और भावात्मक दृष्टि से हम बड़े

निकट के कहलाते हैं, लेकिन बड़े दुःख की बात है कि हमारे बीच की दूरियाँ भी कम नहीं हैं। कर्नाटक के कितने लोगों को पंजाबी, बांग्ला, उड़िया की संस्कृति और वहाँ के साहित्य का परिचय है? कितने बंगालियों, पंजाबियों और उड़िया वालों को कर्नाटक, आंध्र और केरल आदि दक्षिण राज्यों की संस्कृतियों और यहाँ के साहित्यकारों का परिचय है? असल बात तो यह है भारत का वासी अपने अगल-बगल के राज्यों की संस्कृति और साहित्य से परिचित नहीं है जोकि चिंता का विषय है। आत्म-शोध करने का विचार है यह। भारतीय साहित्य एक विशाल सिंधु है। इस सिंधु के बिंदुओं के रूप में यहाँ की भाषाएँ हैं। इन भाषाओं के बीच निरंतर आदान-प्रदान कार्य जब संपन्न होंगे, तब जाकर भारतीय साहित्य शब्द को अर्थ-गरिमा प्राप्त होगी। और हम सच्चे अर्थ में भारतीय कहलाएँगे।

कन्नड़ भाषा और साहित्य को हिंदी के माध्यम से अखिल भारतीय स्तर पर परिचय कराने की दिशा में यद्यपि काफी काम हुआ है, तथापि हिंदी से कन्नड़ में हुए अनुवादों की तुलना में कम ही है। इसके कारण भी स्पष्ट हैं :

1. कन्नड़ से हिंदी में और हिंदी से कन्नड़ में अनुवाद कार्य कन्नड़-भाषियों को ही करना पड़ा है।
2. कन्नड़-भाषियों की मातृभाषा कन्नड़ है और हिंदी इनकी सीखी हुई भाषा है। हिंदी साहित्य पर कन्नड़-भाषी हिंदी विद्वानों का जबरदस्त अधिकार तो होता है मगर इस भाषा के आंतरिक सूक्ष्मतओं से, उसके बोलचाली-रूपों से और उसके सहज अभिव्यंजना विधानों से बहुधा अपरिचित होता है। इसी कारण इनके हिंदी अनुवादों में वह सहजता नहीं आ पाती है जो सहजता इनके कन्नड़ अनुवादों में पाई जाती है।
3. हिंदी-भाषी जोकि नौकरी-धंधे के लिए कर्नाटक में लंबे अरसे से आते-जाते रहे हैं मगर इनकी रुचि इस प्रदेश की भाषा कन्नड़ को सीखने में और भाषा सीखकर यहाँ की कृतियों को पढ़ने में और अपनी भाषा में अनुवाद करने में नहीं रही है। ये हिंदी-भाषी या दूसरा कन्नड़ेतर भाषी यहाँ की भाषा और इस भाषा के साहित्य में रुचि लेते तो बड़ी प्रसन्नता की बात होती।
4. भारत सरकार के प्रतिष्ठानों ने अपनी आदान-प्रदान योजनाओं के अंतर्गत कई कृतियों के अनुवाद यांत्रिक रूप से कराए तो हैं मगर ये अनुवाद कहाँ तक प्रामाणिक हैं, इस ओर ध्यान दिया नहीं गया है। सरकार को चाहिए कि हर भाषा प्रदेश के युवा अनुवादकांक्षियों को एक-दो साल तक दूसरे प्रदेशों में भेजे और उन्हें उन प्रदेशों की भाषाओं के आंतरिक स्वरूप से अवगत होने का अवसर प्रदान करे।

जब तक यह ठोस कार्य नहीं होगा तब तक हमारे तथाकथित अनुवाद प्रामाणिक नहीं होंगे। इस ओर हमारी सरकार का ध्यान जाना चाहिए।

5. अनुवादों के द्वारा हमारी सामासिक संस्कृति का प्रसार करने का दायित्व हमारे प्रकाशकों पर भी है। अपनी प्रकाशित पुस्तकों को पाठ्य-पुस्तक बनाने में जो दिलचस्पी इनकी होती है उतनी ही दिलचस्पी भारतीय भाषाओं से अनूदित पुस्तकों के प्रकाशन में लेंगे तो आपसी संस्कृति को समझने में बड़ी सहायता होगी।
6. अनुवाद को राष्ट्रीय अनिवार्यता के रूप में स्वीकार करने की आज नितांत आवश्यकता है। इस राष्ट्रीय यज्ञ में सरकार, साहित्यकार और प्रजा को समान रूप से हाथ बाँटना है।

(2)

हिंदी से कन्नड़ में अनूदित रचनाओं की तुलना में कन्नड़ से हिंदी में अनूदित कृतियों की संख्या कम ही है। इसके कारण की ओर संकेत किया गया है। अन्यायन्य भाषाओं से किसी भी भाषा में अनूदित कृतियों की एक समग्र सूची भी उपलब्ध नहीं है और अनूदित कृतियों का ग्रंथालय भी हमारे यहाँ नहीं है। अतः आदान-प्रदान में कितनी कृतियों के अनुवाद हिंदी में अथवा अन्य भारतीय भाषाओं हुए हैं, इसका कोई लेखा-जोखा नहीं है। प्रस्तुत पंक्तियों के लेखक के ध्यान में जो काव्यानुवाद आए उनके आधार पर यह सर्वेक्षणात्मक लेख तैयार किया गया है।

(3)

अखिल भारतीय स्तर पर अनेक मान्यता-प्राप्त कवि कन्नड़ में हैं। मगर ये तमाम कवि हिंदी में अनूदित नहीं हुए हैं। भारतीय ज्ञानपीठ से पुरस्कृत कुवेंपु, द.रा. बेंद्रे, वि.के. गोकाक, मास्ति वेंकटेश अय्यंगार, यू.आर. अनंतमूर्ति कन्नड़ के शिखर कवि हैं। इनके कुछ अनुवाद यत्र-तत्र प्रकाशित संग्रहों में देखे जा सकते हैं किंतु समग्र रूप से इनका अनुवाद हो नहीं पाया है। रही प्राचीन काव्यों की बात। 12वीं शती के शरणों के कुछ अनुवाद तो हुए हैं और अन्य महत्वपूर्ण प्राचीन कवि अनुवाद की दृष्टि से अनछुए ही रह गए हैं। जिन काव्य-रचनाओं के अनुवाद हुए हैं, उनकी एक सूची इस प्रकार है :

1. प्रभुदेव के वचन (काशी नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित)
2. पुरंदरदास के भजन (अनु. बाबूराम कुमठेकर)
3. सतीधर्म (संधि होन्नम्मा के हरिबेदभ धर्म का हिंदी अनुवाद : एम. देवेगौड)
4. बसवेश्वर के चुने हुए वचन (अनु. डॉ. एस. राजेश्वरय्या)
5. महात्मा बसवेश्वर के वचन (अनु. आर.सी. भूसनूरमठ और श्रीमती शकुंतला

भूसनूरमठ)।

6. बसवेश्वर के वचन (कर्नाटक विश्वविद्यालय का प्रकाशन)
7. श्री रामायण दर्शनम् -- कुवेंपु के महाकाव्य के आरंभिक भाग का एक अंश (अनु. डॉ. सरोजिनी महिषी)।
8. मूढ़ तिम्म का दर्शन -- कवि डी.वि. गुंडप्पा के मंकुतिम्मन का अनुवाद (अनु. डॉ. सरोजिनी महिषी)।
9. एकोत्तर शत वचन (एक सौ वचनों के अनुवाद) (अनु. राम आधार सिंह)
10. वचन (तीन सौ वचनों के अनुवादों का संग्रह) कर्नाटक साहित्य अकादमी का प्रकाशन।
11. श्री रामायण दर्शनम् -- कुवेंपु (अनु. डॉ. प्रधान गुरुदत्त)
12. कवि कुवेंपु (कुवेंपु के परिचय के साथ उनकी चुनी हुई कविताओं का गद्यानुवाद) (अनु. डॉ. एम.एस. कृष्णमूर्ति)।
13. कवि बेंद्रे -- (बेंद्रे के परिचय के साथ उनकी चुनी हुई कविताओं का गद्यानुवाद) (अनु. डॉ. एम.एस. कृष्णमूर्ति)।
14. जयगीत (जयदेवी लिगाडे) (अनु. एस. शिवमूर्ति शास्त्री)।
15. भारतीय कविता 1953, 1954-55, 1958-59 और अन्य अंक (साहित्य अकादमी, दिल्ली के प्रकाशन)
16. भारतीय कवयित्रियाँ -- केंद्रीय हिंदीय निदेशालय का प्रकाशन। इसमें कन्नड़ की 10 विख्यात आधुनिक कवयित्रियों की कविताओं के अनुवाद हैं। अनुवादक हैं -- डॉ. तिप्पेस्वामी और डॉ. टी.जी. प्रभाशंकर।
17. आधुनिक कन्नड़ काव्य -- हिंदी विभाग, मैसूर विश्व विद्यालय का प्रकाशन। संपादक मंडल -- डॉ. जे.एस. कुसुमगीता, डॉ. तिप्पेस्वामी और डॉ. प्रधान गुरुदत्त।

इनके अलावा कन्नड़ की कई कविताओं के हिंदी अनुवाद हिंदी वार्षिकियों (केंद्रीय हिंदी निदेशालय के प्रकाशन), पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए हैं जिनके कई अनुवादकों ने अनुवाद किए हैं। आगे उपर्युक्त अनूदित कृतियों में से दो-एक प्रतिनिधि रचनाओं के बारे में संक्षिप्त टिप्पणी देने का प्रयास किया गया है।

कुवेंपु कन्नड़ के शीर्षस्थ कवि हैं जिनके महाकाव्य 'श्री रामायण दर्शनम्' पर ज्ञानपीठ, साहित्य अकादमी, दिल्ली और कर्नाटक सरकार का पंप पुरस्कार आदि प्राप्त हुए हैं। सर्वोदय, समन्वय और पूर्ण दृष्टि को प्रतिपादित करने वाला यह महाकाव्य मात्र मूल रामकथा का पुनर्गायन नहीं अपितु नई उद्‌भावनाओं से, नई अर्थ-संपदा से भरपूर है। डॉ. सरोजिनी महिषी ने इस काव्य के एक भाग का हिंदी अनुवाद प्रस्तुत किया है जिसमें मूल काव्य की भाषा प्रौढ़िमा, शैली की प्रांजलता और काव्य सौंदर्य का बिलकुल

अभाव है। यहाँ तक कि मूल काव्य के विचारों के संप्रेषण में भी यह अनुवाद सफल नहीं हुआ है। कन्नड़ मूल काव्य के भावों को आत्मसात न करने के कारण यह अनुवाद मूल से हटा हुआ है। मात्र शब्दानुवाद भी होता तो वह दूसरी बात है। यहाँ मूल की व्याख्या की गई है। परिणामस्वरूप, मूल रचना को पढ़ने में जो आनंद मिलता है वह अनुवाद में लुप्त हो गया है। इस अनुवाद में कई प्रकार के दोष हैं।

डॉ. सरोजिनी महिषी ने डॉ. डी.वि. गुंडप्पा की प्रसिद्ध काव्यकृति 'मंकुतिम्मन कग्गा' का काव्यानुवाद किया है। 'कग्गा' कन्नड़ की एक अनन्य रचना है, जिसमें लोकानुभव, दर्शन और काव्यकला का सुंदर सामंजस्य है। इस काव्य का अनुवाद अपने में एक चुनौती है। यह अनुवाद भी संतोषजनक नहीं है। ऐसा लगता है कि अनुवादिका मूल की अर्थ संपदा को समझ नहीं पाई हैं। और उसके ध्वन्यार्थ को नहीं किंतु शब्दार्थ को ही साधारण शब्दों में प्रकट कर रही हैं। डी. वी.जी. के 'कग्गा' के एक काव्यांश का अनुवाद इस प्रकार है :

गिरितल में तृणसम बनो, घर में सुमन
विधि की विपदाओं में पाषाण बनो।
मधुर बनो दीन दुखियों के लिए
सबके साथ मिलकर रहो, मूढ़तिम्म।

यह अनुवाद मूल काव्य के भाव सौंदर्य को अपने में समाहित करने में सफल नहीं हुआ है। मूल में हर शब्द का अपना विशिष्ट अर्थ है जोकि अनुवाद में अवतरित नहीं हुआ है। इस संकलन की अधिकांश कविताओं के संदर्भ में यही बात कही जा सकती है।

इधर 1998 में मैसूर विश्वविद्यालय ने महाकवि कुवेंपु के महाकाव्य 'श्री रामायण दर्शनम्' का हिंदी काव्यानुवाद कराया है। कन्नड़ और हिंदी के प्रसिद्ध अनुवादक डॉ. प्रधान गुरुदत्त ने यह अनुवाद किया है। यह अनुवाद पठनीय है। 12वीं शती के बसवेश्वर के वचनों के अनुवाद जितने निकले हैं उतने शायद ही दूसरे शरणों के निकले हैं। बसवेश्वर के इन अनुवादों की अपनी सीमाएँ भी हैं और खूबियाँ भी हैं। संक्षेप में, बसवेश्वर के वचनों को हिंदी पाठकों तक पहुँचाने में हमारे अनुवादक काफी सफल हुए हैं।

इधर कर्नाटक साहित्य अकादमी ने 'वचन' नाम से पचास से अधिक वचनकारों के चुने हुए वचनों के हिंदी अनुवादों का संग्रह प्रकाशित किया है। इसमें तीन सौ वचनों के हिंदी अनुवाद हैं जिन्हें ग्यारह अनुवादकों ने अनूदित किया है। ये अनुवाद काफी सुंदर हैं। शरण आंदोलन की वैचारिकता, अध्यात्म साधना और सामाजिक क्रांति के स्वरूप को प्रस्तुत करने में यहाँ के वचन सफल हुए हैं। ये सारे अनुवाद एक कार्यशाला

में विभिन्न अनुवादकों द्वारा किए गए थे। यही कारण है कि इन 'वचनों' के अनुवादों में एक शैली का निर्वाह नहीं हुआ है। तथापि ये अनुवाद पठनीय है। इस वचन संग्रह के संपादक हैं -- प्रोफेसर भालचंद्र जयशेट्टी।

बसवेश्वर के अनुवादकों में श्रीमती और श्री आर.सी. भूसनूरमठ तथा डॉ. मे. राजेश्वरय्या के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं जिनके अनुवाद मूल वचनों के प्रति प्रामाणिक होते हुए भी उनमें जहाँ-तहाँ मूल का विस्तार हुआ है, अर्थांतर हुआ है। मूल के भावों का संप्रेषण इन अनुवादों में नहीं हो पाया है।

उपर्युक्त अनूदित ग्रंथ सूची में कुछ अन्य वचन ग्रंथों का उल्लेख होता है, यथा जेडर दासिमय के वचन (अनु. भालचंद्र जयशेट्टी), अक्कमहादेवी के वचन (अनु. प्रो. जी.एम. उमापति शास्त्री), अक्कमहोपी के वचन (अनु. डॉ. नंदिनी गुंडूराव), दासिमय्या और अक्कमहादेवी के वचनों का अच्छा अनुवाद इन अनुवादकों ने प्रस्तुत किया है। इन पंक्तियों के लेखक ने अक्कमप्रभु के 150 वचनों का अनुवाद किया है। ये सारे अनुवाद विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए हैं। डॉ. टी.जी. प्रभाशंकर प्रेमी ने भी शिवशरणों के अनुवाद समय-समय पर प्रस्तुत किए हैं।

कन्नड़ के महत्वपूर्ण कवि कुवेंपु और बेंद्रे के व्यक्तित्व और कृतित्व का सबसे पहले हिंदी जगत के सामने परिचय कराने का श्रेय डॉ. एम.एस. कृष्णमूर्ति को जाता है। इन शिखर-कवियों की कुछ चुनी हुई कविताओं का गद्यानुवाद प्रस्तुत किया है। ये गद्यानुवाद वैसे अच्छे हैं किंतु कई स्थानों पर विस्तारानुवाद भी हुआ है। इन अनुवादों में मूल रचनाओं में कलागत सौंदर्य का अभाव है।

साहित्य अकादमी के भारतीय कविता (1953, 1954-55, 1958-59) के संग्रहों में कन्नड़ के सुविख्यात कवियों यथा कुवेंपु, बेंद्रे, के.एस. नरसिंह स्वामी, गोपालकृष्णन अडिग, चेन्नवीर कणवि जयदेव तामि लिगाडे, बी.एच. श्रीधर, वी.के. गोकाक, रामचंद्र शर्मा, पु.ति. नरसिंहाचार्य, जी.एस. शिवक्षद्रप्पा, दिनकर देसाई गोविंद पै, गंगाधर चित्ताल, वी.जी. भट, आनंदकद, काव्यांनद आदि की चुनी हुई दो-एक कविताओं के हिंदी अनुवाद प्रकाशित हुए हैं। इन कविताओं के अनुवाद डॉ. हिरण्मय बी.आर. नारायण, सोमशेखर सोम और बी.वी. कारंत ने प्रस्तुत किया है।

इनके अलावा केंद्रीय हिंदी निदेशालय अपने वार्षिकियों में हर साल दो-तीन कन्नड़ कविताओं के अनुवाद प्रकाशित करता है। आधुनिक काव्यधारा के कई महत्वपूर्ण कवियों के अनुवाद इनमें छपे हैं। निदेशालय से प्रकाशित 'भारतीय कविता' में कन्नड़ कविताओं के अनुवाद हैं। इधर निदेशालय से ही प्रकाशित 'भारत की कवयित्रियाँ' संकलन में डॉ. तिप्पेस्वामी और डॉ. प्रभाशंकर प्रेमी द्वारा अनूदित दस प्रतिष्ठित कवयित्रियों की

कविताओं के हिंदी अनुवाद हैं। निदेशालय द्वारा प्रकाशित 'भाषा' पत्रिका में कन्नड़ कविताओं के अनुवाद बराबर छप रहे हैं। 'युगप्रभात', 'संदर्भ भारती', 'समकालीन भारतीय साहित्य', 'भारतवाणी' और अन्यान्य दैनिक पत्रिकाओं में कन्नड़ कविताओं के असंख्य अनुवाद छप चुके हैं। हाँ इन कविताओं के चयन में काव्यधाराओं का, प्रतिनिधि कवियों का चयन हुआ है और इन्हें पढ़ने से कन्नड़ काव्य का सही परिचय मिलता है, ऐसा नहीं कहा जा सकता।

इस प्रकार कन्नड़ कविताओं के अनुवाद विभिन्न संकलनों और पत्रिकाओं में बिखरे हुए हैं। पुस्तकाकार में इन्हें लाने का प्रयास नहीं हुआ है।

मैसूर विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग से प्रकाशित 'आधुनिक कन्नड़ काव्य' (प्रधान संपादिका डॉ. जे.एस. कुसुमगीता) कन्नड़ कविताओं के हिंदी अनुवादों का अच्छा संग्रह है। बीस से भी अधिक कन्नड़ के प्रतिनिधि कवियों की चुनी हुई कविताओं के अनुवाद इस संकलन में हैं। कन्नड़ काव्यधारा के पदचिह्नों को समझने में यहाँ की कविताएँ मदद करती हैं।

डॉ. टी.आर. भट्ट ने कन्नड़ के चर्चित कवि डॉ. पी.एस. रामनुज की पचपन कन्नड़ कविताओं का हिंदी अनुवाद करके 'नदी के साथ बहते' शीर्षक से एक कविता संग्रह प्रकाशित किया है। मेरी जानकारी में यह पहला संग्रह है जिसमें एक कवि की कविताओं के अनुवाद छपे हैं। इस संग्रह के अनुवाद पठनीय हैं, मूल के प्रति प्रामाणिक है। डॉ. विद्यानिवास मिश्र जी ने इन अनुवादों के बारे में ठीक ही लिखा है कि ''काव्यांतर की भाषा अनुवाद जैसी नहीं लगती, प्रत्युत मौलिक कविता लगती है। कहीं-कहीं कन्नड़ रंग अवश्य है पर वह उचित ही है।''

उपर्युक्त पंक्तियों में कन्नड़ से हिंदी में हुए काव्यानुवादों की एक झाँकी प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। काव्यानुवाद करना अपने में एक कठिन कार्य है। मात्र भाषाएँ जानने से काव्यानुवाद किया जा सकता है -- यह मानना एक भ्रम है। काव्य का अनुवाद गद्य में करने से मूल का रसास्वादन संभव नहीं होता। काव्य का काव्यानुवाद के लिए अनुवादक को काफी तैयारी करनी पड़ती है। दोनों भाषाओं की काव्य परंपरा का अध्ययन, विद्वत्ता और अनुवाद क्षेत्र में अनुभव का होना नितांत आवश्यक है जिनके बिना किए गए अनुवाद शब्दानुवाद मात्र रह जाते हैं। काव्यानुवादकों को इस ओर ध्यान देना अनिवार्य है।

❑

Lalit Kumar

Kavita Kosh : The Internet as a Poetry Archive

Incidently I am writing this piece on the sixth anniversary of commencing the Kavita Kosh project (www.kavitakosh.org). Exactly six years ago, on a hot and humid day in July 2006 in New Delhi, I made the project public and sought help from people for developing it.

Today, six years later, Kavita Kosh has become on of the the largest online libraries for Indian poetry. Not only is it the largest collection but also the most well organized. At present we have more than 53,000 pages in our collection. These include nearly 50,000 poems by more than 2,000 poets. We have also listed over 1000 poetry titles. The popularity of the Kavita Kosh project is clearly evident just by checking the visitor statistics. Close to 2 million pages of Kavita Kosh are viewed by around 125,000 visitors every month.

In more than one way, Kavita Kosh has proved to be a very important project for online promotion of Hindi usage and Indian language poetry. It has come a long way not only in archiving Indian poetry but also as an ideal example of voluntary team work. I began this project at a time when Hindi had just started to take off on the net. Most Internet users were still struggling with technical issues related to Hindi fonts. While typing in Hindi was a big problem, inability to read typed material on a computer was also a major concern. There were only a handful of people who were comfortable typing in Hindi on the computer. These people were virtually the pioneers of many online Hindi projects that we see today on our browsers. And since these people were busy giving shape to their own projects – Kavita Kosh did not have many helping hands.

In the last six years, Kavita Kosh has developed without the investing

a single penny. Obviously it was not easy to bring this about. Getting people to work on a voluntary basis was itself a major task. Then there was the the issue of computer-literacy in Hindi. From time to time there would also be huge ego clashes and conflict of interest among the volunteers and so on. And although I had assumed the central role in carrying out this project, I was constantly working with an ever-changing team. I was lucky to have steadily built up a dedicated team. And I am satisfied that it all bore fruit in the end. No pain, no gain!

The font related issues were sorted out by the arrival of Unicode standard – and slowly, things became much smoother on the technical side. But soon we realized the importance of archiving translated poetry at the site. We then started collecting poetry that had been translated from Indian and foreign languages into Hindi. I had noticed were other resources for Hindi poetry on the Internet, albeit not as exhaustive as Kavita Kosh, but there was no good online resource for translated poetry. A few people had posted translated poetry on their blogs – but it was too little.

I saw a clear need for creating a space for translated poetry on the Internet. We started two sections at Kavita Kosh. One, for collecting poems translated from Indian languages into Hindi, and another for Hindi translations of foreign language poetry. Today, we have Hindi poems translated from almost every Indian language and all major languages from across the world. The work on these sections is an ongoing commitment.

Kavita Kosh has set up a procedure to decide the poets whose works should be included in the website. A person interested in getting his/her poems listed in Kavita Kosh has to make an application. The application is basically in the form of an email to the Kavita Kosh id. Email must contain information about the poet, as well as (at least) ten original poems. The email also has to clearly state that the applicant is the legal copyright holder of the poems and has no objection on their inclusion in Kavita Kosh. The Kavita Kosh Team goes through applicant's poems and makes a decision whether or not to include the poems on the website. We do not have enough manpower to apply filters at the level of submission of poems. That is to say, it is not possible for us to read all 50,000 poems and decide which ones are good enough to be kept in Kavita Kosh. So, we take a decision based on the popularity of the poet and then they are free to include any number of their poems on the webpage.

This decision making becomes a little more complicated when we try to moderate the translated poetry sections. Naturally the Kavita Kosh team is more conversant in Hindi and it is easier to choose which poets to include in Hindi. But since we do not speak all the languages represented via

translation, we have to rely on the quality of Hindi version. For example, I don't speak Kashmiri, and hence I find it very difficult to decide whether a Hindi translation of a Kashmiri poem is good or not. Since my decision to include the poem is solely based on my assessment of the Hindi version – I may or may not be the best judge of whether the translation represents what the original poet wanted to convey.

Given a choice, I prefer to post direct translations into Hindi on Kavita Kosh. But for foreign languages like Japanese, Spanish, Chinese and Russian we tend to receive Hindi translations of English versions of the poems. These indirect translations are bound to be farther away from the original poem and it is not always possible to trace the exact connotations of words in every language. The more the number of bridge-languages involved, the more the chances of erosion in original meaning. Translation sometimes entails a compromise and I believe a good translator is one who makes informed and calculated compromises.

The translated poetry sections of Kavita Kosh have now archived almost 500 poets from about 40 Indian and world languages. Kavita Kosh has certainly become one of the the largest repositories of poetry translated into Hindi. However, maintaining and developing such a massive literary archive is a huge task and requires funds. I have recently established a non-profit organisation in the form of a trust. This organisation is called Lalitya International Center for Arts and Culture (www.lalitya.in) and its primary objective is to raise funds for the development of Kavita Kosh. This is not easy. And I sometimes feel disheartened when these funds are not forthcoming from government agencies that have the wherewithal to support such a project.

Working and developing such a modern day literary repository is important because such an archive will pass on to future generations. Nurturing language, literature and culture is important for any society – but it is equally important to ensure the continuance of this treasure into the future. Kavita Kosh is representative of electronic era, it demonstrates what wonders technology can do when it is applied to conserving literature. The ability to search, categorize, make sets, intersections of sets, unions of sets, etc. makes computer technology ideally suited for carrying out research work in literature. The task becomes much easier than it has traditionally been.

Making translated literature available online also helps in connecting cultures. On Kavita Kosh for instance, one can savour the translation of a Japanese poetry collection and in the next instant access Belgian poems. It gives us an opportunity to understand different cultures through the prism

of language and literature.

In the end, I would also like to share that I am now working on a similar encyclopedia for Indian prose. Gadya Kosh (www.gadyakosh.org) is a sister website of Kavita Kosh. It will be a great resource for stories, short stories, novels, essays, plays, articles etc. from Hindi and other Indian languages. Seeing how popular the translated poetry sections were in Kavita Kosh, I have already included translated sections in Gadya Kosh. I am happy to report that we already have over 2000 stories in Gadya Kosh.

❑

Links

1. www.kavitakosh_org
2. www.lalitya.in
3. india.lalit@gmail.com

Eurig Salisbury

Recordings From Arcadia

From a muted room in Aberystwyth my mind reaches back a full month to the exuberant clamour of poets in a sun-dappled library in Eifionydd. In front of me sits a heavy black recorder, a silver cable and a computer screen which displays the letters MZ000005.MP3. The recorder's elusive power cable, along with the seven poets who gathered at Ty Newydd National Writers' Centre towards the end of June, has left Eifionydd to follow its own road. The poets whose voices now overlap and intermingle in my ears have turned homewards, some by car to Tal-y-bont, Pen-y-groes and Llandysul, others by planes and trains to Shillong, Kerala and Bombay. It is rumoured that the power cable has made its way to England, therefore I have been left to plunder at least four clocks for their batteries so that the recordings can be uploaded. Time will simply have to stand still for a while as I return to the idyllic echoes of a summer afternoon devoted to the translation of poetry.[1]

*

Sampurna Chattarji is speaking. The purity and clarity of her pronounciation is mesmerising and her thoughts ripple rapidly from sentence to sentence, punctuated occasionally by outbursts of infectious laughter. Sampurna is a Bengali who writes poetry in English. Her poem 'Mirage' sits in my lap.

> … Even ugly little weasels have lives.
> Weasels, rats, skunks. *What a rat*, *he left her*.
> The English language, using animals viciously,
> vicious animal-humans.
> Humanimal Tales, a book I used to love,
> with talking cows and crows, not unkind,
> yet.The wise monkey king,
> the stupid crocodile – Jatakas on the cave walls

of all our remembered childhoods.
We lent them our best traits
and expected them to teach us something
in return …

Animals seem to fulfil an educational role in Sampurna's cultural context that sits ill at ease with their role in language.

Teach us patience, oh animal-wise, teach us courage.
Teach us the weight of a stone
as it sinks to the bottom of a water-jar.
Teach us the tug of a bird catcher's net,
the nibble of mice teeth at the edge of our dreaming sleep.
Parables of want, parables of wanting.

But out from the happy cave, the lair, the jungle haunt –
straight into the taunts of the schoolbook.
Donkey. Monkey. Eats like a pig. Sweats like a horse.
Dogbreath. Birdbrain. Snake in the grass. Ass.
Teach us kindness, oh animal-wise,
teach us love. Ruts like a bull. *She? Oh she's a bitch* …

The poem has caught Menna Elfyn's eye.

Menna Elfyn: I started to translate it and then realised that we don't have all these animals in Welsh! But I love the poem, so I turned some of them into animals from the Mabinogi …

I hear the rumble of approving voices from both the Welsh and Indian contingents.There is no discernible objection to the process of repossessing a poem in another language through this robust form of translation, and stricter, more literal approaches seem to have already been left at the door.

… Mae gan hyd yn oed deulu'r wenci hyll ei einioes.
Y fronwen, llygod mawr a sgyncs. *Am fwlsyn, fe 'dawes e hi*.
Yr iaith Gymraeg yn camddefnyddio anifeiliaid,
y bod dynol anifeilaidd, ffiaidd, chwedlau dynol.
Mulod y Mabinogi, o! fel y carwn hwy,
ceirw'n siarad â'r dylluan a'r ddrudwy ffeind,
ac eto'r Twrch Trwyth ar ffo,

a'r morfil, lluniau holl ddreigiau coch fy mhlentyndod.
Rhoesom ein teithi meddwl iddynt
a disgwyl dysgu o'u ffyrdd …

The relevance of the great boar of Arthurian legend, 'y Twrch Trwyth', is explained, along with the Mabinogion's 'ceirw'n siarad â'r dylluan' (deer talking with the owl) and 'drudwy ffeind' (kindly starling). Nonetheless, Menna notes that she is not fully at ease either with the fact that she had to 'make tricks with different animals,' or the use of 'yr iaith Gymraeg'.

ME: I've said that the Welsh language use, misuses, abuses the animals, but I wonder whether I should put 'languages' to make it more universal, because it seems very specific to English in the original.

Sampurna disagrees, as she would also refer idiomatically to animals in a derogatory way in Bengali. Menna notes that the same is true in Welsh, as animals do not generally fare too well in the violent tales of the Mabinogi. Her 'y dylluan' (the owl) for Sampurna's 'crows' refers to Blodeuwedd's punishment at the end of the Fourth Branch of the Mabinogi. A similar reference to violence towards women is made in Branwen's 'drudwy' (starling), an indirect translation of Sampurna's reference to the unusually kind nature of birds with black plumage. Yet, it is interesting that Menna does not refer conversely to Efnisien disfiguring Matholwch's horses at the beginning of the Second Branch, or to the gruesome fate of foals at the hands of Annwfn's monsters in the First Branch. Three options gradually emerge in conjunction with suggestions made by other poets: 'yr iaith Gymraeg' (the Welsh language), 'yr iaith Saesneg' (the English language) or simply 'iaith' (language). The point is made that all languages can be equally vicious in their use of animals. Sampurna concedes that the poem in translation has already travelled far from her original starting point, and that 'if you want to make it fit the Welsh language you'll have to decide whether it is fair to say that it uses animals in this way.' Only when she expands upon her cultural relationship with animals does it emerge that for her, 'the English language' simply represents language in its widest universal sense.

SC: There's a cultural difference here, because when growing up the native tales actually use animals as models of human behaviour. So a lot of the time they're used as stereotypes – for example, the wise monkey king is a very old, wise being. In English it would be a very bad thing to say that you were behaving like a monkey, yet in Indian culture a monkey is a revered creature. So there is a cultural disconnect, which is essential

to this poem. I grew up with this love of animals and the way they would teach us things about living – because the tales do that, they teach us how to live, how to think – but then I thought about the English language, and how we use animals in daily speech. So there's a slight divide between the language of the poem and the place of my childhood, which is almost pre-language and which had a much friendlier attitude towards animals. Somehow, if that rift comes through in the translation, it would be more essential than naming the language, because it's about the rift between your primitive state and also your human state…

Voices mingle, words intermix and Menna pens a considered amendment. Yet the act of pinpointing meaning does little but open a door upon an even wider gallery of words, and more readings abound as the discussion moves on to other poems. Birdsong sways in from the garden through an open window.

*

Satchidanandan is speaking. His voice weaves over vowels and under consonants like gurgling water between stones in a mountain stream. The legendary poet from Kerala in south-west India is reading his poem 'Stammer', which he has translated into English from Malayalam :

Stammer is no handicap.
It is a mode of speech.

Stammer is the silence that falls
between the word and its meaning,
just as lameness is the
silence that falls between
the word and the deed.

Did stammer precede language
or succeed it?
Is it only a dialect or
a language itself?
These questions make
the linguists stammer.

Each time we stammer
we are offering a sacrifice
to the God of meanings.

When a whole people stammer

stammer becomes their mother-tongue:
+just as it is with us now …

ME: I've translated 'Stammer', says Menna, because I also have a poem about a malediction, a speech impediment.[2] When I was young I couldn't say my 'r's. In English it doesn't matter, but in Welsh… As I was a culprit of that impediment, 'Stammer' speaks to me. In Welsh it's 'atal-dweud', so I play on the word 'at-', 'atal', a bit more, perhaps, than the English does …

… Atal dweud yw'r distawrwydd a ddisgyn
rhwng gair ac ystyr,
fel y bydd cloffni'n ffordd
o ddisgyn yn ddistaw
rhwng gweithred a gair.

Ai rhagflaenydd iaith ydoedd,
neu ei ddisgynnydd efallai?
Ai tafodiaith
neu iaith arall yw?
Cwestiynau fel hyn sy'n cecian
yng ngheg ieithydd.

Bob tro y bydd herc ar leferydd,
cynnig offrwm a wnawn
i Dduw'r holl ystyron.

Pan fydd gwerin gyfan yn floesg,
daw'r dweud yn famiaith:
fel ag y mae inni'r awron …

Karen Owen, a poet from Pen-y-groes in Gwynedd, notes that the letter 't' poses a significant problem for those who suffer from stammer, therefore the 'atal dweud', with its staccato first syllable and irregular stress pattern (as most Welsh words are stressed on the penultimate syllable), seems to serve a wider purpose than the fluid sounding 'stammer'. Some would also find Karen's name difficult to pronounce, as 'k' can be a similar stumbling-block.This manifests itself in Menna's 'cecian' (to stammer), and I'm reminded of Dafydd ap Gwilym's retort to Gruffudd Gryg in their infamous 'ymryson':

Cuc cuc yn yfed sucan,
Ci brwysg yn llyncu cyw brân.

A glug glug noise like someone drinking gruel,
or a drunken dog swallowing a crow chick.[3]

As Gruffudd Gryg's epithet suggests, the poet from Anglesey suffered from a stutter and his voice was therefore 'cryg' (hoarse). Dafydd, whose Ceredigion accent would have accentuated the tonal difference between himself and his fellow-poet from the north, uses the onomatopoeic word 'cuc' to represent the sound of drinking, but also to echo the guttural sounds emitted by someone who suffers from a stammer. In the overwhelmingly oral culture of the fourteenth century Gruffudd's vocal discord would have been at great odds with the essence of his poetic medium, namely 'cynghanedd' (harmony), yet his vigorous reply to his tormenter is that his stammer vanishes as soon as he begins to perform his poetry in front of an audience. Indeed, there is even a suggestion that Gruffudd considered his stammer to be a virtue of sorts, an 'angerdd' (talent),[4] which sits well with Satchi's reimagining of stammer as a 'mode of speech'.

As Satchi reads his original poem in Malayalam an onomatopoeic element is evident in his native word for 'stammer', which clings to his throat initially and then erupts in a premature 'c' sound, yet this element seems to be almost completely absent from his English translation. 'Stammer' rolled effortlessly off his tongue – indeed, I detected pleasure in his voice as he repeated the word over and over, eight times in all, each time further accentuating the open '-a-' as it landed softly on the murmuring '-m-'. It is a world away from 'cuc cuc' and 'cecian', yet Menna's translation seems to have complemented the Malayalam original without knowing it. The English translation's almost over-dependence on the word 'stammer' is also checked in the Welsh version, as Menna refrains from using 'atal dweud' and instead chooses 'cecian' (to stammer), 'herc ar leferydd' (vocal limp) and 'bloesg' (faltering) as a way around the discord it creates. Just as stammer accentuates language and draws attention to its complexities, Menna's paraphrasing of the word acknowledges the sufferer's efforts to circumnavigate consonants and syllables in search of meaning. It also cunningly exemplifies Satchi's closing statement on the multifariousness of language:

God too must have stammered
when He created man.
That is why each of man's words
carries several meanings.
That is why everything he utters,
from his prayers to his commands,
stammers
like poetry.

*

Fragments of other discussions remain, scraps of half-formed ideas and queries which trail off into a throng of voices and intermittent laughter. My computer in Aberystwyth houses my own translations of Indian poems to which I will return again over the following months, honing lines and testing words as discussions continue via email.Yet the residency at Ty Newydd demonstrates the continuing importance of direct debate and discussion centred solely on the intricate processes of translating. The free wheeling openness of face-to-face group conversation leads poems down unexpected bye-ways which are often out of bounds in the unavoidably staccato forum of email discussion. Furthermore the vocal aspect is invaluable as a way of grounding interpretations of a poet's words in his or her own unique sound, for even words which appear familiar on paper almost always turn out to be complete strangers when spoken by an unfamiliar tongue.The universality of English is therefore countered and occasionally re-defined as a bridging tool which paradoxically accentuates plurality of meaning. In the constant tumult of everyday life which little acknowledges the importance of reassessing words in all their meanings, such rare opportunities to counter uniformity of mind are to be treasured.

(Reprinted with permission from *Poetry Wales:*
www.poetrywales.co.uk)

❑

Notes

1. The residency at Ty Newydd was part of the India-Wales Writers' Chain 2010–12 project and was funded by the British Council, Celfyddydau Rhyngwladol Cymru/ Wales Arts International, Llywodraeth Cymru/the Welsh Goverment, Cyfnewidfa Lên Cymru/Wales Literature Exchange, Llenyddiaeth ar Draws Ffiniau/Literature Across Frontiers, Ty Newydd and Hay Festivals. Welsh poets Menna Elfyn, Karen Owen, Hywel Griffiths and I translated the work of three Indian poets, Sampurna Chattarji (from the original English), Robin Ngangom (from English translations of poems in Manipuri) and K. Satchidanandan (from English translations of poems in Malayalam). Welsh poetry was also translated by the Indian poets into Bengali, Manipuri and Malayalam respectively, by way of English translations. I would like to thank Sampurna, Satchi and Menna for permission to publish translations of their work, and also to Sioned Puw Rowlands and Nia Davies from Cyfnewidfa Lên Cymru/ Wales Literature Exchange, and Alexandra Büchler from Llenyddiaeth ar Draws Ffiniau/Literature Across Frontiers, for facilitating the residency.
2. See 'Nam Lleferydd' in *Merch Perygl*, ed. Elin ap Hywel (Gwasg Gomer, 2011), pp. 194–5; translated as 'Malediction' by Nigel Jenkins in *Cusan Dyn Dall: Blind Man's Kiss*, Menna Elfyn (Bloodaxe Books Ltd., 2001), pp. 58–61 (see also *Perfect Blemish: Perffaith Nam*, Menna Elfyn (Bloodaxe Books Ltd., 2007), pp. 129–30).
3. See dafyddapgwilym.net, poem 30, lines 41–2.
4. See ibid. poem 25, lines 25–8.

Sampurna Chattarji

Homecomings

In 'One or Two Things about Home', a long poem I wrote some years ago, there is this line — "Which journey ends the way you imagine?" I was writing about the Hungarian Csoma de Körös who set out with the intention of discovering who the Hungarians originally were and instead ended up in Tibet, authored the first Tibetan-English dictionary and gave the world a codified Tibetan grammar. The figure of Korös intrigued and haunted me, perhaps more so because he died in Darjeeling, the place I grew up. In the poem — a meditation on what home might mean — the figure of Korös was not only metaphoric but very real. Thinking about my own journey through the terrain of translation brings Korös back to me, reminds me of the power of the unplanned, the fruitfulness of the detour.

I had never intended to be a translator. In 1999 I quit advertising to write fiction and poetry, full-time. That was all and that was enough. One afternoon in 2002, I was seized by the desire to translate a few poems by Sukumar Ray, simply as a challenge to see if I could bring into English (the language that I write in) the energy and joy of the poems I'd loved from childhood. Always an anglicized child (much to the despair of my parents), *Abol Tabol* was the one Bengali text that I loved without reservation. These poems were part of everyday conversation. *"Huko-mukho hangla, bari tar Bangla", "Tyash-goru goru noy, asholete pakhi shey", "Gondho shuke morte hobe, ey abar ki ahlad!", "I don't care kana-kori, janish ami sandow kori?"* — were lines we said to each other, sometimes apropos of nothing, simply because they felt right, because they made us happy, connected us like a private jargon, a familial thing. As a little girl, long before I could read, I had heard my elder brother — recorded on spool by my father on his trusty Grundig — reciting 'Shoth Patro' in his sweetly-solemn seven-year-old voice. Sitting down to translate a few of these old favourites didn't feel like a serious enterprise, just fun, a pleasant diversion, a familial thing. The serendipity

with which the poems ended up in the hands of the then-Puffin editor at Penguin is a story that shall be told another time. For now, suffice it to say that when she asked me if I would consider doing a book, I said — without pausing to consider — "Yes."

In hindsight, it was a moment of breathtaking hubris, to believe that I had it in me to translate one of Bengal's best-loved, most-gifted writers. I was, in that moment, the "happy fool" of Ray's title poem 'Abol Tabol' — "Come happy fool whimsical cool/ come dreaming dancing fancy-free." I wouldn't have had it any other way. It was an absolute lack of fear and an equally absolute love for the text that made my first experience of translation so rewarding. I enjoyed bringing the bounce, the wise-crackery, the tomfoolery, the endlessly inventive wordplay, the sounds, the satire, the impeccable rhymes, the limberness of Sukumar Ray's Bengali poetry and prose into English. At times I despaired over the limitations, the formality, the closed fist of English. And then I rejoiced when I felt I had broken through those limitations with solutions that created the *effect* that Ray's originals had. The effect on the eardrum, on the grey cells, on the funny bone.

Oddly enough — considering how many Bengalis have marvelled at my courage (my foolhardiness!) in translating their untranslatable inimitable beloved Ray — I felt certain, surefooted, at ease. The naming of characters and the transition of puns, these were two potentially tricky areas, which I solved with a daredevil trust in instinct, matched with a natural penchant for rhyme that served me well in translating the poems. As I mention in my Translator's Note, if the original was a pun on a word within a word I tried to find an English counterpart that conveyed the same impression rather than the same meaning. If the Bengali wordplay depended on multiple meanings, then I attempted to locate an equally versatile English word on which to spin off. Ditto for uniquely Bengali idioms. I hadn't yet read Umberto Eco's *Mouse or Rat: Translation as Negotiation.* But already, that's what I was doing. I hadn't read Robert Bly's *Eight Stages of Translation.* But already I was aware that what I wanted was the "living tone", so that in English the lines could be spoken with what Bly calls the "fragrance" of someone living in the present moment. When my translation of *Abol Tabol: The Nonsense World of Sukumar Ray* (Penguin/Puffin 2004) moved, in just four years, to the International Puffin Classics list, re-titled *Wordygurdyboom*!, I felt a sense of amazement, accompanied by gratification. This was where Ray had always belonged. I was happy to have played the unwitting medium in that crossing.

I wish I could say that my next foray into translating Bengali poetry was sane, premeditated, planned. Not so. My fascination with Joy Goswami's

Surjo-Pora Chhai (Ashes, Burnt by the Sun) began in early 2005. My father had a copy which I casually browsed through while on holiday in Kolkata, only to be riveted by the compelling images I found within these short, untitled, often disturbing poems. I took the book back with me to Mumbai and did what I had done with Ray, went about translating a few, just to see what they might sound like in English. The next logical step seemed to be to share them with the poet, which I did, not really expecting a response. To my surprise and delight, Joy Goswami wrote back. That was the beginning of a series of incredible conversations that has led to many more translations, which will soon be published as a book.

No poetry could have been more radically different from Sukumar Ray's than Joy Goswami's. *Surjo-Pora Chhai* was a chronology of intensely imagistic, darkly surreal and elliptically personal episodes. Looking back, I now realise that for me each poem was a space I had to enter with a kind of deliberate absorption, as if the only way to transmit some of the work's original intensity was to impose it on myself. Joy Goswami's economy of phrasing, potency of image, accuracy of emotional and psychological observation demanded that I summon up a similar tonality, an equal precision. More often than not, that happened rather swiftly. It was in his playful, mysteriously comic, allusively mythological poems that I found myself challenged to do more than be faithful to the original. For all their visual and aural lightness, the poems in *Surjo-Pora Chhai* carry the weight of multiple meanings. Some of those inevitably fell through the net of translation. Sometimes in Bangla one word would open up an entire universe, culturally. So the word *'oshtabokro',* which refers to an ancient sage whose body was misshapen in eight places, would have to be — unless I wanted to burden the natural flow of Joy-da's Bangla with complicated phrases — no more than 'deformed'. Sometimes, sound-words had to go. In *"Renu ma, tomar ghorey tokhok dhukechhey/ tok-kho, tok-kho — taar daak",* an attempt at duplicating the effect in English would only dwindle into farce. Hence I stayed with "crawling in through a crack", letting a spot of alliteration create a sound-pattern which, although a ghost of the original, was better than killing it altogether.

In one of my favourite examples of the poet at play, Joy Goswami writes, *"Aaj ki nishchit ki bidyut hi horin ei doud/ Ki prantor, ki udey jaowa dhulo ei haath// Ki moyur ei nrityo".* The phrase *"Ki moyur ei nrityo"* enchanted and exasperated me in equal measure. In Bengali, the adjectival use of the noun *'moyur'* to describe the sheer flamboyance and colour of the dance was superbly effective. In English, the same attempt sank like a stone. The poem seemed to flounder at just that one seemingly-impossible phrase. Until finally,

I discovered in the labyrinths of a thesaurus the wonderful word *'pavian',* used to describe a stately 16th century Spanish dance, so named on account of its resemblance to the movements of a peacock. That was it. The poem resolved itself, hinged as it were at the very same line that had pushed me to despair:

Today how certain how sudden how deer-swift this race
How vast, how blown-away-sand this hand

How pavian this dance

How well-deep how closed-room how tongue-out this envy
How inevitably grave-like each hole
And each persistently-pursuing ghoul how suddenly sunk

Today how urgent this verse
Which even the devil would not dream of buying

Portmanteau words likewise called for inventive solutions. In the pull-and-push of choices, *'Gacherajonmandho'* transmuted into the less-impressive but functionally felicitous 'Blindborn trees', while *"Nokhchonchupaloker dhongsho oboshesh"* slid easily into "the wreckage of clawbeakfeather".

With Joy-da, each poem was a puzzle to me, an enigma, a hieroglyph that translation alone would unlock. When I translated W.N. [Bill] Herbert's poem 'Hieroglyphic' into Bangla in the preparatory stages before a translation workshop in December 2010, what an unexpected, unsettling kinship I found between Joy-da's work and Bill's work. Unsettling only to me, who had translated Joy-da into English, and was now translating Bill into Bangla, looking for the word that would be "exact and unmerciful", that would be "synonymous/ with truth" [I quote from my poem 'Translations']. 'Hieroglyphic' was a poem speaking to me about the process that I had thought was personal and secret, a poem that would take me into the territory that unnerved me most — the territory of my mother tongue. So, as I puzzled over whether the line *"shey/ pracheen Mishorer chhaya-noksha, chitrolipitey/ shey bojhay 'dhongsho'"* needed the word *'bojhay'* in order to be faithful to "he is/ old Egypt's silhouette, the pictogram/ for 'kill'" — I was discovering the limits of my other language, my other self. Only through translation could I hear myself speaking in Bangla again, only by following the lines put there by someone else could I find my way back home.

It was shocking, discovering in January 2009, that I had so much Bangla inside me. Where had it been all these years? It was my first translation workshop, in Neemrana, organised by Writers' Chain, British Council of India, Wales Arts International, Siyahi and Literature Across Frontiers, and I was the English poet from India, the counterpart to Matthew Hollis from the UK. My job was to look at the English translations, edit them, fine-tune them. But one night, I found myself sitting down with the Irish poet Gearóid Mac Lochlainn's poem 'Barraíocht' and translating it. As I wrote 'Ami Oshustho' in a kind of seamless Benglish patois, finding equivalents with absurd effortlessness, I felt a kind of delirium. This was not real, this was the result of too much alcohol *("Aamar glashey beshi beer"),* too many conversations, too much hilarity, affinity, madness. "Too much of a muchness is too much for me/ My fire is on fire and I'm sick."

As it happens, it was more than momentary delirium. Since then I have translated many of Gearóid's poems into Bangla, running them past Joy-da for his expert opinion and advice, hoping to get them published soon. As the Scottish poet Meg Bateman who was at Neemrana with us said, it took an Irishman to make a Bengali out of me. It changed me fundamentally, organically, it disembodied and shook me, it made me feel "like someone else, like someone else moved in, speaking a lingo that shocks her, all those words she thought she'd forgotten" [I quote from my poem 'Five Different Words for Love' which I wrote after the workshop]. That thinly-disguised 'she' was me and this was the first English poem in which I used Bangla words, and left them un-translated.

I invoke the past only to explain how I came to be here, in this strange land. Since then I have taken part in four such workshops, one in Pondicherry (December 2010), one in Kerala (November 2011) and two in Wales (June 2011 and March 2012). With the exception of the workshop in March 2012, which was for translating children's fiction, all the others were poetry workshops. Before the Pondicherry workshop, when Alexandra Büchler, director of Literature Across Frontiers, outlined by email her goal for translations into a host of languages and "perhaps also Bengali, Sampurna's language", there was no "perhaps" in my mind. I knew I would, I knew I could. It was extraordinary, translating the poetry of the Swiss-German poet Raphael Urweider, the Welsh poet Zoë Skoulding (who writes in English), the French poet Roselyne Sibille and the bi-lingual English-Scottish poet Bill Herbert into Bangla.

In Bill's 'Hieroglyphic' I found myself stumbling over one word — 'hawk'. My translation of it was '*shyenpokkhi'* but to my ear, it didn't have the sharp, keen clarity of the word 'hawk' in English. When I discussed this with Joy-

da on New Year's Day 2011, he had the perfect word for me — *'baajpakhi'*. Over the telephone, he quoted the opening line of his poem *'Lohar baajpakhi, tomakey'* ('To you, iron hawk') — *"Etey aamar ghoar bhangbe na lohar baajpakhi"* ("This will not break my deep sleep, iron hawk").

Not only does *'baaj'* mean hawk or falcon, it also means thunderbolt or bolt of lightning. The poem Joy-da quoted from is in his 1995 collection *Bojrobidyut-Bhorti Khata (Notebook Full of Thunder and Lightning)*. The hawk falling like a bolt of lightning out of the sky as it pounces on its prey, how perfect for Bill's poem. Sharp, clean, fatal. I thanked Joy-da, not just for the word, but for taking me back to a poem in which I could see traces of *Surjo-Pora Chhai*. Here were my two worlds coinciding, collaborating, each illuminating the other. No wonder Bill's beautiful long poem 'Santiniketan' seemed to me like a sign from the universe. A sign telling me that home comes to you in different ways, no matter how far away you may have gone. Santiniketan — familiar to me from my grandfather, father and uncle's deep associations with the place — gained new life for me via my Bengali translation of Bill's English poem.

When translating the poetry of young Welsh poet Eurig Salisbury, I found another kind of homecoming. My first version of his poem 'Cynghanedd Lesson' — a poem about teaching the intricate and traditional metrical form of Welsh poetry to school kids — was based on the non-rhymed, non-metrical English translation and so was non-rhymed and non-metrical in Bangla. But after hearing Eurig read it, and after seeing the patterns in the poem, I realised I could translate it into the kind of rhymed verse that my favourite Sukumar Ray might have written. So while attempting to be faithful to a very foreign form, I ended up using a very intimate form. It felt right, and, as John Ciardi, one of the translators of Dante's *Divine Comedy* says, "what can any poet trust more than that feel of the thing?"

I am often asked on panel discussions if translation affects my own writing. My answer is, how can it not? Sometimes working on a translation into English gives me a new poem, like the long poem 'Translations' that I dedicated to Joy Goswami while working on *Surjo-Pora Chhai*. Sometimes, just the translation isn't enough, one feels like writing a response in like-spirit, as happened when translating Raphael Urweider's poems 'Self Experiments'. My feni-poem, a desi-riff on Raphael's vodka-poem, is both homage and celebration. Sometimes, a word from a language I am translating into Bangla gives me a new poem in English. One such word is the Welsh word 'hiraeth' which translates as nostalgia, or a specifically haunting longing. For me the word is resonant in a way I can hardly explain. And so I have begun a series of poems in order to inhabit that word, to understand the

complex cluster of feelings it evokes in me, a Bengali writing in English. The link I feel between our languages, Irish and Bangla, Welsh and Bangla, the sound-affinities, the way they feel rich and comforting on the tongue. The way I can read Welsh and Irish, pronounce them perfectly, not via the Roman script but by transcribing the sounds as they are spoken into the Bengali script. At the poetry workshop in Wales, of the seven poets, three of us — Karen Owen, Menna Elfyn and I — discovered we each had a poem on 'Salt'. Karen's was a four-line englyn, which I translated twice, first into free-verse, then into rhyme. Menna's was a poem-in-progress that the workshop made her complete. Menna and I had both written poems about belly-buttons! The young poet Hywel Griffith's fascination for rivers made me, back in Mumbai, re-translate two Bengali poems from 'The Golden Boat', a collection of River Poems edited by K. Satchidanandan, who was a vivid and vital presence at both the Wales and Kerala workshops. These translations were a gift to myself as much as to Hywel, another way home.

And then life plays another of its wonderful games. When Welsh bard Twm Morys told me this March how he saved a book on Tibetan grammar from a band of marauding monkeys when he visited Darjeeling years ago, I couldn't believe my ears. Was the book by Csoma de Korös, I asked him, excitedly. He said he'd show it to me. It was edited by a Thomas Lewin, a *Manual of Tibetan* with gilt lettering on its beautiful red cover, but there in the introduction was Lewin's acknowledgment of the seminal work done by Csoma de Korös! And there at the beginning of Exercise 44 was the question: "Do you understand Bengalee?" Was this a coincidence, any more than the fact that the one poem of mine that Twm translated into Welsh was this short poem about Kolkata?

And this will be the hollow tree, the stricken stone to which you speak.
And this the wall on which the blue sickle, the red hammer will break.
This man, his legs useless, will be the summer evening you remember most.

I don't think so. As Burroughs wrote "there is no such thing as coincidence". Of all the inexplicable magical synchronicities, translation has been the most inexplicable, the most magical, the most enriching as it brought me full circle from Bangla to English back to Bangla again.

❑

लेखक मंडल

आचार्य रामचंद्र शुक्लः हिंदी के सुप्रसिद्ध आलोचक और इसके वर्तमान रूप के संस्थापकों में से एक।

जान ड्राइडन (अनु. अरविंद कुमार)ः प्रतिभाशाली अंग्रेजी कवि, साहित्यिक आलोचक, अनुवादक और नाटककार।

उदयन वाजपेयीः हिंदी कवि, निबंधकार, लघुकथाकार और पटकथा लेखक।

डॉ. पूरनचंद टंडनः दिल्ली विश्वविद्यालय में हिंदी प्रोफेसर।

के. सच्चिदानंदनः प्रमुख कवि, आलोचक, शिक्षाविद्, संपादक, अनुवादक और नाटककार। मलयालम और अंग्रेजी में लेखन।

प्रो. कृष्ण कुमार गोस्वामीः भाषा और अनुवादविद्। पूर्व प्रोफेसर कें.हिं.सं.। सलाहकार सी-डैक, भारत सरकार।

अपूर्व नारायणः कुंवर नारायण के बेटे। कवि और भौतिकी, प्रबंधन, दर्शन और विकास में रुचि।

विनोद शर्माः प्रख्यात कवि।

प्रो. रीतारानी पालीवालः निदेशक, स्कूल ऑफ़ ह्यूमैनिटीस, इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय।

अशोक वाजपेयीः सुप्रसिद्ध हिंदी कवि, निबंधकार, साहित्यिक और सांस्कृतिक आलोचक।

डॉ. गंगा प्रसाद विमलः हिंदी साहित्य में अकहानी क्रांति के जन्मदाता, सुप्रसिद्ध कवि, कहानीकार, उपन्यासकार और अनुवादक।

डॉ. रवि एस. वर्माः मलयालम कवि।

डॉ. भोलानाथ तिवारीः भाषा और अनुवाद के प्रतिष्ठित विद्वान। पूर्व प्रोफेसर, हिंदी विभाग, दि.वि.।

प्रो. पी. आदेश्वर रावः भाषा और अनुवादविद्।

अशोक चक्रधरः सुप्रसिद्ध हिंदी कवि और लेखक।

संतोष खन्नाः भारतीय अनुवाद परिषद से आरंभ से संबद्ध और विधि भारती पत्रिका की संपादिका।

डॉ. नगीन चंद सहगलः अनुवाद के स्थापित विद्वान और पूर्व प्रोफेसर, हिंदी विभाग, दि.वि.।

डॉ. ललित मोहन बहुगुणाः भाषा वैज्ञानिक, अनुवादविद् एवं पूर्व प्रोफेसर कें.हिं.सं.।

प्रो. तिप्पेस्वामीः बहुभाषा व अनुवादविद्।

ललित कुमारः कवि और इंटरनेट पर कविता कोष के संस्थापक। हिंदी और अंग्रेजी में लेखन।

यूरिग सैलिसबरीः युवा कवि। वैल्श में लेखन।

संपूर्णा चटर्जीः कवियत्री, उपन्यासकार और अनुवादक। मूलतः अंग्रेजी में लेखन।